An International Registered Peer Reviewed Bilingual Research Journal

SATRACHEE

ISSN 2348-8425

सत्राची

वर्ष 12, अंक 41,
जुलाई-सितम्बर, 2024

संपादक
आनन्द बिहारी

प्रधान संपादक
कमलेश वर्मा

SATRACHEE

ISSN : 2348-8425

सत्राची

मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान की पूर्व समीक्षित त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष 12, अंक 41, जुलाई–सितम्बर, 2024

प्रधान संपादक
कमलेश वर्मा

संपादक
आनन्द बिहारी

समीक्षा संपादक
आशुतोष पार्थेश्वर, सुचिता वर्मा,
प्रवीन कुमार यादव

सह-संपादक
जयप्रकाश सिंह, हुस्न आरा

सहायक संपादक
सुशांत कुमार

सलाहकार समिति व समीक्षा मंडल
अनीता राकेश, प्राध्यापक, हिंदी विभाग, जे.पी.विश्वविद्यालय, छपरा।
मुक्तेश्वर नाथ तिवारी, प्राध्यापक, शांति निकेतन, प.बंगाल।
ब्रज बिहारी पांडेय, असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी, ओरिएंटल कॉलेज, पटना सिटी।
पुष्पलता कुमारी, एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान, म.म.कॉ., पटना।
राजू रंजन प्रसाद, असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास, मुजफ्फरपुर।
नीरा चौधुरी, प्राध्यापक, संगीत, पटना विश्वविद्यालय, पटना।
अरविन्द कुमार, एसोसिएट प्रोफेसर, संगीत, पटना विश्वविद्यालय, पटना।
नीतु चौहान, सहायक प्राध्यापक, शिक्षा विभाग, पटना वीमेन्स कॉलेज, पटना

❑❑❑

SATRAACHEE

Peer Reviewed Research Journal

मूल्य : ₹ 250

सदस्यता शुल्क :

पंचवार्षिक : 5,000 रुपए (व्यक्तिगत)
: 10,000 रुपए (संस्थागत)

आजीवन : 12,000 रुपए (व्यक्तिगत)
: 20,000 रुपए (संस्थागत)

बैंक खाते का विवरण :

SATRAACHEE FOUNDATION,
A/c No. 40034072172, IFSC : SBIN0006551,
State Bank of India, Boring Canal Rd.-Rajapool,
East Boring Canal Road, Patna, Bihar, Pin: 800001

Google Pay: 9661792414

© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशित रचनाओं से संपादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

संपादन/प्रकाशन : अवैतनिक/अव्यावसायिक

प्रकाशक : सत्राची फाउंडेशन, पटना

संपादकीय संपर्क :

आनन्द बिहारी
कला कुंज, दूसरा तल्ला
बाजार समिति रोड, बहादुरपुर, पटना, पिन : 800016

Website : http://satraachee.com
http://satraachee.org.in

E-mail : satraachee@gmail.com

Mob. : 9661792414, 9470738162 (A.Bihari.)
: 9415256226 (Kamlesh Verma.)

इस अंक में...

संपादकीय

05 :: संपादन-कर्म — *कमलेश वर्मा*

आलेख

07 :: केरल 'मॉडल स्टेट' कैसे बना — *अभय कुमार*

25 :: उन्नीसवीं-बीसवीं सदी का बहुजन नवजागरण और हिंदी साहित्य — *दिनेश कुमार पाल*

40 :: तैयार कवि का विस्तीर्ण काव्य-वितान — *मयंक*

45 :: हिंदी कविता में किसान — *मृत्युंजय कोईरी*

54 :: रूसी क्रांति और 'कर्मभूमि' उपन्यास : स्त्री सशक्तीकरण और सामाजिक परिवर्तन — *श्रद्धा सिंह*

59 :: मंजिल उन्हें मिली जो शरीक-ए-सफर न थे (मैला आँचल के विशेष संदर्भ में) — *अवनीश पांडेय*

67 :: समकालीन हिंदी कहानी और हाशियाग्रस्त अस्मिताओं का विमर्श — *शुभम मोंगा*

74 :: दिनकर की दृष्टि में आधुनिकता — *आरती कुमारी*

79 :: पालि धम्मपदट्ठकथा का कबीर पर प्रभाव — *कृष्ण कुमार साह*

86 :: दिव्यांगता आधारित हिंदी सिनेमा में संगीत का जादू — *सरिता कुमारी, डॉ. कुमारी विभा*

92 :: भारतीय स्त्री और उसकी शिक्षा — *के. शक्तिराज*

97 :: नदी घाटी के किनारे सभ्यताओं का उदय और विकास — *राजेश कुमार यादव*

100 :: हिंदी कोश निर्माण पर पुनर्विचार एवं संभावनाएँ — *रानी सिंह*

105 :: डॉ. भीमराव अम्बेडकर के सामाजिक न्याय दर्शन का विश्लेषणात्मक अधययन — *अनुभा श्रीवास्तव*

पूर्वोत्तर की लाली

111 :: अरुणाचली हिंदी कविता में बौद्ध धर्म-संस्कृति, 'स्मृति' और दोरजी लोन्पु की कविताएँ — *अभिषेक कुमार यादव*

मुजफ्फरपुर प्रसंग

117 :: बिहार के गाँधी : लक्ष्मीनारायण — *वीरेन नंदा*

पुस्तक समीक्षा

124 :: संस्कृति संवाद — *सर्वेश मिश्र*

शोधालेख

128 :: भूमंडलीकरण और समकालीन कविता – *नितेश उपाध्याय*

133 :: समकालीन हिंदी ग़ज़ल के सामाजिक सरोकार – *विजय कुमार*
डॉ. माधावी

140 :: उत्तर छायावादी हिंदी कविता की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि – *आभा गुप्ता*

144 :: पाणिनिकालीन भारत की अवधारणा एवं समसामयिकता – *रंजन कुमार त्रिपाठी*

❖❖❖

संपादन–कर्म

एक अंतराल के बाद 'सत्राची' का 41 वाँ अंक प्रकाशित हो रहा है। जीवन और जगत् की कठिनाइयों के बीच से लघु पत्रिकाओं को राह बनानी पड़ती है। इस बीच डॉ. आनंद बिहारी का स्वास्थ्य कुछ प्रभावित रहा। सबसे खराब अनुभव रहा केयर लिस्ट में शामिल होने पर। 'सत्राची' लगभग सवा साल तक इस लिस्ट में रही फिर बाहर कर दी गयी। जब तक लिस्ट में नाम रहा, हमलोग परेशान रहे। डॉ. आनंद बिहारी बेशुमार दबावों के बीच पत्रिका को सँवारते रहे! कुल मिलाकर यह अनुभव बहुत खराब रहा!

अच्छा हुआ कि केयर लिस्ट की पद्धति समाप्त हो गयी। अब शायद पत्रिका अपनी स्वाभाविक गति के साथ निकल सके! इस बीच हमारे नियमित लेखकों के कई लेख आये और केयर लिस्ट की बाढ़ में दबे रह गए। हमारी कोशिश होगी कि पहले की तरह हम फिर से पत्रिका के आकर्षक स्वरूप को प्राप्त कर सकें।

ऑनलाइन माध्यमों के विकास ने प्रकाशन को आसान बनाया है। मुद्रण की बढ़ती सुविधाओं ने पुस्तक प्रकाशन को सुगमता प्रदान की है। फलतः पत्र–पत्रिका–पुस्तक को छापनेवाले अब इतनी बड़ी संख्या में आ गए हैं कि कुछ भी अप्रकाशित नहीं रह गया है। इस सुविधा के कारण एक तरफ प्रकाशन के जनतंत्र का विकास हुआ है तो दूसरी तरफ प्रकाशन की सावधानियों में कमी आयी है। अखबार, पत्रिका और पुस्तक में प्रूफ की गलतियाँ बढ़ती जा रही हैं। अब ऐसे लोग समाप्त होते जा रहे हैं जो भाषा पर ध्यान देते हों! सोशल मीडिया पर लेखकों ने जब स्वयं लिखना शुरू किया तो एक बात देखने में आयी कि जिन लोगों की पुस्तकें प्रकाशकों के द्वारा भाषा ठीक करके प्रकाशित की जाती थीं, उनकी अपनी भाषा कितनी अशुद्ध है! इनमें हिन्दी के कई नामी लेखक भी शामिल हैं।

आश्चर्य होता है हिन्दी के प्रोफेसर के लेखन को देखकर! दिल्ली विश्वविद्यालय के एक प्रोफेसर ने अपनी कुछ किताबें प्रकाशित करवा ली हैं। वे सोशल मीडिया पर लिखते रहते हैं। उनके वाक्य प्रायः गलत होते हैं। इस तरह के कई प्राध्यापक हैं। राजकमल–जैसे बड़े प्रकाशकों की पुरानी किताबों को पढ़कर लगता है कि प्रूफ पर पर्याप्त ध्यान दिया जाता था।

मेरे पास पांडुलिपियाँ आती रहती हैं। वर्तनी की नियमितता के बारे में एक बार जे एन यू के एक प्राध्यापक (हिन्दी) से मेरी बात हुई, तो उन्होंने कहा कि सब चलता है। बनारस के एक लेखक से उनकी ही पाण्डुलिपि के सन्दर्भ में 'ने' के प्रयोग के बारे में बात हुई तो उन्होंने कहा कि प्रकाशक ठीक कर लेगा। कोलकाता के एक लेखक की प्रकाशित पुस्तक की भाषा के बारे में पूछा तो उनका जवाब था कि फल पर ध्यान दीजिए, पत्तियाँ गिनने से क्या फायदा!

गूगल जैसी सुविधाओं ने अनुवाद को ऊपरी तौर पर आसान बना दिया है। अब धड़ाधड़ अनुवाद हो रहे हैं। भारतीय और विदेशी भाषाओं के हिन्दी अनुवादों की झड़ी लग गयी है। कुछ लोग आज भी श्रम और प्रतिभा से इस काम में लगे हैं। ओमप्रकाश कश्यप का नाम विशेष रूप से लेना चाहूँगा जिन्होंने अनुवाद का काम खूब किया है और एकदम स्वाभाविक हिन्दी में! संजय कुंदन ने श्रेष्ठ काम किया है। वसुधा डालमिया ने भारतेन्दु युग पर श्रेष्ठ लेखन किया है मगर वह अंग्रेजी में है! राजकमल से उसका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुआ है मगर उसकी हिन्दी में स्वाभाविक प्रवाह नहीं है।

हिन्दी के प्रचार–प्रसार से संतोष होता है। मगर लापरवाहियों से चिंता होती है। ए आई के न जाने कितने रूप आ चुके हैं। वह सृजन भी कर सकता है और आलोचनात्मक या अनुसंधानात्मक लेख भी लिख सकता है। विषय बता देने पर कविता भी लिख देता है। बारीकी से पढ़िए तो उसकी अनियमितताएँ भी पकड़ में आ जाती हैं। हमने अपने कॉलेज की पत्रिका के लिए छात्राओं से रचनाएँ माँगी तो ज्यादातर ने गूगल का सहारा लेकर रचना जुटायी और लिखकर जमा कर दिया।

इन सब के बीच संपादन का काम कठिन हो जाता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की भाषा में थोड़ा बदलाव करके कहें तो कह सकते हैं कि ज्यों–ज्यों सभ्यता का विकास होता जाएगा संपादन–कर्म कठिन होता जाएगा और इसकी आवश्यकता भी बढ़ती जाएगी। आज की लेखकीय दुनिया सम्पादन से मुक्त होती जा रही है। मैं उस सम्पादक की बात नहीं कर रहा जो लेखकों को 'कृपा–पात्र' बनाना चाहता है। मेरा आशय उस संपादक से है जो प्रकाशन की सामग्री को यथासंभव निर्दोष और नियमित करके प्रकाशित करवाता है। 'हंस' और 'पाखी' जैसी अच्छी पत्रिका में भी भाषा के ढेर सारे दोष देखकर दुःख होता है।

सादर

कमलेश वर्मा

आलेख

केरल 'मॉडल स्टेट' कैसे बना

❍ अभय कुमार✡

1

पूँजीवाद लूटतन्त्र और झूठतन्त्र पर आधारित क्रूर, अमानवीय, शोषणकारी और मायावी व्यवस्था है। एक खास अर्थ में पूँजीवाद (फासिज्म और भी अधिक) शंकराचार्य के मायावाद या विवर्तवाद का अत्यन्त विद्रूप नमूना है। विवर्तवाद दो काम एक साथ करता है–– किसी वस्तु के यथार्थ स्वरूप को छिपाना और असत्य को ही सत्य के रूप दुष्प्रचारित करना। यद्यपि यह बात सामन्ती व्यवस्था पर भी लागू होती है, पर मीडिया और तकनीकी साधनों का विकास होने के कारण पूँजीवादी युग में अफवाह और झूठी खबरों को द्रुत गति से फैलाकर विद्रूप या जहरीला जनमत तैयार करना अत्यन्त आसान हो गया है। आज मीडिया एवं तकनीकी साधन झूठ और अफवाह फैलाकर विद्रूप तथा जहरीला जनमत तैयार करने के सबसे शक्तिशाली माध्यम हैं। कहना न होगा कि एक साथ ही सत्य को छिपाने और असत्य को ही सत्य के रूप में दुष्प्रचारित करने की मायावी कला में मीडिया और संचार-सम्बन्धी सारे तकनीकी साधनों को महारत हासिल है। केरल के विकास के यथार्थ को छिपाना और गुजरात के बारे में मिथ्या और मायावी खबरें फैलाना ऐसा ही विद्रूप उदाहरण है। मीडिया ने गुजरात के विकास के बारे में कितना धुआँधार अर्द्धसत्य, असत्य और उत्तर-सत्य गढ़-गढ़कर फैलाया, यह किसी से छिपा हुआ नहीं है। दूसरी तरफ केरल के विकास के बारे में इसी मीडिया-जगत् में एक तरफ भयंकर चुप्पी है, दूसरी तरफ केरल को बदनाम करने के लिए बिल्कुल बेबुनियाद और मनगढ़न्त बातों ('काल्पनिक' पद का प्रयोग मेरी नजर में उचित नहीं है, क्योंकि 'कल्पना' पद से रचनात्मकता की अर्थच्छटा विच्छुरित होती है; विध्वंस, नफरत, दंगा, गृहयुद्ध की प्रलयंकारिणी बारूदी ज्वाला भड़काने के कुत्सित उद्देश्य से फैलाई गई झूठी बात को 'काल्पनिक' कहना मुझे उचित नहीं जँचता है) पर आधारित 'द केरला स्टोरी' फिल्म का व्यापक स्तर पर प्रचार-प्रसार करने के लिए उस पार्टी की प्रान्तीय सरकारों के द्वारा टैक्स फ्री कर दिया गया है, जिस पार्टी की केन्द्र-सरकार के द्वारा खाद्य और पाठ्य सामग्री एवं जीवन-रक्षक दवाओं को जी.एस.टी के दायरे में डाल दिया गया था। दूसरी तरफ नेशनल क्राइम रिकॉर्ड ब्यूरो (एन.सी.आर.बी.) के आँकड़ों के अनुसार गुजरात में पाँच वर्षों (2016 से 2020) में चालीस हजार से ज्यादा महिलाएँ लापता हुईं। ये महिलाएँ कहाँ गईं, इनका क्या हुआ, इसके बारे में कुछ भी अता-पता नहीं है।[1] यह घनानन्द की पंक्ति 'पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हें धरनी में धसौं कि

✡ *असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी-विभाग, दयाल सिंह कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय।*

अकासहिं चीरौं' की कितनी भयंकर और क्रूर अर्थापत्ति है? यह है 'गौरवशाली' गुजरात (वाइब्रेन्ट गुजरात) मॉडल के नेपथ्य की असलियत की बर्बरता का छोटा, पर भयावह पहलू।

इस मायावाद या विवर्तवाद का दूसरा नमूना भी कम भयंकर नहीं है। जाति (कास्ट)-सम्बन्धी-चेतना वस्तुत: मिथ्या चेतना है, पर कैसी क्रूर विडम्बना है कि मिथ्या चेतना होने के बावजूद हजारों सालों से यह भारतीय समाज का कड़वा यथार्थ बना हुआ है। जेण्डर-सम्बन्धी भेदभाव (याद करें सिमोन द बोउवा का मशहूर क्रान्तिकारी कथन कि स्त्रियाँ पैदा नहीं होतीं, बनाई जाती हैं) भी मिथ्या चेतनाजन्य है, पर यह भी हजारों सालों से मानव-सभ्यता के इतिहास का कड़वा यथार्थ बना हुआ है। इसी प्रकार मिथ्या चेतना होने के बावजूद साम्प्रदायिकता आज भयावह यथार्थ के रूप में उपस्थित है।

सवाल यह है कि विकास क्या है, विकास की कसौटी क्या है? जिस क्षेत्र में चमचमाती हुई सड़कों एवं विशाल मॉलों के जाल के पैशाचिक अट्टहास के नीचे गरीबी, शोषण और उत्पीड़न की हृदयविदारक चीखें दबी हुई हों ('अट्टालिका नहीं रे आतंक भवन' - निराला), फव्वारों, स्वीमिंग पुलों, झूलों आदि की सुविधाओं से सज्जित पार्क की रंगीनी और 'चाक-चिक्य वैभव-विलास' के पीछे कुपोषण की खबरें दबा दी जाती हों, जहाँ दलितों, महिलाओं और विशेषकर अल्पसंख्यकों के प्रति भयंकर नफरत व्यापक स्तर पर रक्त-मज्जों तक में समा गया हो तथा साम्प्रदायिक हिंसा की सुनामी की लपलपाती हुई जहरीली और प्रलयंकारिणी लहरें बार-बार इंसानों और इंसानियत को लील रही हो, क्या उसे मॉडल माना जा सकता है? पूँजीवादी दलाल मीडिया ने इसे ही मॉडल के रूप में विज्ञापित एवं प्रचारित-प्रसारित करते हुए लोगों की चेतना में गहराई से धँसा दिया है। दूसरी तरफ उस केरल की चर्चा तक नहीं की गई, जहाँ आम अवाम का जीवन-स्तर ऊँचा है, साक्षरता की दर ऊँची है, दलितों, महिलाओं और अल्पसंख्यकों को हिंसा की ज्वाला में नहीं झुलसना पड़ता है, जहाँ सरकारी कर्मचारियों को मिलनेवाली पुरानी पेंशन-योजना बदस्तूर जारी है, जहाँ भूमि-सुधार को सम्यक् ढंग से लागू किया गया, जहाँ महाजनों के जाल से दलितों और गरीबों को बचाने के लिए कॉपरेटिव बैंक की स्थापना की गई, जहाँ किसानों और मजदूरों के लिए भी प्रोविडेंट फंड और पेंशन-योजना लागू है, जहाँ लोककल्याणकारी योजनाएँ सम्यक् ढंग से लागू की गई हैं, जहाँ सत्ता को दाँव पर लगाकर और अन्तत: गँवाकर शिक्षा में सुधार किया गया तथा दलितों और गरीबों के लिए विद्यालयों के कपाट को खोल दिया गया, जहाँ अन्तिम पायदान पर खड़े व्यक्तियों और समुदायों के कल्याणार्थ बहुत सारी नीतियाँ लागू की गई। यहाँ तक कि साम्यवाद के घनघोर विरोधी विश्व बैंक ने भी केरल को न केवल भारत के दूसरे प्रान्त, अपितु दूसरे देशों के लिए भी मॉडल माना है। विश्व बैंक ने केरल को दूसरे प्रान्तों के लिए प्रकाश स्तम्भ (लाइट हाउस) के विशेषण से विभूषित करते हुए दूसरे देशों के लिए भी इसे प्रेरणादायक, प्रासंगिक, अनुकरणीय और मॉडल बताया है। विश्व बैंक के अनुसार केरल के पास वैज्ञानिक सूचनाओं के भण्डारण की प्रभूत व्यवस्था, अच्छी परियोजनाएँ और मजबूत स्थानीय प्रशासन हैं– "What is happening in Kerala is of relevance to not just other states, but other countries too- Kerla has an efficient scientific information backup, good planning and strong local governance"।[2] यह अकारण नहीं है कि इस वर्ष सी.बी.एस. ई. में दसवीं[3] और बारहवीं[4] दोनों के परीक्षा-परिणामों में 99.91% अंकों के साथ केरल पूरे देश में सबसे ऊपर (टॉप) रहा। अनेक समाचार-पत्रों में इस खबर को भी छिपाया गया। मिसाल के तौर पर हिन्दी के 'हिन्दुस्तान' अखबार के दो पृष्ठों पर सी.बी.एस. ई. की बारहवीं की परीक्षा-परिणाम से सम्बन्धित कई खबरें छपी हैं, पर केरल की इस उपलब्धि का जिक्र तक नहीं किया गया है, जबकि एक खबर का शीर्षक है 'दावा : दिल्ली के सरकारी स्कूल अव्वल'।[5] केरल के प्रति मीडिया की यह उदासीनता क्या दर्शाती है? केरल के इस परीक्षा-परिणाम की तुलना गुजरात के

परीक्षा-परिणाम से करनी चाहिए। इतना ही नहीं, दूसरे प्रान्तों के परीक्षा-परिणामों से भी गुजरात के परीक्षा-परिणाम की तुलना करनी चाहिए। शिक्षा के साथ ही स्वास्थ्य, पोषण, गरीबी आदि मानदण्डों पर केरल और अन्य प्रान्तों के साथ गुजरात की तुलना करने पर उसके (गुजरात की) तथाकथित 'महाविकास' के 'ढोल की पोल' खुलकर सामने आ जाएगी। बहरहाल, विकास के बारे में अदम गोंडवी की ये पंक्तियाँ यहाँ कितनी समीचीन हैं–

कोठियों से मुल्क के मेआर को मत आँकिए
असली हिंदुस्तान तो फुटपाथ पर आबाद है

मायावी पूँजीवाद की मायावादी या विवर्तवादी करतूत का यह कैसा निकृष्ट नमूना है? वर्ग, जाति (कास्ट) और जेण्डर (अब साम्प्रदायिकता भी) की समस्याओं से जूझे बगैर क्या कोई प्रान्त 'मॉडल' बन सकता है? केरल की वामपन्थी सरकार ने इन तीनों के 'ट्रिपल एलाइंस' की नाभि पर एक साथ हमला किया। यह अकारण नहीं है जिस केरल में वर्ण-व्यवस्था बर्बरतम रूप में विकसित हुई, वहाँ दलितों पर होनेवाली हिंसा पूर्णत: समाप्त हो गई है? किसी क्षेत्र में दलितों पर होनेवाली संरचनात्मक जातिगत हिंसा का पूरी तरह से समाप्त हो जाना क्या उस क्षेत्र के सभ्यता के इतिहास की कम बड़ी उपलब्धि है? फिर भी 'मॉडल स्टेट' के रूप में केरल की चर्चा क्यों नहीं होती है?

2

व्यक्तिगत सम्पत्ति की उत्पत्ति और तद्‌जन्य विषमता ने शोषण और हिंसा के अनेक रूपों को जन्म दिया। ज्यों-ज्यों यह विषमता बढ़ती गई, शोषण और हिंसा की प्रकृति अधिकाधिक क्रूर, जटिल और बारीक होती चली गई तथा 'ज्यों केलन के पात-पात में पात' वाली उक्ति की तरह इसके भेदोपभेदों में भी वृद्धि होती चली गई। वर्ग, वर्ण, जेण्डर आदि से सम्बन्धित शोषण और हिंसा इनमें मुख्य हैं। वस्तुत: वर्ण और जाति भी वर्ग-वैषम्य का ही आदिम रूप है। प्रसिद्ध इतिहासकार रामशरण शर्मा के अनुसार, "शूद्रों की अशक्तताओं और वर्णप्रथा के ढाँचे को समझने के लिए बौद्धकालीन भौतिक परिवेश की समझ आवश्यक है। लोहे का बड़े पैमाने पर प्रयोग होने के कारण गंगा के मैदान खेती के लायक बनाए गए और पहले-पहल लोहे के फाल के उपयोग के कारण बड़े-बड़े खेत कायम हुए। खेती की जमीन का बँटवारा असमान हुआ और कुछ लोगों के पास इतनी अधिक जमीन हो गई कि वे उसे अपने कुटुंब की सहायता से नहीं जोत सकते थे। इसके लिए उन्हें श्रम की आवश्यकता थी जो दास और कम्मकर ही दे सकते थे। ......खेती में श्रम की आवश्यकता केवल बड़े-बड़े कृषकों और गहपतियों को ही नहीं थी, बल्कि साधारण गृहस्थों को भी एकाध दास अथवा कर्मकर की जरूरत होती थी। कृषकों के कर देने के कारण महाजनपदों अथवा बड़े-बड़े राज्यों का जन्म हुआ, जिनके अधिकारी वर्ग टैक्सों पर जीते थे और उत्पादन-कार्य से मुक्त थे। उनकी सेवा और घरेलू काम के लिए भी दासों और कर्मकरों की आवश्यकता थी। ऐसे पुरोहित और ब्राह्मण को भी सेवकों की आवश्यकता थी, जो राजाओं और कृषकों के दान-दक्षिणा से धनाढ्य बन गए थे। राजाओं के हथियार बनाने के लिए और कृषकों के औजार बनाने के लिए बड़े पैमाने पर कामगरों की जरूरत थी। इस प्रकार खेती और कारीगरी को चलाने के लिए खेतिहर मजदूर और शिल्पी लगाए जाने लगे। उन्हें अपने श्रम के अनुरूप पारिश्रमिक नहीं मिलता था, और उनकी मेहनत के फल का खासा हिस्सा उच्च वर्ग के लोगों को मिलता था।

"इस प्रकार की सामाजिक संरचना को कायम रखने के लिए वर्गव्यवस्था का निर्माण किया गया। इसके अनुसार दासों, कर्मकरों, शिल्पियों और घरेलू सेवकों को शूद्र वर्ण की संज्ञा दी गई। उन पर भाँति-भाँति की

अशक्तताएँ इसलिए लादी गई ताकि वे उच्च वर्ण के लोगों की अनवरत सेवा करते रहें, अपने श्रम का यथेष्ठ* भाग उनकी सुख-सुविधा के लिए देते रहें, और उनके विरुद्ध किसी प्रकार का विरोध न करें।"[6] और, "भौतिक जीवन की यह विषमता खुद ब्राह्मण समाज में बढ़ रही घृणा की भावना के साथ उग्र होती चली गई। तत्कालीन ग्रीक समाज की भाँति ही वैदिक काल के पश्चातवर्ती समाज में शारीरिक श्रमवाले कार्यों और व्यवसायों के प्रति घृणा के भाव दिखाई पड़ते हैं। उच्च वर्ग के लोग, खासकर ब्राह्मण और क्षत्रिय, धीरे-धीरे उत्पादन कार्य से हाथ खींचने लगे और अपनी स्थिति तथा कृत्यों के संबंध में वंश-परंपरा का निर्वाह करने लगे, जिसका परिणाम यह हुआ कि उनके मन में न केवल शारीरिक श्रमवाले कार्यों के प्रति घृणा बढ़ी, बल्कि वे उन्हें भी हेय समझने लगे जो इस तरह का कार्य करते थे।"[7] इस प्रकार "भारत की विशेष परिस्थितियों में होनेवाले ऐतिहासिक विकास ने वर्ण-व्यवस्था के चौखटे के अन्दर जातियों तथा उपजातियों को जन्म दिया तथा पूरी व्यवस्था को जन्म पर आधारित जड़ तथा बेलोचदार व्यवस्था में रूपांतरित कर दिया।"[8]

यों तो जाति-व्यवस्था अपने-आप में ही क्रूर और हास्यास्पद है, पर दक्षिणी भारत और विशेषकर केरल में यह क्रूरतम रूप में विकसित हुई। यहाँ स्पर्श से ही नहीं, केवल देखने से भी छूत लग जाती थी और दो भिन्न जातियों के लोग कितने कदमों की दूरी बनाकर रहेंगे, यह निर्धारित था। केरल भारत का अकेला ऐसा प्रान्त था, जहाँ दलितों के पास एक इंच भी जमीन भी नहीं थी, अन्त्येष्टि-कर्म के लिए भी नहीं। शेष भारत से भिन्न यहाँ गुलामों का व्यापार भी होता था। हम भारत और भारतीयता की चाहे लाख दुहाई देते रहें, पर हकीकत यह है कि अधिकांश लोग भारत और भारतीयता के बारे में बहुत कम जानते हैं तथा किसी चीज की बिना जाँच किए ही पूर्वाग्रह पाल बैठते हैं। मिसाल के तौर पर हिन्दी के अधिकांश विद्वान् इस पूर्वाग्रह के शिकार थे कि मलयालम-भाषा में दलित साहित्य जैसी कोई चीज है ही नहीं। 'कोढ़ में खाज' वाली कहावत की तरह अँगरेजी-भाषा में भी मलयालम-दलित-साहित्य से सम्बन्धित सामग्री बहुत कम उपलब्ध थी। (यह सन् 2008 ई. तक की स्थिति है।)

मलयाली समाज में व्याप्त जातिगत बर्बरता का हिन्दी में सर्वप्रथम उल्लेख सम्भवतः महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के यहाँ मिलता है, "बहुत-सी नीच कही जानेवाली जातियों के प्रति तो ब्राह्मणों की व्यवस्था बहुत क्रूर थी। कितनी क्रूर थी इसका अन्दाजा कुछ-कुछ आपको लग सकता है, यदि परम अद्वैतवादी शंकराचार्य की जन्मभूमि मलवार के पंचमों की बीसवीं शताब्दी की अवस्था का आपको थोड़ा-सा परिचय हो। उस युग के नगरों की बहुत सी सड़कें उनके लिए वर्जित थीं; कितनी ही सड़कों पर थूकने के लिए उन्हें अपने साथ पुरवा रखना पड़ता था।"[9] राहुल जी जब ये पंक्तियाँ लिख रहे थे, उस समय हिन्दी या मलयालम भाषा की बात तो दूर रही, मराठी में भी दलित-साहित्य का अँखुआ नहीं फूटा था, पर विडम्बना यह है कि इन पंक्तियों के छपने के पचहत्तर वर्षों तक किसी हिन्दी-विद्वान् का ध्यान मलयालम दलित-साहित्य की ओर नहीं गया। 'देर आए, दुरुस्त आए' वाली कहावत की तरह इस बड़े अभाव की पूर्ति दलित-साहित्य के अभिनिविष्ट अध्येता डॉ. बजरंग बिहारी तिवारी ने 'केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य' के प्रणयन के द्वारा की।

डॉ. बजरंग बिहारी तिवारी मार्क्सवादी आलोचक हैं। अतः उन्होंने जाति (कास्ट) की समस्या को जेण्डर और वर्ग की समस्या से काटकर नहीं देखा है। जाति (कास्ट), जेण्डर और वर्ग की समस्या का ऐसा सन्तुलित विवेचन अन्यत्र मुश्किल से मिलेगा। शोषण की इन तीनों परतों की गुत्थियों का सन्तुलित और वैज्ञानिक विवेचन इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी खासियत है। मार्क्सवाद किसी भी तरह के शोषण का विरोधी है। मार्क्सवाद मानवता की सम्पूर्ण मुक्ति का वैज्ञानिक दर्शन है। इसके बावजूद अस्मितावादियों और शोषक शक्तियों के द्वारा यह जहरीला भ्रम सुनियोजित ढंग से फैलाया गया कि मार्क्सवादी विचारधारा पर आधारित पार्टियाँ सवर्णों की पार्टियाँ हैं। यह

अनर्गल आरोप प्राय: लगाया जाता है कि भारत की कम्युनिष्ट पार्टियों पर सवर्ण जातियों का एकाधिकार रहा है तथा सवर्णवादी नेतृत्व के कारण कम्युनिष्ट पार्टियों ने भारतीय समाज को वर्गीय चश्मे से देखा और जातिगत शोषण की उपेक्षा की। ऐसा आरोप लगानेवाले लोगों की नजर में भारतीय समाज वर्ग नहीं, जातियों में विभाजित है और जाति एवं जातिगत उत्पीड़न ही भारतीय समाज का यथार्थ है।

वर्ग और वर्ण दोनों ही भारतीय समाज के यथार्थ हैं और दोनों के जटिल अन्त:सम्बन्धों को समझे बिना न वर्ग-वैषम्य दूर हो सकता है, न वर्ण-वैषम्य। दलित-मुक्ति या नारी-मुक्ति केवल दलितों या नारियों की मुक्ति नहीं है, बल्कि इस तरह के सारे मुक्ति-आन्दोलन वस्तुत: सम्पूर्ण मानवता की मुक्ति के आन्दोलन के विभिन्न अंग हैं तथा मार्क्सवाद मानवता की सम्पूर्ण मुक्ति का दर्शन है। अत: मार्क्सवादी पार्टियाँ न वर्ण-उत्पीड़न को नकारती हैं, न वर्ग-वैषम्य को। मानव-समाज में शोषण के भिन्न-भिन्न रूपों की अनेक बारीक परतें विद्यमान हैं और शोषण के सारे रूपों से मुक्ति पाए बिना मानव की सम्पूर्ण सम्भव नहीं है। जो विचारधारा केवल एक शोषित-समुदाय की मुक्ति का दावा करती है और अन्य समुदायों के शोषण-उत्पीड़न के यथार्थ को स्वीकार करने की बात तो दूर रही, उल्टे पीड़ित समुदायों की एकता के मार्ग में बाधा बनती है, वह क्रान्तिकारी नहीं, प्रतिक्रियावादी दर्शन है और कहना अनावश्यक है कि अस्मितावाद इसी प्रकार की प्रतिक्रियावादी विचारधारा है। अस्मितावाद वर्ग-उत्पीड़न के यथार्थ को न केवल सर्वथा अस्वीकार करता है, बल्कि आदिवासी, दलित, पिछड़ा, नारी और सर्वहारा आदि उत्पीड़ित समुदायों की एकता का विध्वंस भी करता है। अत: यह प्रतिक्रियावादी विचारधारा है। इसके विपरीत मार्क्सवाद मानव की सम्पूर्ण मुक्ति का दर्शन है। भारत की कम्युनिष्ट पार्टियों ने वर्ण-भेद और जातीय (कास्ट) उत्पीड़न के यथार्थ की उपेक्षा की है, यह तथ्यात्मक रूप से अत्यन्त गलत है। सन् 1934 के आस-पास ही आरम्भिक प्रगतिशील कवियों में अग्रण्य रामेश्वर शुक्ल 'करुण' ने साफ-साफ कहा कि धन, धर्म और राजनीतिक सत्ता में दुरभिसन्धि है और ये तीनों एक-दूसरे के रक्षक और पोषक हैं तथा इन तीनों की संगठित शक्ति से ही शोषण-व्यवस्था कायम है–

द्विजदेवों ने जब देखी, दूकान न अपनी चलती,
पोथों की ब्रह्मबगीची, उगती न फूलती-फलती।
मठ-मन्दिर में तीनों का गठबन्धन होना ठहरा,
धन-धर्म और सत्ता का नित सुख से सोना ठहरा।
तुम रक्षा करो हमारी, हम रक्षा करें तुम्हारी,
अत्याचारी से मिलकर बल पाए अत्याचारी।
तीनों का लक्ष्य निराला, तीनों का छिद्र छिपाना,
जनता की जीभ दबाकर वैषम्य-व्यथा फैलाना।

कहना न होगा कि इन तीनों के संयुक्त मोर्चे से लोहा लिए बिना शोषण-उत्पीड़न का विनाश असम्भव है। रामेश्वर शुक्ल 'करुण' की इन पंक्तियों की रचना से भी पहले सन् 1930 में सी.पी.आई. द्वारा प्रस्तुत 'कार्रवाई के लिए मंच' में कहा गया था कि "ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन का ही यह नतीजा है कि आज भी हमारे देश में लाखों की तादाद में गुलाम हैं। आज भी समाज से बहिष्कृत करोड़ों अछूत मेहनतकश हैं जिन्हें कोई अधिकार ही नहीं है। ब्रिटिश शासन, जमींदारी प्रथा, प्रतिक्रियावादी जाति प्रथा, धार्मिक पाखंड और गुलामी तथा भूदासता की सारी पुरानी परंपराएं, हमारे देश की जनता का गला घोंट रही हैं तथा जनता की मुक्ति के रास्ते में बाधक हैं। इन्हीं का नतीजा है कि आज बीसवीं शताब्दी में भी हमारे देश में अछूत हैं जिन्हें अन्य मनुष्यों से मिलने-जुलने, सार्वजनिक कुओं से पानी पीने, सार्वजनिक स्कूलों में पढ़ने आदि का कोई अधिकार ही नहीं

है। ....यह जाति प्रथा ही है जिसके चलते अछूतों की यह अवस्था है। यह अछूतों के सामाजिक रूप से बहिष्कृत होने का औचित्य सिद्ध करती है। .....भारत की कम्युनिस्ट पार्टी गुलामी, जाति प्रथा और हर किस्म की जातिगत असामनता के पूरी तरह से खात्मे के लिए संघर्ष करती है–– भले ही वह असामनता सांस्कृतिक, सामाजिक या किसी भी रूप में क्यों न हों। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी का संघर्ष मेहनतकश अछूतों और हमारे देश की मेहनतकश जनता के हर हिस्से की पूरी–पूरी बराबरी के लिए है।"[10] (जोर मेरा) अपने स्थापना–काल (1925 ई.) के करीब आरम्भिक दौर में ही भारतीय कम्युनिष्ट पार्टी की यह उद्घोषणा क्या यह सिद्ध नहीं करती कि जाति और वर्ण के मुद्दे कम्युनिष्ट नेताओं के लिए गौण नहीं थे और न ही यहाँ की कम्युनिष्ट पार्टी ने वर्ण–वैषम्य और जाति–उत्पीड़न के यथार्थ की उपेक्षा की। इसीलिए बी.टी. रणदिवे ने इस बात पर बल देते हुए कहा है कि "कम्युनिस्ट पार्टी ही अकेली पार्टी थी जिसने छुआछूत तथा जाति व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष को कृषि–क्रांति से और साम्राज्यवादी शासन के विरुद्ध संघर्ष से, जोड़ा।[11] फिर कम्युनिष्ट नेताओं को ब्राह्मणवादी और सवर्णवादी कहना कहाँ तक उचित है? डॉ. बजरंग बिहारी तिवारी ने इस मुद्दे पर विस्तार से विचार किया है। बजरंग जी के शब्दों में, "आमतौर पर यह धारणा है कि भारत के मार्क्सवादी जाति की सचाई को नजरअदाज करते रहे और समाज सरंचना की व्याख्या उन्होंने मात्र वर्गीय दृष्टि से की। जाति के विश्लेषण को वैध कैटेगरी न मानने के कारण वे जाति–व्यवस्था को समझने और जाति आधारित हीनता या उच्चता बोध पर असर डालने में नाकाम सिद्ध हुए।"[12] निसन्देह इस तरह की भ्रामक और यान्त्रिक समझवाले मार्क्सवादी भी हैं, पर सारे मार्क्सवादी ऐसे नहीं हैं। स्वयं बजरंग जी ने ऐसे तमाम अनर्गल आरोपों का सप्रमाण खण्डन किया है। उन्होंने तथाकथित निचली जातियों में जन्म लेनेवाले गोपालन जैसे कई दिग्गज नेताओं की जाति का हवाला प्रस्तुत करते हुए इस भ्रामक धारणा और पूर्वाग्रह का भी खण्डन किया है कि भारत की कम्युनिष्ट पार्टियों पर सवर्ण जातियों के नेतृत्व का कब्जा है।[13] लेखक ने यह भी ध्यान दिलाया है कि पुलय और परय केरल की प्रमुख दलित जातियाँ हैं[14] और कम्युनिस्ट पार्टी को केरल में पुलयों की पार्टी कहा जाने लगा।[15] लेखक ने सप्रमाण इस भ्रम और पूर्वाग्रह का भी खण्डन किया है कि सवर्णवादी मानसिकता के कारण यहाँ के कम्युनिस्ट नेताओं को केवल वर्ग–वैषम्य दिखाई पड़ा और जातिगत उत्पीड़न की ओर उनकी नजरें नहीं गईं। उन्होंने कन्नूर के प्रमुख कम्युनिष्ट नेता सी. एच. कनरन का यह उद्धरण उद्धृत किया है कि 'जाति हमारे समाज की सच्चाई है।'[16] इसी प्रकार उन्होंने दिग्गज कम्युनिस्ट नेता ई. एम. एस. नम्बूदिरीपाद की किताब 'केरल : येस्टरडे, टुडे एण्ड टुमारो' से कई उद्धरणों को प्रस्तुत कर इस पूर्वाग्रह और भ्रामक धारणा का जोरदार खण्डन किया है। "ई.एम.एस. साफ करते हैं कि सामंती–औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था वाले एक जातिग्रस्त देश में जनतंत्र के लिए संघर्ष की शुरुआत जातिगत समानता से होनी चाहिए"।[17] बजरंग जी ने इस मुद्दे पर विस्तार से विचार किया है। ई.एम.एस. का हवाला प्रस्तुत करते हुए बजरंग जी ने लिखा है, "......दमन के कई ऐसे रूप हैं, जो जाति विशेष को ही झेलने पड़ते हैं। गरीब से गरीब सवर्ण भी ऐसे उत्पीड़नों से नहीं गुजरता.... उन्होंने कहा कि कि अनुसूचित जातियाँ और कुछ दूसरी गैर सवर्ण जातियाँ दोहरे उत्पीड़न का शिकार होती हैं। वे एक तरफ तो वंचित तबके का होने के कारण आर्थिक शोषण झेलती हैं और दूसरी तरफ जाति विशेष में होने के कारण सामाजिक दमन की पीड़ा भोगती हैं। सवर्णों के हिस्से में यह पीड़ा नहीं आती है। इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर ध्यान दिलाकर ई.एम.एस. टिप्पणी करते हैं कि ऐसे में 'यह उपदेश देना मूर्खतापूर्ण है कि सभी जातियों और समुदायों के (मेहनतकश) साधारण लोग समान होते हैं...जबतक समुदाय विशेष का सामाजिक उत्पीड़न नहीं रुकता तबतक यह एकता नहीं आ सकती।' ई. एम.एस. ने आगे कहा कि चूंकि अनुसूचित जातियों को जाति व्यवस्था के आधार पर सदियों से पीछे रखा गया है, इसलिए उन्हें तथाकथित ऊँची जातियों के समकक्ष लाने हेतु अस्थाई अवधि के लिए विशेष प्रावधान करना जरूरी है। यह विशेष प्रावधान ही आरक्षण है।"[18] इसी प्रकार कम्युनिष्ट–विचारक कृष्ण पिल्लै ने एक लेख

(देशाभिमानी, 7 अगस्त, 1947) में लिखा कि अस्पृश्यता को गैर-कानूनी बनानेवाला एक अध्यादेश पारित करना चाहिए। इतना ही नहीं, उन्होंने यहाँ तक लिखा कि अस्पृश्यता पर प्रतिबन्ध साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष का महत्त्वपूर्ण पक्ष है।[19]

जाति (कास्ट) व्यवस्था के खिलाफ और सामाजिक न्याय के पक्ष में इससे बड़ा उद्घोष और क्या हो सकता है? इतना ही नहीं, सवर्णों के विरुद्ध पिछड़ी जातियों के संगठित विद्रोह को ई.एम.एस. ने बेहद महत्त्वपूर्ण माना है। ई.एम.एस. की इस महत्त्वपूर्ण भूमिका को बजरंग जी ने विशेष रूप से रेखांकित करते हुए लिखा है, "उन्होंने ईषवों के संगठन एस.एन.डी.पी. योगम् की अपेक्षाकृत विस्तृत चर्चा करते हुए इस आंदोलन का ऐतिहासिक महत्व प्रतिपादित किया है। केरल की अन्य जातियों ने ईषवों की देखा-देखी अपने-अपने संगठन बनाए। सामन्तवाद और ब्राह्मणवाद से लड़ने के लिए यहाँ (वर्ग की अनुपस्थिति में) जाति आधारित संगठन ही बन सकते थे। जाति संगठन होने से सामंतवाद के खिलाफ इनके संघर्ष का महत्व कम नहीं हो जाता। उन्होंने अन्याय और शोषण के खिलाफ दमित जनता को जगाने में सराहनीय भूमिका अदा की। निचली जातियों, भूमिहीनों, खेतिहर मजदूरों का संगठन और आंदोलन जनतंत्र की ओर बढ़ने की सार्थक शुरुआत कही जानी चाहिए।"[20] और, "ई.एम.एस. उस समय के बुर्जुआ राष्ट्रीय नेतृत्व को सामंत समर्थक कहते हैं। राष्ट्रीय आंदोलन को मात्र अंग्रेज विरोध तक सीमित कर देना और उसे आंतरिक सवालों से काटकर रख देना इसी का नतीजा है. ई. एम. एस. साफ करते हैं कि सामंती-औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था वाले एक जातिग्रस्त देश में जनतंत्र के लिए संघर्ष की शुरुआत जातिगत समानता से होनी चाहिए. इसके बाद राजनीतिक और आर्थिक लोकतंत्र के लिए संघर्ष छेड़ा जाना उचित है।"[21] (जोर मेरा)।

इसी प्रकार भारतीय कम्युनिस्ट-आन्दोलन के एक अन्य दिग्गज थे बी.टी. रणदिवे। अपनी 'जाति और वर्ग' नामक पुस्तिका में उन्होंने जगह-जगह जाति के सवाल पर स्वतन्त्रता-संग्राम के दौर के बुर्जुआ नेतृत्व की वैसी ही कटु आलोचना की है, जैसी ई.एम.एस. ने की थी। प्रस्तुत पुस्तिका की 'भूमिका' में ही उन्होंने लिखा है, "ये हमारे अतीत के पाप हैं। यह ऐसी घृणित विरासत है जिससे राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष भी छुटकारा नहीं पा सका, या इससे छुटकारा पाने का यत्न ही नहीं किया गया। यह कोशिश इसलिए नहीं की गई चूंकि राष्ट्रीय संघर्ष के बुर्जुआ नेतागण इस समस्या को गहराई से समझने और उसे समूल नष्ट करने के इच्छुक नहीं थे। ये लोग अस्पृश्यता के सवाल पर अस्थायी समाधान ढूँढ़नेवाला रवैया अपनाते रहे। विनम्र निवेदन और मामूली सुधारों की बात करते रहे मानो यह मात्र व्यक्तियों और जातियों के बीच समुचित सामाजिक बरताव का मसला हो। पहली बात तो यह है कि इन नेताओं को समस्या के सामाजिक आधार के विषय में कुछ मालूम ही नहीं था और दूसरी बात यह है अगर उन्हें इस विषय में कुछ मालूम भी था तो उनमें इतना साहस नहीं था कि वे इसे समूल उखाड़ फेंकते। इसका समाधान कृषि संबंधों के सामंती तथा अर्ध-सामंती ढांचे को खत्म करने में निहित था, किंतु नेतागण इसके लिए कतई तैयार नहीं थे।

"राष्टीय आंदोलन के दिनों में ही एक ऐसी धारा भी मौजूद थी जो जातिवाद और अस्पृश्यता विरोधी संघर्ष को साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष तथा कृषि क्रांति के संघर्ष से काटकर रखने की कोशिश कर रही थी। इसके भयंकर नतीजे आज हम सबके सामने मौजूद हैं।"[22] और, "......जनसंगठनों के लिए भी यह लाजमी है कि वे अस्पृश्यों, आदिवासियों तथा दलित जातियों की समस्याओं पर विशेष ध्यान दें और इस काम को भी दबे-कुचले तबकों को एकजुट करने के कार्य का ही एक हिस्सा समझें।"[23] बी.टी. आर. ने साफ-साफ लिखा है, "यह तर्क तो शायद ही कोई देगा कि आर्थिक स्थिति को धीरे-धीरे बदलने दो, नयी आर्थिक वास्तविकताओं को नए वर्गों को उभरने दो और उसके बाद जातिवाद और जातिवादी चेतना अपने आप खत्म हो जाएगी।"[24] (जोर

मेरा) उनके अनुसार कम्युनिस्ट 'जानते थे कि यह वर्ग संघर्ष ऐसी जनता का संघर्ष था जो अभी जातिवादी पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं हुई थी और जिसे शोषितों के रूप में अपनी वास्तविक सत्ता को पहचान कर संघर्ष के दौर में एकताबद्ध होना था।'[25]

ई.एम.एस. और बी.टी.आर. के द्वारा स्वतन्त्रता-संग्राम के दौर के बुर्जुआ नेतृत्व के ढुलमुल रवैये की उपर्युक्त आलोचना कितनी सही थी, इसका एक प्रमाण है 'हरिजन लीग' नामक संस्था से कांग्रेस का सम्बन्ध तोड़ लेना। सन् 40 में 'हरिजन लीग' नामक संस्था की स्थापना हुई, जिसकी सदस्यता दलित जातियों में उत्पन्न व्यक्तियों को ही मिल सकती थी। इस संगठन का सम्बन्ध कांग्रेस और सोसलिस्ट पार्टियों के साथ था। सन् '45 में कांग्रेस ने 'हरिजन लीग' को कम्युनिस्ट संगठन बताते हुए उससे अपना नाता तोड़ लिया। 'हरिजन लीग' ने चिक्काल के राजा की सदारत में कमिटी बनाई और मन्दिर-प्रवेश का आन्दोलन शुरू किया। उसी वर्ष कण्णूर के प्रमुख कम्युनिस्ट नेता सी.एच. कनरन ने जाति-संगठनों का घनघोर पक्ष लेते हुए कहा कि जाति हमारे समाज की सच्चाई है।[26] इसी प्रकार 1924-25 के वैकम-सत्याग्रह में भी कम्युनिस्टों की भूमिका ध्यातव्य है। इस सत्याग्रह की मुख्य माँग थी त्रावणकोर के मुख्य मन्दिर की समीपवर्ती सड़कों पर अस्पृश्यों (दलितों) के प्रयोग पर लगी पाबन्दी को हटाना। गुरुवायूर मन्दिर में दलितों के प्रवेश के लिए आन्दोलन एक साल तक चलता रहा। इस आन्दोलन में प्रथम पीढ़ी के तमाम कम्युनिष्ट नेता शामिल रहे।[27] इसी सन्दर्भ में बजरंग जी की ये पंक्तियाँ भी ध्यातव्य हैं, "पहली पीढ़ी के कम्युनिस्ट समाज सुधार आंदोलन से निकले थे। समाज सुधार का सीधा अर्थ जाति की जड़ता के विरुद्ध संघर्ष था।"[28] और, "ई. एम. शंकरन नम्बूदिरीपाद (लोकप्रिय नाम ई. एम. एस.) भी इसी दौर में सक्रिय रहे। उन्होंने अपने नम्बूदिरी समाज से माँग की कि वह परजीवी की भूमिका से मुक्त हो और उद्योग-धंधे की ओर मुड़े। योगक्षेम महासभा के चौतीसवें अधिवेशन (1945) की अध्यक्षता ई.एम.एस. ने की। इसमें उन्होंने कहा कि नम्बूदिरी युवकों को किसी भी जाति में विवाह करने की छूट होनी चाहिए। इसी तरह नम्बूदिरी युवतियों को भी इच्छानुसार विवाह करने का अधिकार होना चाहिए। इस अधिवेशन में नम्बूदिरी स्त्रियों की स्थिति पर प्रस्ताव पास करके उनके लिए विवाह से संबंधित प्रतिबंधों और दहेज प्रथा से मुक्ति की आवाज उठाई गई और महिला संघ की स्थापना पर जोर दिया गया।"[29]

सन् 1948 से '64 के दौरान केरल पर शोध करनेवाली विदुषी कैथलीन गॉफ ने 'विलेज पॉलिटिक्स इन केरल' में सोदाहरण दिखाया है कि कम्युनिस्टों के मजबूत होने से जाति-संगठन किस प्रकार कमजोर होते हैं। मिसाल के तौर पर कम्युनिस्ट पार्टी के जनसंगठनों की सदस्यता लेनेवाले ईषवों के जाति-संगठन एस.एन.डी. पी. योगम् के खिलाफ हो गए। इसी प्रकार गरीब ईसाई चर्च न जाकर कम्युनिस्ट पार्टी की बैठकों में जाने लगे। कैथलीन गॉफ ने यह भी नोट किया है कि केरल में परिवर्तन के किसी भी प्रयास को सवर्णवाद से टकराना अवश्यंभावी था और जाहिरा तौर पर यह टकराहट किसी एक मोर्चे पर नहीं हुई तथा कम्युनिस्टों का संघर्ष बहुआयामी और बहुमोर्चीय रहा। कैथलीन गॉफ के अनुसार उस घोर जातिवादी समाज में कम्युनिस्टों ने पारम्परिक पदानुक्रम और विभेद पर निरन्तर हमला किया। केरल में ये कम्युनिस्ट ही थे जो दलितों के घर गए, उनकी चाय की दुकानों पर भाईचारा कायम किया और अन्तर्जातीय विवाहों के पक्ष में खड़े हुए। (सभी जगह जोर मेरा) अँग्रेजी की मशहूर कहावत 'Example is better than precept' को चरितार्थ करते हुए कम्युनिष्टों ने स्वयं भी अन्तर्जातीय शादी की शानदार मिसालें पेश कीं। कैथलीन गॉफ ने उदाहरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि पलक्कर गाँव की कम्युनिष्ट कार्यकतृ अम्मिनी, जो दबंग नायर जाति की थी, ने जाति-बन्धन को तोड़कर ईषव युवक से शादी की।[30] इसी प्रकार मलबार के मोराषा गाँव का अध्ययन करनेवाले आर. रामकुमार ने लिखा है कि 1940 के दौरान यह गाँव एक बड़े कम्युनिस्ट नेता सी.एच. नाम्बियार और दलित शिक्षिका पी ननी के विवाह कारण काफी चर्चा में था।[31]

केरल की कम्युनिस्ट पार्टी ने सवर्णों और सामन्तों के विरुद्ध अभियान छेड़ा कि वे दलितों के प्रति अपना दृष्टिकोण बदलें, उन्हें बढ़ी हुई मजदूरी दें, निर्धारित समय से अधिक काम न लें, अस्पृश्यता आदि अन्य अपमानजनक अथवा हीनताबोधक व्यवहार एवं बरताव छोड़ें, और उन्हें नीचा दिखानेवाले सम्बोधनों का प्रयोग न करें। के.सी. अलेक्जेंडर ने भी लिखा है कि जो दलित कभी उत्पीड़न के विरुद्ध चूँ तक नहीं कर पाते थे, वे कम्युनिस्ट-जनसंगठनों की बदौलत करारा प्रतिकार करने लगे। अब सामन्तों को दलितों का उत्पीड़न करने की हिम्मत नहीं थी। अब कोई सामन्त या सवर्ण किसी दलित से किसी प्रकार का अपमानजनक व्यवहार करने अथवा कटु शब्द या गाली-गलौज करने से पहले एक बार एक इसके नतीजे पर विचार करने को बाध्य थे।[32] दलितों की समस्याओं से निपटने के लिए सी.पी.आई. (एम.) ने सन् 1969 में 'द केरल स्टेट एग्रीकल्चरल लेबरर्स यूनियन' का गठन किया। कसालू के शानदार संघर्ष के कारण दूर-दराज के गाँवों के दलितों में अप्रतिम आत्मबल का संचार हुआ और कसालू की सदस्य-संख्या में अप्रत्याशित वृद्धि हुई। दलितों की वासभूमि की अत्यन्त जटिल और उलझी हुई समस्या को सुलझाने में कसालू की महत्त्वपूर्ण भूमिका और शानदार संघर्ष का विस्तृत वर्णन बजरंग जी ने आलोच्य पुस्तक में किया है। उल्लेखनीय है कि कसालू ने अपने अभियानों में दलित स्त्रियों को तरजीह दी और कसालू के संघर्षों के कारण दलित स्त्रियों में भी संघर्षशील चेतना का उदय हुआ।[33] (जोर मेरा)

सामाजिक बदलाव में शिक्षा की केन्द्रीय भूमिका है और केरल की पहली कम्युनिस्ट सरकार ने किस प्रकार अपनी सत्ता को दाँव पर लगाकर (और अन्ततः गँवाकर) शिक्षा-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करते हुए उसे जनोन्मुखी और दलितोन्मुखी बनाया, इसका विस्तृत वर्णन डॉ. बजरंग बिहारी तिवारी ने किया है।[34] केरल के दस हजार स्कूलों में छः-सात हजार निजी प्रबन्धन के अधीन थे और इनमें करीब ढाई हजार चर्च के अधीन। सरकार से प्राप्त आर्थिक अनुदान का उपयोग शिक्षकों के वेतन-भुगतान में किया जाता था, जबकि विद्यार्थियों से वसूले गए शुल्क और पाठ्यपुस्तकों की बिक्री से प्राप्त धनराशि के हिसाब में पारदर्शिता नहीं थी, इस हिसाब की जानकारी सरकार को नहीं थी। इतना ही नहीं, शिक्षकों का वेतन तो सरकार देती थी, पर उनकी नियुक्ति और सेवा-शर्तों के निर्धारण में सरकार की कोई भूमिका नहीं थी। विद्यालयों के निजी प्रबन्धन-तन्त्र का मकड़जाल इतना तगड़ा था कि वह न कानून की परवाह करता था, न स्वयं को किसी के प्रति जवाबदेह मानता था।[35] कहना अनावश्यक है कि निजी प्रबन्धन-तन्त्र के लिए शिक्षण-संस्थान सोना देनेवाली मुर्गी की तरह केवल मुनाफीखोरी और लूट का जरिया है। जॉर्जेस क्रिस्टोफल लीटेन (द फर्स्ट कम्युनिस्ट मिनिस्ट्री इन केरल 1957-59, के. पी, बागची एण्ड कम्पनी, कलकत्ता, 1982) के शोध के आधार पर बजरंग जी ने लिखा है, "फीस में बढ़ोत्तरी होती रहती थी और शिक्षित बेरोजगारों की संख्या बढ़ने के साथ अध्यापकों के पद (नीलामी की) बोली लगाकर सबसे ऊँची कीमत दे सकने वाले को सौंपे जाते थे। शिक्षक मैनेजमेंट के गुलाम की तरह थे। फीस बढ़ने का असर गरीब परिवारों पर सबसे ज्यादा भारी पड़ता है। सामाजिक आर्थिक रूप से कमजोर तबके निजी शिक्षा व्यवस्था में पनप नहीं पाते.......इसलिए दूसरे कार्यक्रमों को रोककर शिक्षा व्यवस्था में बदलाव का काम सबसे पहले किया गया।"[36] इसी सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि केरल की सरकार ने सरकारी नौकरियों में आरक्षण के मुद्दे पर सुझाव देने के लिए प्रशासनिक सुधार समिति (ए.आर.सी.) गठित की, जिसने अपनी सिफारिश में कहा कि आरक्षण का लाभ पिछड़े वर्ग के उन्हीं लोगों को मिलना चाहिए, जो निश्चित आर्थिक सीमा-रेखा के दायरे के अन्दर आते हों। सरकार ने आर्थिक सीमा-रेखा-सम्बन्धी इस प्रस्ताव को नामंजूर कर केवल जातिगत आधार रहने दिया। फलतः सरकार-विरोधी सारे संगठन आपसी बैर-भाव भुलाकर एक हो गए और उन्होंने 'विमोचन समरम्' (लिबरेशन स्ट्रगल) का प्रतिक्रियावादी नारा दिया और अन्ततः 31 जुलाई 1959 को केरल की सरकार बर्खास्त कर दी गई।[37] इस प्रकार दलितों, पिछड़ों और आर्थिक रूप से कमजोर

वर्ग के लोगों के पक्ष में केरल की कम्युनिस्ट सरकार अन्त-अन्त तक डटी रही और अन्ततः अपनी सत्ता भी गँवा डाली। यह तथ्य भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि केरल की कम्युनिस्ट सरकार को गिराने के लिए जो साझा संगठन बनाया गया था, उसके निशाने पर दलित ही थे। भूस्वामियों की सेना 'निर्णम पद' का उन दिनों ऐसा आतंक था कि दलितों ने सड़कों पर निकलना छोड़ दिया। कुट्टनाडु जैसे दलित-बहुल क्षेत्र में दलितों की हत्या कर उनके शवों को खेतों में गाड़ दिया गया। विमोचन समरम् के नारों में अधिकतर नारे दलित-विरोधी थे, जैसे 'हम मजबूर कर देंगे तुमको/ पेड़ की छाल के कटोरे में/ कांजी पीने को/ हम तुम्हें पहले की हालत में/ ले आएँगे/ हम तुम्हें बाध्य कर देंगे/ कि हमें मालिक कहो।"[38] कम्युनिस्ट सरकार के विघटन के बाद दलित-विरोधी हिंसा के विभिन्न रूपों (जिसमें यह नारा भी शामिल है) से क्या निष्कर्ष निकलता है; कम्युनिष्ट पार्टी/ सरकार का दलित-विरोधी होना या दलित-समर्थक होना?

अस्मितावादियों को यह विचार करना चाहिए कि आर्थिक मुक्ति के बिना सामाजिक-राजनैतिक प्रभृति मुक्ति की अन्य परियोजनाएँ सम्भव हैं क्या? उन्हें पी. शिवनन्दन के इस कथन पर भी गौर करना चाहिए कि दलितों की सामाजिक-राजनैतिक उन्नति से ज्यादा मुश्किल है आर्थिक मुक्ति।[39] दलितों को आर्थिक रूप से सशक्त बनाने के लिए केरल की कम्युनिस्ट सरकार के द्वारा कई कदम उठाए गए। इनमें सबसे मुख्य है भूमि-सुधार। वैसे तो पूरे देश के दलित भूमिहीन हैं, पर केरल में रहने के लिए भी दलितों के पास जमीन नहीं थी, यहाँ तक कि अन्त्येष्टि के लिए भी नहीं। वे केवल जमीन्दार के खेतों की मेड़ों पर झोपड़ी बनाकर रह सकते थे और इस झोपड़ी की जगह भी प्रत्येक मौसम में बदलती रहती थी, ताकि वे उस खेत में काम कर सकें और अहर्निश खेत की रखवाली भी करते रहें। जब जिस खेत में काम करना पड़ता था, वहाँ झोपड़ी बना ली जाती थी।[40] केरल की सरकार ने भूमि-सुधार के लिए जैसा कानून बनाया, वैसा कानून भारत के किसी प्रान्त में नहीं था, 'जो दलितों को इतनी सुगमता और विधिवत तैयारी से वासभूमि मुहैया करा सके।'[41] केरल जैसे जड़ीभूत सामाजिक संरचनावाले प्रान्त में क्या यह मामूली उपलब्धि कही जाएगी? इस भूमि-सुधार के मार्ग में कम्युनिस्ट सरकार और संगठन को कितनी चुनौतियों और मुश्किलों से जूझना पड़ा एवं कितने कठिन संघर्ष का सामना करना पड़ा, कितने कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा, यह अलग अध्ययन का विषय है और बजरंग जी ने भी इस पर प्रकाश डाला है। अपने भाइयों और रक्त-सम्बन्धियों से संघर्ष करना आसान काम नहीं है और कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं ने दलितों के पक्ष में अपने सगे भाइयों के खिलाफ भी संघर्ष किया। कैथलीन गॉफ के शोध-कार्य के हवाले से बजरंग जी ने एक ऐसा ही उदाहरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है, "विश्वनाथन ने अपने सगे भाई के खिलाफ कोर्ट में इसलिए केस दायर किया कि उसने अपने हिस्से की जमीन पर बसे 60 दलित परिवारों को उजाड़ दिया था। इस लड़ाई में कम्युनिस्ट पार्टी ने विश्वनाथन की पूरी सहायता की जबकि उसके भाई को कांग्रेस से मदद मिली।"[42] ऐसी घटनाएँ जगह-जगह हुई हैं। ऐसी घटनाओं को अस्मितावाद के चश्मे से नहीं समझा जा सकता है। कहना न होगा कि ऐसी घटनाएँ अस्मितावादी विचारधारा का मुँह चिढ़ाती हैं। यह भी ध्यातव्य है कि भूमि-सुधार को लागू करनेवाली सरकार अगले डेढ़ दशक तक सत्ता से बाहर रही और इस बीच भूस्वामियों का षड्यन्त्र न केवल बदस्तूर जारी रहा, बल्कि सत्ता में आनेवाली कांग्रेस ने भूस्वामियों के पक्ष में भूस्वामित्व-सम्बन्धी कानून में बदलाव भी किया।[43] इस प्रकार अपनी सत्ता गँवाने का जोखिम उठाकर भी कम्युनिस्ट-सरकार ने भूमि-सुधार के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण और ऐतिहासिक कार्य किया। यहाँ यह सवाल लाजिमी है कि भूमि-सुधार से लाभ किस समुदाय या सामाजिक तबके को मिला? कहने की आवश्यकता नहीं कि ओ.बी.सी. और एस.सी. समुदायों को इसका लाभ विशेष रूप से मिला।[44] भूमि-सुधार के कारण दलित, ओ.बी.सी. और श्रमिक वर्ग के जीवन-स्तर में काफी सुधार हुआ। आर. रामकुमार के शोध-निष्कर्ष के अनुसार भूमि-सुधार के कारण केरल में सरकारी स्कूलों का जाल बिछ गया।[45] जिस प्रान्त में शिक्षण-संस्थाएँ

मुख्यत: विभिन्न जातीय (कास्ट) या धार्मिक समुदायों के द्वारा संचालित थीं (कहना अनावश्यक है कि इस परिदृश्य से दलित सर्वथा बाहर थे), वहाँ सरकारी विद्यालयों की भारी संख्या में स्थापना दलितों, श्रमिकों और गरीबों के दारिद्रियरूपी पतझड़जन्य ठूँठ जीवन को पल्लवित-पुष्पित करने के लिए वसन्त की बहार बनकर आई। प्रसंगवश याद आती है हजारीप्रसाद द्विवेदी की यह मशहूर मान्यता कि वसन्त आता नहीं, ले आया जाता है[46] और कहना न होगा कि यह वसन्त वामपन्थी सरकार के द्वारा संघर्ष करके लाया गया। इसने दलितों, श्रमिकों और गरीबों के जीवन को बहुविध रूप से स्पन्दित किया। जॉन पी. मेंचर ने केरल और तमिलनाडु के प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए यह लिखा है कि केरल में इन स्वास्थ्य केन्द्रों पर डॉक्टरों और दवाओं की उपलब्धता कहीं अधिक है और इसका कारण है राजनैतिक जागरूकता। उनके अनुसार, "केरल में स्वास्थ्य और साक्षरता के उच्च मानक और जन्म दर में उल्लेखनीय गिरावट सरकार की तरफ से रेडिकल सोशल नीतियों और स्थानीय स्तर पर मजबूत वामपक्षी प्रवृत्तियों के समर्थन का परिणाम है"।[47] इसी प्रकार ईश्वरैया के अनुसार सन् 1974-75 से 1980-81 के बीच वास्तविक मजदूरी की दरों में साठ प्रतिशत की वृद्धि हुई। यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि महिला श्रमिकों की वास्तविक मजदूरी की दर भी देश के अन्य प्रान्तों की तुलना में अधिक थी। 1974-75 से 1980-81 के बीच जहाँ अन्य सारे प्रान्तों में महिला श्रमिकों की मजदूरी स्थिर रही या मामूली बढ़ी, वहीं केरल में यह बीस प्रतिशत बढ़ी।[48] (जोर मेरा)

भूमि-सुधार से दलितों, पिछड़ी जातियों और श्रमिकों के जीवन-स्तर में बुनियादी विकास हुआ। पी.के. माइकल तरकान और के.एन. राज के अनुसार जाति-व्यवस्था ने जिन जातियों और समुदायों को भूमि-प्राप्ति से वंचित कर रखा था, भूमि-सुधार के कारण वासभूमि की प्राप्ति ने उन्हें बेहतर मजदूरी के लिए मोलभाव करने में सक्षम बनाया, जिससे वे बेहतर सार्वजनिक वितरण-प्रणाली, बेहतर स्कूली शिक्षा और स्वास्थ्य-सेवा की माँग कर सके। इससे दलितों की बुनियादी सामाजिक प्रगति उसी प्रकार सम्भव हुई, जिस प्रकार सामाजिक-सांस्कृतिक-सुधार-आन्दोलन के जरिए मध्यवर्ती जातियों की बुनियादी सामाजिक प्रगति सम्भव हुई।[49] पी. के. माइकल तरकान और के. एन. राज के इस निष्कर्ष पर उन लोगों को विचार करना चाहिए जो दलित-सशक्तीकरण और भूमि-सुधार के सम्बन्धों को खारिज करते हैं। इसी सन्दर्भ में ए.डी. दामोदरन का यह मत भी द्रष्टव्य है कि सामाजिक प्रगति के एक उपकरण के रूप में भूमि-सुधार में भरोसा खोना कुछ वैसा है, जैसा वृक्ष की खोज में जड़ को भूल जाना।[50] आर. रामकुमार का भी यही निष्कर्ष है कि भूमि-सुधार ने श्रम-शक्ति की बिक्री की परिस्थियों को बदल दिया और इसने श्रमिकों को अपनी मर्जी से नियोक्ता चुनकर अपनी श्रम-शक्ति बेचने के लिए आजाद कर दिया। न सिर्फ सामन्ती जन्मी-प्रथा, प्रत्युत सवर्ण प्रभुत्व के पारम्परिक आर्थिक आधार का समूल उच्छेद करते हुए इसने जाति-आधारित उत्पीड़नों के मूलाधार पर प्रहार किया।[51] भूमि-सुधार के फलस्वरूप फल-सब्जी आदि के सेवन से पोषण का स्तर ऊँचा हुआ और स्थायी आवास होने के कारण सार्वजनिक वितरण-प्रणाली का बेहतर लाभ भी मिला। ध्यातव्य है कि अनाज की कमी से यह प्रान्त आरम्भ से ही जूझता रहा है। पहली कम्युनिस्ट-सरकार बनने के समय सरकारी राशन की दुकानों की संख्या एक हजार थी। राशन की उपलब्धता और आपूर्ति को बाजार पर छोड़ने के बजाय सरकार ने सीधे अपने जिम्मे लिया। फलत: केरल में सरकारी राशन की दुकानों की संख्या बढ़कर छ: हजार हो गई। यह भी उल्लेखनीय है कि सार्वजनिक वितरण-प्रणाली का जन्म ही वामपन्थी रुझानवाले किसान-आन्दोलन के गर्भ से हुआ था। सन् '42 के किसान-आन्दोलन के कारण 'उत्पादक और उपभोक्ता सहकारी समितियों' की स्थापना हुई, जिसने दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान भीषण खाद्यान्न-संकट से राज्य को उबारने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद केरल की कम्युनिस्ट-सरकार ने सार्वजनिक वितरण-प्रणाली को सार्वभौम बनाकर सबको इसके दायरे मे ला दिया था, पर नवउदारवादी नीतियों के दवाब में 1997 में केन्द्र-सरकार ने सार्वजनिक वितरण-प्रणाली

को समाप्त कर लक्षित सार्वजनिक वितरण-प्रणाली [लसाविप्र (टार्गेटेड पब्लिक डिस्ट्रीब्यूशन सिस्टम, टी. पी. डी. एस.)] लागू किया, जिससे ए.पी.एल. और बी.पी.एल. नामक दो श्रेणियाँ बन गईं और इस श्रेणी-विभाजन का खामियाजा सबसे अधिक दलितों और आदिवासियों को झेलना पड़ा।

ऋण की समस्या दलितों और गरीबों के आर्थिक शोषण का कितना बड़ा जरिया है, यह कहना अनावश्यक है। प्रेमचन्द ने शोषण के इस तन्त्र का कैसा मार्मिक और यथार्थ चित्रण किया है, यह सर्वविदित है। कहना न होगा केरल की कम्युनिस्ट-सरकार ने इस समस्या को जड़-मूल से समाप्त करने में ऐतिहासिक भूमिका निभाई। जमीन्दारों और अन्य व्यापारियों के गोदामों में गोपनीय अन्न-भण्डारण को रोकने और आवश्यकतानुसार उठवा लेने के लिए द्वितीय महायुद्ध के दौरान जो उत्पादक और उपभोक्ता कॉपरेटिव बना था, उसे ही आगे चलकर कम्युनिस्ट सरकार ने क्रेडिट सोसायटी में बदल दिया, जो 'ऐक्य ननय संघम्' के नाम से पुकारा गया। आगे चलकर इसी संघम् की शाखाओं को कॉपरेटिव बैंक में बदल दिया गया, जो आज दलितों और अन्य जरूरतमन्द लोगों को कर्ज देने का सबसे बड़ा स्रोत है। यह बात विशेष रूप से ध्यातव्य है कि भूमि-सुधार के फलस्वरूप स्थायी वास-भूमि का कागज प्राप्त होने के कारण दलितों, पिछड़ों और गरीबों को बैंक और कॉपरेटिव से कर्ज मिलना सुगम हो गया, क्योंकि अब वे जमानत के रूप में जमीन का कागज बैंक के पास गिरवी रख सकते थे।[52]

इतना ही नहीं, शासन में आने के बाद कम्युनिस्ट-सरकार ने सफाई कर्मचारियों के लिए प्रोविडेंट फण्ड की व्यवस्था की, आवास-निर्माण का कार्य अपने हाथों में लिया, अवकाश की सुविधा को नियमित किया और श्रमिक-हितों की निगरानी के लिए कार्य-समितियों की गठन की। इतना ही नहीं, आगे चलकर साठ साल से ऊपर के मजदूरों के लिए पेंशन का भी प्रावधान किया गया।[53]

क्रिस्टोफल लीटेन ने सप्रमाण दिखाया है कि केरल की स्कूली व्यवस्था ब्राह्मणों, सीरियन ईसाइयों, जकोबाइटों, मार्थामाइटों, नायरों और पिछड़े वर्ग के इसाइयों के अनुकूल थी, जबकि ईषवों, मुसलमानों अनुसूचित जातियों और अन्य जातियों के बेहद प्रतिकूल, जबकि इनकी आबादी केरल की कुल आबादी का 65% थी, पर शिक्षण-संस्थानों में इनकी संख्या नगण्य थी।[54]

इसी प्रसंग में यह भी विचारणीय है कि जातिवादी मानसिकता की जकड़न को तोड़कर समतावादी समाज के निर्माण में किस विचारधारा और संगठन की भूमिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण, प्रभावशाली और कारगर रही है। यद्यपि किसी समुदाय की चेतना का आकलन करना आसान काम नहीं है, पर इस दिशा में भी कुछ सार्थक काम हुए हैं। इस दृष्टि से के. सी. अलेक्जेंडर का शोधपत्र 'कास्ट मोबलाइजेशन एंड क्लास कांससनेस' (1973) आँखें खोलनेवाला है। इस सर्वेक्षण के लिए चार अलग-अलग क्षेत्रों का चयन किया गया। यह चयन कम्युनिस्ट-आंदोलन के प्रभाव का तुलनात्मक अध्ययन करने के उद्देश्य से किया गया। ये चारों क्षेत्र निम्नलिखित हैं-

1. कर्णाटक का मंडला तालुका (जहाँ कम्युनिस्ट गतिविधियाँ शून्य थीं)।
2. पश्चिमी तंजौर (तमिलनाडु) का ओरडनाथ (जहाँ कम्युनिस्ट गतिविधियाँ कमजोर थीं)।
3. पूर्वी तंजौर का तिरुतुराइपुंडी तालुका (जहाँ कम्युनिस्ट गतिविधियों की लम्बी परम्परा थी)।
4. केरल के अल्लेप्पी जिले का कुट्टनाड (जहाँ कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास की जड़ें लम्बी और गहरी थीं)।

इस सर्वेक्षण में उपर्युक्त चारों क्षेत्रों के विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों से कुछ प्रश्न पूछे गए, जिनमें कुछ यहाँ द्रष्टव्य हैं-

1. गाँव के होटल में नीची जाति के व्यक्ति से हर मुमकिन दूरी बनाकर बैठना चाहिए।
   इस वक्तव्य से असहमति व्यक्त करनेवाले लोगों की संख्या प्रथम क्षेत्र में 25%, दूसरे क्षेत्र में 74%, तीसरे क्षेत्र में 85% और चौथे क्षेत्र में 96% थी।
2. गाँव के मन्दिर में दलितों को प्रवेश की अनुमति नहीं देना बेहतर है।
   इस वक्तव्य से असहमति व्यक्त करनेवाले लोगों की संख्या प्रथम क्षेत्र में 31%, दूसरे क्षेत्र में 58%, तीसरे क्षेत्र में 78% और चौथे क्षेत्र में 98% थी।
3. दलित जातियों में जन्म लेना पूर्वजन्म के पाप का दुष्परिणाम है।
   इस वक्तव्य से असहमति व्यक्त करनेवाले लोगों की संख्या प्रथम क्षेत्र में 25%, दूसरे क्षेत्र में 37%, तीसरे क्षेत्र में 50% और चौथे क्षेत्र में 98% थी।
4. किसी स्त्री को अपने पति अथवा घर के किसी बुजुर्ग से सलाह लेकर वोट डालना चाहिए।
   इस वक्तव्य से असहमति व्यक्त करनेवाले लोगों की संख्या प्रथम क्षेत्र में 64%, दूसरे क्षेत्र में 43%, तीसरे क्षेत्र में 58% और चौथे क्षेत्र में 99% थी।
5. आप जीवन में जो चाहते हैं, उसकी प्राप्ति के लिए केवल ईश्वर पर निर्भर रहना बेवकूफी है।
   इस वक्तव्य से असहमति व्यक्त करनेवाले लोगों की संख्या प्रथम क्षेत्र में 59%, दूसरे क्षेत्र में 51%, तीसरे क्षेत्र में 59% और चौथे क्षेत्र में 99% थी।

हाल में इसी प्रकार का सर्वेक्षण एन. सी. ई. आर. और यूनिवर्सिटी ऑफ मार्लिन की ओर से किया गया है। यह सर्वे भी छुआछूत के मुद्दे पर आधारित है और इस सर्वे के अनुसार छुआछूत माननेवाली जातियों में सबसे अधिक ब्राह्मण हैं 52% और सबसे कम हैं अनुसूचित जातियाँ 15%। छुआछूत की विचारधारा से संक्रमित व्यक्तियों की संख्या की प्रतिशतता प्रान्तवार इस प्रकार है- मध्य प्रदेश 53%, हिमाचल प्रदेश 50%, छत्तीसगढ़ 48%, बिहार 47%, उत्तर प्रदेश 43%, महाराष्ट्र 4% और केरल 2%। उपर्युक्त सारे आँकड़ों को उपस्थित करने के बाद डॉ. बजरंग बिहारी तिवारी ने बिल्कुल ठीक लिखा है, "सर्वे के ये आँकड़े किसी व्याख्या की माँग नहीं करते, सामाजिक जड़ता को तोड़ने में कम्युनिस्ट आंदोलन का हासिल इस रूप में हमारे सामने है। जाति-व्यवस्था के समूलोच्छेद की कोई परियोजना इस विचारधारा से होकर ही बनती है और बनाई जा सकती है। सर्वांगीण मुक्ति की ऐसी संभावना समेटे इस विचारधारा की विडंबना यह है कि इसे मात्र आर्थिक समस्या को हल कर सकने वाली विचारधारा तक सीमित समझ लिया गया है।"[56] ओलिवर मेंडलसॉन और मारिका विकजियानी जैसे शोधार्थियों का भी निष्कर्ष है कि देश के अन्य प्रान्तों की तुलना में केरल के दलित बेहतर स्थिति में हैं। जिस केरल में जाति-व्यवस्था बर्बरतम रूप में विकसित हुई, जहाँ विवेकानन्द के अनुसार जातिप्रथा उन्मादी पागलपन की हद तक विकसित हुई[57] और जहाँ देखने भर से ही छूत लग जाती थी, वहाँ जाति-उत्पीड़न का अन्त क्या मामूली परिघटना है? यहाँ दलितों पर जितना बर्बर अत्याचार हुआ, उतना भारत के किसी दूसरे भाग में नहीं। शेष भारत से भिन्न यहाँ गुलामों का व्यापार होता था। केरल भारत का अकेला ऐसा राज्य था, जहाँ दलितों के पास एक इंच भी जमीन नहीं थी, यहाँ तक कि अन्त्येष्टि-कर्म के लिए भी नहीं। "यहाँ की जाति प्रथा अपनी जड़ता, क्रूरता और विचित्रता के लिए जानी जाती है। XXXXXX स्पर्श से तो छूत लगती ही थी। यहाँ देखने भर से छूत लग जाती थी। दो भिन्न जातियों के लोग कितनी दूरी बनाकर रहेंगे, यह तय था."[58] और, "पोशाक को लेकर जो अलिखित कानून कायम था उसके अनुसार चानार स्त्रियाँ कमर से ऊपर वस्त्र नहीं पहन सकती थीं। मतलब यह कि उन्हें अपने वक्ष ढकने की मनाही थी।"[59] ऐसे "घोर जातिवादी हिंसा वाले पारंपरिक समाज में जातिवादी उत्पीड़न का लगभग अंत मामूली परिघटना नहीं है। संरचनात्मक हिंसा के

उन्मूलन में वाम विचारधारा की गौरवशाली ऐतिहासिक भूमिका रही.... केरल के ठीक बगल तमिलनाडु में दलितों पर बदस्तूर जारी हिंसा से तुलना करने पर विचारधारा का महत्त्व और परिणाम समझ में आता है। आंदोलन तमिलनाडु में भी कम नहीं हुए और वे प्रखर रूप से ब्राह्मण विरोधी थे। लेकिन उनकी जमीन अस्मितावादी थी। इसमें जाति विशेष के वर्चस्व को हटाने की मंशा असंदिग्ध थी। लेकिन जाति उन्मूलन का लक्ष्य नहीं था। इससे ब्राह्मण वर्चस्व तो टूटा। लेकिन दलित उत्पीड़न का अंत नहीं हुआ। केरल में जाति की जमीन पर खड़े होकर जाति तंत्र का विरोध नहीं किया गया। पुख्ता वैचारिक आधार ने जाति उन्मूलन का पथ प्रशस्त किया। यहाँ जाति विशेष के विरोध और विस्थापन से संतोष नहीं किया गया।"[60] प्रसंगवश यहाँ बी. टी. रणदिवे की ये पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं, "जात-पांतविरोधी आंदोलन अगर कृषि-क्रांति के आंदोलन से अलग-थलग रखा जाएगा और अगर यह आंदोलन साम्राज्यवादविरोधी आंदोलन से भी अलग-थलग रहेगा तो इसकी क्या दशा होगी, इसे जातिविरोधी आंदोलन के महान नेता, पेरियार ई. वी. रामास्वामी की जीवन यात्रा से बखूबी समझा जा सकता है।"[61] यहाँ की साम्यवादी सरकार ने जमीन्दारी प्रथा और जातीय (कास्ट) उत्पीड़न के खिलाफ सशक्त अभियान चलाते हुए भूमि-सुधार लागू किया, शिक्षा में सुधार किया, सार्वजनिक वितरण-प्रणाली को मजबूत किया, सूदखोर महाजनों से गरीबों को बचाने के लिए कॉपरेटिव बैंक की स्थापना की तथा बुजुर्ग मजदूरों के लिए पेंशन की व्यवस्था की। इस प्रकार केरल की साम्यवादी पार्टी और सरकार ने दलित-मुक्ति को मानव-मुक्ति से अलग करके नहीं देखा। साम्यवादी सरकार के ऐसे हस्तक्षेपों के कारण ही आज केरल भारत का अकेला ऐसा प्रान्त है, जहाँ जाति-आधारित-हिंसा पूरी तरह से समाप्त हो चुकी है और साक्षरता की दर सबसे ऊँची हो गई है। बजरंग जी की सद्य:प्रकाशित पुस्तक 'हिंसा की जाति : जातिवादी हिंसा का सिलसिला'[62] पुस्तक से भी यह ध्वनित है कि वामपन्थी आन्दोलन और शासन के कारण केरल, बंगाल और त्रिपुरा में संरचनात्मक जातिगत हिंसा का उन्मूलन हो चुका है। क्या यह विचारणीय नहीं है कि वामपन्थी शासित क्षेत्रों में संरचनात्मक जातिगत हिंसा का अन्त क्यों हुआ ? दलित-विरोधी-हिंसा का अन्त क्या मामूली परिघटना है? क्या यह वामपन्थी आन्दोलन और शासन की शानदार उपलब्धि नहीं है?

मार्क्सवाद मानवता की सम्पूर्ण मुक्ति का वैज्ञानिक दर्शन है, यह हर तरह के शोषण का विरोधी है। यह अकारण नहीं है कि जो लोग पानी पी-पीकर मार्क्सवाद को दलित-मुक्ति का दुश्मन घोषित करते नहीं अघाते, वे दलित-प्रश्न को आर्थिक नीतियों और मुद्दों से पूरी तरह से काटकर केवल सामाजिक मुद्दों तक सीमित और संकुचित रखना चाहते हैं। हमें नहीं भूलना चाहिए कि दलित-अस्मितावादियों ने जिग्नेश मेवाणी की इस क्रान्तिकारी माँग का विरोध किया था कि अडाणी को हजारों एकड़ मुफ्त जमीन देनेवाली गुजरात-सरकार गुजरात के प्रत्येक दलित परिवार को भी पाँच-पाँच एकड़ मुफ्त जमीन क्यों नहीं दे सकती है? कुछ अस्मितावादी तो रक्त-शुद्धि के नाम पर अन्तर्जातीय विवाह का विरोध करते हुए जाति-व्यवस्था को अक्षुण्ण रखने के पक्ष में भी दलीलें देते हैं। केरल की कम्युनिस्ट सरकार ने दलित-मुक्ति के प्रश्न को सामाजिक दायरे तक ही सीमित और संकुचित नहीं रखा, बल्कि इसे शैक्षिक, आर्थिक आदि अनेक आयामों से सम्पृक्त किया। इस सन्दर्भ में बजरंग जी ने बिल्कुल ठीक लिखा है कि 'केरल में दलित मुक्ति की परिकल्पना इसीलिए संपूर्ण मुक्ति की अवधारणा के करीब दिखाई देती है'।[63] मार्क्सवाद और मार्क्सवादी पार्टियों को पानी पी-पीकर कोसनेवाले दलित-अस्मितावादियों को इस सवाल पर विचार करना चाहिए कि सम्पूर्ण भारत में दलितों की स्थिति उस केरल में सबसे अच्छी क्यों है, जिस केरल में उनकी स्थिति सर्वाधिक दयनीय थी। डॉ. बजरंग बिहारी तिवारी की इस पुस्तक में इन सारे पहलुओं का विस्तृत और ब्यौरेवार वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इतना ही नहीं, केरल में दलित-विरोधी-हिंसा पूरी तरह से समाप्त हो गई है। निस्सन्देह इस पुस्तक का ऐतिहासिक महत्त्व है। जो लोग पानी पी-पीकर साम्यवादियों को कोसते नहीं अघाते, उन्हें यह पुस्तक जरूर पढ़नी चाहिए।

सन्दर्भ :

1. अकु श्रीवास्तव (सम्पादक), नवोदय टाइम्स 8 मई 2023, प्रथम पृष्ठ
2. इण्डियन एक्सप्रेस, 15 मई 2023, पृ. 1
3. सी. बी. एस. ई. आधिकारिक प्रेस रिलीज क्रमांक : CBSE/CE@/RESULT-X/2023, दिनांक 12.05.2023, पृ. 9
4. सी. बी. एस. ई. आधिकारिक प्रेस रिलीज क्रमांक : CBSE/CE/RESULT-XII/2023, दिनांक 12.05.2023, पृ. 9
5. शशि शेखर (प्रधान सम्पादक), हिन्दुस्तान [मुद्रक तथा प्रकाशक राजीव बेओतरा द्वारा हिन्दुस्तान मीडिया वेन्चर्स लिमिटेड (एच एम बी एल) के पक्ष में एच टी मीडिया लिमिटेड प्रेस, प्लॉट नं. 8, उद्योग विहार, ग्रेटर नोएडा, जिला गौतम बुद्ध नगर (उ.प्र.) से मुद्रित एवं 18-20 कस्तूरबा गांधी मार्ग, नई दिल्ली-110001 से प्रकाशित], पृ. 1 और 4 (यह खबर पृ. 4 पर प्रकाशित है)
6. रामशरण शर्मा, शूद्रों का प्राचीन इतिहास (दासता और अशक्तता), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-2, सातवीं आवृत्ति 2009, पृ. 129
7. रामशरण शर्मा, शूद्रों का प्राचीन इतिहास (दासता और अशक्तता), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-2, सातवीं आवृत्ति 2009, पृ. 129
8. डॉ. एस.पी. कश्यप, पहचान की राजनीति, जातिवाद और सांप्रदायिकता (भाग-3 : जातिगत पहचान की राजनीति), सी. पी. आई. (एम.), दिल्ली राज्य कमिटी, अप्रैल 2016, पृ. 16
9. राहुल सांकृत्यायन, हिन्दी काव्य-धारा (अवतरणिका), किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1945, पृ. 40
10. बी. टी. रणदिवे, जाति और वर्ग (जाति, वर्ग और संपत्ति के संबंध), सी पी आई (एम प्रकाशन), नई दिल्ली-1, तृतीय संस्करण 2003, पृ. 7-8 से उद्धृत
11. बी. टी. रणदिवे, जाति और वर्ग (जाति, वर्ग और संपत्ति के संबंध), पृ. 7
12. बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (जाति-व्यवस्था और कम्युनिस्ट) नवारुण प्रकाशन, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश-12, प्रथम संस्करण जनवरी 2020, पृ. 128
13. बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (जाति-संस्कृति और साम्यवाद), पृ. 150
14. बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (कम्युनिस्ट आन्दोलन : जाति उन्मूलन की दिशा), पृ. 144
15. बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (भूमिका), पृ. 18
16. दिलीप एम. मेनन; कास्ट, नेशनलिज्म एण्ड कम्युनिज्म इन साउथ इण्डिया : मलबार 1900-1948, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, संस्करण 1994 (डिजिटल मुद्रित संस्करण 2008), पृ. 192 [बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (जाति संस्कृति और साम्यवाद), पृ. 152 से उद्धृत]
17. बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (जाति-व्यवस्था और कम्युनिस्ट), पृ. 135
18. बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (भूमि-सुधार के आयाम), पृ. 182-183
19. बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (जड़ीभूत सामाजिक संबंध और भूमि-सुधार), पृ. 189

20. बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (जाति-व्यवस्था और कम्युनिस्ट), पृ. 134
21. बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (जाति-व्यवस्था और कम्युनिस्ट), पृ. 135
22. बी. टी. रणदिवे, जाति और वर्ग (भूमिका), पृ. V-VI
23. बी. टी. रणदिवे, जाति और वर्ग (भूमिका), पृ. VII
24. बी. टी. रणदिवे, जाति और वर्ग (जाति, वर्ग और संपत्ति के संबंध), पृ. 15
25. बी. टी. रणदिवे, जाति और वर्ग (जाति, वर्ग और संपत्ति के संबंध), पृ. 10
26. दिलीप एम. मेनन; कास्ट, नेशनलिज्म एण्ड कम्युनिज्म इन साउथ इण्डिया : मलबार 1900-1948, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, संस्करण 1994 (डिजिटल मुद्रित संस्करण 2008), पृ. 192 [बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (जाति संस्कृति और साम्यवाद), पृ. 152 से उद्धृत]
27. बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (कम्युनिस्ट आंदोलन : जाति उन्मूलन की दिशा), पृ. 140
28. बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (जाति संस्कृति और साम्यवाद), पृ. 149
29. बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (आंदोलन का विस्तार : 'चेरमार महाजन सभा'), पृ. 107
30. बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (दलित जीवन में बदलाव), पृ. 218
31. वी. के. रामचन्द्रन और मधुर स्वामीनाथन, 'दलित हाउसहोल्ड्स इन विलेज इकोनॉमीज' पुस्तक में संकलित आर. रामकुमार का 'अग्रेरियन चेंज एण्ड चेंजेज इन सोशियो-इकॉनोमिक कण्डीशन्स ऑफ दलित हाउसहोल्ड्स इन ए मलबार विलेज' शीर्षक शोधालेख, तूलिका बुक्स, नई दिल्ली, 2014, पृ. 66 [बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (दलित जीवन में बदलाव), पृ. 218 से उद्धृत]
32. एफ. आर. फ्रनल, एम. एस. ए. राव, (सम्पादक), डोमिनेंस एण्ड स्टेट पावर इन मॉडर्न इण्डिया : डिक्लाइन ऑफ अ सोशल ऑर्डर, वॉल्युम 1,(1989) में शामिल के. सी. अलेक्जेंडर का 'कास्ट मोबलाइजेशन एंड क्लास कांशसनेस : द एमरजेंस ऑफ अग्रेरियन मूवमेन्ट्स इन केरल एण्ड तमिलनाडु' शीर्षक निबन्ध, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, पृष्ठ 380 [बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (दलित जीवन में बदलाव), पृ. 212 से उद्धृत]
33. वही, [बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (दलित जीवन में बदलाव), पृ. 212-214 से उद्धृत]
34. बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (पहली कम्युनिस्ट सरकार और दलित), पृ. 164-169
35. बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (पहली कम्युनिस्ट सरकार और दलित), पृ. 166
36. बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (पहली कम्युनिस्ट सरकार और दलित), पृ. 165
37. बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (पहली कम्युनिस्ट सरकार और दलित), पृ. 169
38. ए. एम. अब्राहम अयरूकुशील (स.) द दलित देसीयता : द केरल एक्सपीरियन्स इन डेवलपमेन्ट एण्ड क्लास

स्ट्रगल (पॉल चिरक्करोड, द दलित्स एण्ड द लेफ्ट इन केरल), द क्रिश्चियन इन्स्टिच्यूट फॉर द स्टडी ऑफ रिलीजन एण्ड सोसायटी, बंगलोर, 1990, पृ.56-57 [बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (दलित जीवन में बदलाव), पृ. 208 से उद्धृत]

39. वही (पी. शिवन्दन, इकोनॉमिक इमैनिसिपेशन थ्रू इंस्टिट्यूशनल रिफॉर्म एण्ड डेवलपमेन्ट प्रोग्राम्स : एक्सपीरियंस ऑफ द दलित कम्युनिटी इन केरल), पृ. 28 [बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (दलित जीवन में बदलाव), पृ. 207 से उद्धृत]
40. बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (सामाजिक पदानुक्रम और भू-संबंध), पृ. 176
41. बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (भूमि-सुधार का हासिल), पृ. 191
42. बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (दलित जीवन में बदलाव), पृ. 220
43. बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (भूमि-सुधार का हासिल), पृ. 195
44. बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (जड़ीभूत सामाजिक संबंध और भूमि-सुधार), पृ. 188
45. वी. के. रामचन्द्रन और मधुर स्वामीनाथन, 'दलित हाउसहोल्ड्स इन विलेज इकोनॉमीज' पुस्तक में संकलित आर. रामकुमार का 'अग्रेरियन चेंज एण्ड चेंजेज इन सोशियो-इकॉनोमिक कण्डीशन्स ऑफ दलित हाउसहोल्ड्स इन ए मलबार विलेज' शीर्षक शोधालेख, पृ. 68 [बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (आलोचनाओं के सम्मुख कम्युनिस्ट मुक्ति परियोजना), पृ. 205 से उद्धृत]
46. हजारीप्रसाद द्विवेदी, अशोक के फूल (वसंत आ गया है), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, अठारहवाँ संस्करण 1992, पृ. 18
47. जॉन पी. मेंचर, द लेसंस एण्ड नॉन लेसंस ऑफ केरल : एग्रीकल्चर लेबरर्स एण्ड पॉवर्टी, ईपीड्ब्ल्यू, वॉल्यूम 15, पृ. 1781-82 [बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (आलोचनाओं के सम्मुख कम्युनिस्ट मुक्ति परियोजना)], पृ. 205 से उद्धृत
48. पी. ईश्वरैया, द कम्युनिष्ट पार्टीज इन पॉवर एण्ड अग्रेरियन रिफॉर्म्स इन इण्डिया, एकेडेमिक फाउंडेशन, दिल्ली, 1993, पृ 147 [बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (आलोचनाओं के सम्मुख कम्युनिस्ट मुक्ति परियोजना), पृ. 205 से उद्धृत]
49. वी. के. रामचन्द्रन और मधुर स्वामीनाथन, 'दलित हाउसहोल्ड्स इन विलेज इकोनॉमीज' पुस्तक में संकलित पी. के. माइकल तरकान का 'लैण्ड रिलेसन्स इन कण्टेम्परेरी केरल : अ सर्वे' शीर्षक शोधालेख, पृ. 358 [तरकान के अनुसार यह मूल्यांकन उनके किसी पुराने निबन्ध से है, जिसे उन्होंने के. एन. राज के साथ मिलकर तैयार किया था। यह अंश आर. रामकुमार ने भी 'दलित हाउसहोल्ड्स इन विलेज इकोनॉमीज' पुस्तक में (पृ. 81) उद्धृत किया है। [बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (दलित जीवन में बदलाव), पृ. 221 से; पृ. 353 का चौवनवाँ सन्दर्भ (इण्डनोट) भी देखें]
50. बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (दलित जीवन में बदलाव), पृ. 221 से उद्धृत
51. वी. के. रामचन्द्रन और मधुर स्वामीनाथन, 'दलित हाउसहोल्ड्स इन विलेज इकोनॉमीज' पुस्तक में संकलित आर. रामकुमार का 'अग्रेरियन चेंज एण्ड चेंजेज इन सोशियो-इकॉनोमिक कण्डीशन्स ऑफ दलित हाउसहोल्ड्स इन ए मलबार विलेज' शीर्षक शोधालेख, पृ. 80 [बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (दलित जीवन में बदलाव), पृ. 221 से उद्धृत]
52. बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (आलोचनाओं के सम्मुख कम्युनिस्ट

मुक्ति परियोजना), पृ. 205-206
53. वी. के. रामचन्द्रन और मधुर स्वामीनाथन, 'दलित हाउसहोल्ड्स इन विलेज इकोनॉमीज' पुस्तक में संकलित आर. रामकुमार का 'अग्रेरियन चेंज एण्ड चेंजेज इन सोशियो-इकॉनोमिक कण्डीशन्स ऑफ दलित हाउसहोल्ड्स इन ए मलबार विलेज' शीर्षक शोधालेख, पृ. 69 [बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (भूमि-सुधार का हासिल), पृ. 200६ से उद्धृत]
54. जॉर्जेस क्रिस्टोफल लीटेन, द फर्स्ट कम्युनिष्ट मिनिस्ट्री इन केरल 1957-59, के. पी, बागची एण्ड कम्पनी, कलकत्ता, 1982, पृ. 35 [बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (पहली कम्युनिस्ट सरकार और दलित), पृ. 165 से उद्धृत]
55. बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (दलित जीवन में बदलाव), पृ. 223
56. ओलिवर मेंडलसन, मारिका विकजियानी, द अनटचेबल्स सबार्डिनेशन पॉवर्टी एण्ड द स्टेट इन मॉडर्न इण्डिया, कैम्ब्रिज यूनिर्वर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, 2000, पृ. 119 [बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (पहली कम्युनिस्ट सरकार और दलित), पृ. 158 से उद्धृत]
57. बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (जाति-व्यवस्था और कम्युनिस्ट), पृ. 131
58. बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (भूमिका), पृ. 9
59. बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (भूमिका), पृ.12
60. बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (दलित जीवन में बदलाव), पृ. 209-10
61. बी. टी. रणदिवे, जाति और वर्ग (जाति, वर्ग और संपत्ति के संबंध), पृ. 21
62. बजरंग बिहारी तिवारी, हिंसा की जाति : जातिवादी हिंसा का सिलसिला, परिकल्पना प्रकाशन, दिल्ली-84, प्रथम संस्करण 2023
63. बजरंग बिहारी तिवारी, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य (दलित जीवन में बदलाव), पृ. 220

टिप्पणी :

* शुद्ध रूप 'यथेष्ट' है, पर मूल अनूदित पाठ में 'यथेष्ठ' लिखा हुआ है। (S.I.C.)

❖❖❖

आलेख

उन्नीसवीं-बीसवीं सदी का बहुजन नवजागरण और हिंदी साहित्य

❍ दिनेश कुमार पाल✡

'शब्द' रचने की अपनी परम्परा होती है और 'शब्द' की अपनी परिभाषा भी होती है। किसी भी समाज के काल खण्ड को एक खेमे में समेटने की ताकत सिर्फ पारिभाषिक शब्दावली में ही होती है। 'शब्द' अपनी सम्पूर्णता में समाज को बांधकर रखता है, और उस समाज की अपनी तरह की व्याख्या भी करता है। 'शब्दों' की अपनी ताकत होती है। दलित और अछूत शब्द को एक पर्याय के रूप में देखा जाना चाहिए, क्योंकि दलित नाम से जितने भी आंदोलन चलाए गए वह सब अछूत जातियों के द्वारा ही चलाए गए। "दलित शब्द का पहला प्रयोग 19वीं शताब्दी में महात्मा जोतिराव फुले ने किया था। उन्होंने यह प्रयोग अछूत जातियों के संदर्भ में किया था, जो द्विज हिंदुओं के अत्याचारों से पीड़ित थीं। अंबेडकर ने भी 1920 और 1930 में अपने मराठी भाषणों में 'दलित' का प्रयोग किया था।"[1] 1972 में महाराष्ट्र में 'दलित पैंथर' नामक पार्टी की स्थापना की गयी, जिसमें व्यापक अर्थ में 'दलित' शब्द का प्रयोग किया गया।[2] महात्मा गांधी ने अछूत जातियों को 'हरिजन' नाम दिया। उन्होंने 1932 में 'ऑल इंडिया एंटी अनटचेबिलिटी लीग' का नाम बदल कर 'हरिजन सेवक संघ' रखा और उसी समय से अछूतों को नया नाम 'हरिजन' मिल गया।[3] गांधी द्वारा दिया गया यह नाम दलितों द्वारा स्वीकार नहीं किया गया। "19वीं शताब्दी में मद्रास में गैर-ब्राह्मणों का द्रविड़ आंदोलन अस्तित्व में आया। इसी समय वहाँ के अछूतों ने अपने को 'आदि द्रविड़' कहा और एक दलित दार्शनिक इयोथी टास ने 1892 में 'आदि द्रविड़ जनसभा' की स्थापना की।"[4] "यह आंदोलन बाद में कर्नाटक में 'आदि कर्नाटक' तथा आंध्रप्रदेश में 'आदि आंध्रा' के रूप में स्थापित हुआ। इन आंदोलनों का अर्थ अछूत जातियों द्वारा स्वयं को भारत के मूल निवासी के रूप में अपनी पहचान कायम करनी थी।"[5] "आदि हिंदू आंदोलन' के प्रवर्तक स्वामी अछूतानन्द हरिहर (1879-1933) थे और पंजाब में 'आदि धर्म' आंदोलन के संस्थापक बाबू मांगू राम मुगोवालिया (1886-1980) थे।"[6] "महात्मा जोतिबा फूले शायद पहले ऐसे आधुनिक विचारक थे जिन्होंने सभी उत्पादक जातियों के बारे में लिखा है। उन्होंने उनको 'शूद्र' और 'अतिशूद्र' के रूप में परिभाषित किया है।"[7] जो अस्वीकार्य है। "1984 के आसपास 'बहुजन समाज पार्टी' अस्तित्व में आई। बहुजन समाज पार्टी के राष्ट्रीय

✡ *शोध-छात्र, हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय प्रयागराज।*
मो. 9559547136; ई-मेल : dineshkumarpal6126@gmail.com
पता : बैरमपुर, बैरमपुर, कौशांबी, उत्तर प्रदेश, 212214

अध्यक्ष कांशीराम ने 'बहुजन' शब्द का प्रयोग अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़ी जातियों का उल्लेख करने के लिए ही किया था। 'बहुजन' का सीधा अर्थ 'बहुसंख्यक आबादी' से है।"[8] मैं हिन्दू क्यों नहीं हूँ' किताब में कांचा इलैया ने अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, और पिछड़ी जातियों के लिए 'दलित बहुजन'[9] शब्द का प्रयोग किया है। "डॉ. धर्मवीर ने जिन्हें संविधान में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, पिछड़ा वर्ग कहा गया है उन्हें, वे 'आजीवक' कहते हैं।"[10]

उपर्युक्त में विद्वानों द्वारा दिए गए नाम वर्तमान समय में प्रासंगिक नहीं रहे। वर्तमान समय में हमें नया शब्द खोजने की जरूरत है। जिससे भारत में निवास करने वाली बहुसंख्यक आबादी समाहित हो सके। भारत में निवास करने वाले बहुसंख्यक आबादी को 'बहुजन आजीवक' कहने से अपने में पूर्णता का बोध होता है। बहुजन का मतलब है भारत के मूलनिवासी और भारत में निवास करने वाले मूलनिवासियों की दार्शनिक, सांस्कृतिक, और धार्मिक पहचान 'आजीवक' दर्शन के रूप है। इसलिए 'बहुजन आजीवक' शब्द ही सर्वमान्य है।

हिन्दी भाषा में बहुजन नवजागरण को वैचारिक संकटों का सामना करना पड़ा था। "जब भी किसी समाज या देश में वैचारिक संकट आता है, उसे आगे का कोई रास्ता नहीं सूझता, असमंजस की स्थिति महसूस करता है, तो वह अपने निकटतम अतीत को टटोलता है, क्योंकि आज का वर्तमान ही कल का अतीत होता है और आज का वर्तमान बीते हुए कल का फल या सुफल।"[11] "हमारे पूर्वजों ने अपने समय में किस तरह संघर्ष किया, अनेक तरह की जटिलताओं के बीच परिवर्तन के रास्ते तलाश किये और वे एक बेहतर बदलाव की शुरुआत संभव कर सके। अपने वर्तमान के आलोक में यह सब जानना आज पहले से ज्यादा जरूरी है।"[12] बहुजन नवजागरण की एक विशाल और समृद्ध परम्परा रही है। उनमें कुछ प्रमुख हैं- गुरु घासीदास-छत्तीसगढ़ (1756-1850), महात्मा जोतिबा फूले- महाराष्ट्र (1827-1890), नारायण गुरु-केरल (1856-1928), अय्यनकाली- केरल(1863- 1941), बिरसा मुण्डा- झारखंड (1875-1900), पेरियार ई. वी. रामसामी- तमिलनाडू (1879-1973), स्वामी अछूतानन्द हरिहर-उत्तर प्रदेश (1879-1933), बाबू मांगू राम मुगोवालिया-पंजाब (1886-1980), संतराम बी.ए.- पंजाब (1886-1988), डॉ. भीमराव आंबेडकर- मध्यप्रदेश एवं महाराष्ट्र (1891-1956), सरदार ऊधम सिंह- पंजाब (1899-1940), मान्यवर कांशीराम - पंजाब (1934- 2006) इत्यादि। इन सभी समाज बहुजन आजीवक सुधारकों पर कबीर और रैदास का गहरा प्रभाव पड़ा।

उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी के बहुजन नवजागरण में भले ही प्रत्यक्ष रूप से बहुजन हिन्दी नवजागरण के केंद्र में नहीं रहा हो। लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दुत्व की शक्तियों से सांस्कृतिक, सामाजिक रूप से खूब लड़ाई की है। इसमें कुछ हद तक सफल भी हुए हैं। उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी का बहुजन नवजागरण अखिल भारतीय था, जिस में स्वामी अछूतानंद का आदिधर्मी आंदोलन, फूले, अम्बेडकर और पेरियार के आंदोलन, आदिवासी आंदोलन, नारायणा गुरु, गुरु घासीदास, संतराम बी.ए., मान्यवर कांशीराम और अय्यनकाली के आंदोलन प्रमुख रूप से आते हैं। हिन्दू नवजागरण की पृष्ठभूमि में अंग्रेजी साम्राज्य था; यानी बाहरी अंग्रेजी उपनिवेशवाद और उनका उद्देश्य था। ईसाई अस्मिता के समानांतर हिन्दू अस्मिता को सुदृढ़ करना। यही कारण है कि तत्कालीन राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्य धारा शूद्र और स्त्री प्रश्नों को स्थगित करने के पक्ष में थी। लेकिन बहुजन नवजागरण इस आंतरिक उपनिवेशवाद को स्थगित करने की स्थिति में नहीं था। बहुजन नवजागरण अंग्रेजों से आजादी के साथ-साथ आंतरिक विषमतामूलक व्यवस्था से आजादी भी चाहता था। इस तरह बहुजन नवजागरण उच्च वर्गीय नवजागरण के समानांतर चलने वाला एक स्वतंत्र आंदोलन था।

बहुजन नवजागरण के वैचारिक आधार में दो बातें बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। एक तो अंग्रेज प्राच्यविदों द्वारा खोजे गए भारत के अतीत सम्बन्धी ज्ञान, जिस से अंग्रेज इतिहासकारों के साथ-साथ द्विज और बहुजन इतिहासकार

प्रेरित थे। इस के साथ बहुजन महापुरुषों के अपने सामाजिक अनुभव थे। बहुजन नायक नई ऐतिहासिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक परिस्थिति में सदियों की शोषक और दमनकारी व्यवस्था में बुनियादी परिवर्तन कर भारतीय समाज के आधुनिकीकरण व लोकतंत्रीकरण ही उन का प्रमुख उद्देश्य था। बहुजन नवजागरण बहुत सुनियोजित और संगठित न होने के बावजूद अपने उद्देश्य में बहुत स्पष्ट था और अपने उद्देश्य की पूर्ति में भी काफी हद तक सफल भी हुआ था, खास कर से सामाजिक व सांस्कृतिक जागृति के क्षेत्र में राजनैतिक परिवर्तन में सफलता तो उस को बहुत नहीं मिल सकी। बहुजन आंदोलन के अंतर्गत विभिन्न नायकों खास रूप से फूले, पेरियार, अम्बेडकर, अछूतानंद, नारायणा गुरु, गुरु घासीदास, संतराम बी.ए., अय्यनकाली, बिरसा मुंडा, बाबू मांगूराम मुगोवालिया आदि ने प्रभूत मात्रा में साहित्य भी लिखा। यह साहित्य सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक बदलाव की मानसिकता व चेतना पैदा कर ने का सशक्त औजार भी बना। फलतः व्यापक पीड़ित और दमित जनता में सामाजिक व सांस्कृतिक जागृति लाने में और उसे संगठित करने में काफी हद तक सफल रहा। बहुजन नवजागरण परम्परागत वर्चस्वशील व्यवस्था का स्वतन्त्र विकल्प बनने में पूरी तरह सफल तो नहीं हुआ, लेकिन वैकल्पिक समाज और संस्कृति के वैचारिक सौंदर्य को रचने में उसे काफी हद तक सफलता अवश्य मिली। बाद के समय में बहुजन पीड़ित-दमित जनता इस नवजागरण का पूरी तरह संरक्षण नहीं कर सकी, किंतु इतना तो स्पष्ट है कि आज के बहुजन समाज के विभिन्न विमर्शों की पृष्ठभूमि में उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी का यह बहुजन नवजागरण ही है।

उन्नीसवीं-बीसवीं सदी के बहुजन नवजागरण का तत्कालीन हिंदी साहित्य पर भी असर दिखता है। हालांकि यह प्रभाव बहुत सकारात्मक नहीं बल्कि ज्यादेतर नकारात्मक रूप में ही पड़ता है। पेरियार के आत्मसम्मान आंदोलन का उत्तर प्रदेश(कानपुर) के ललई सिंह यादव में दिखता है। यह बड़ा ही सकारात्मक प्रभाव था। फूले का सीधे प्रभाव हिंदी साहित्य में कम ही दिखता है। हिंदी क्षेत्र में डॉ. अम्बेडकर के विचारों का द्विज उच्च वर्गों पर प्रभाव ज्यादेतर नकारात्मक और प्रतिक्रियात्मक रूप में ही दिखता है। सेपरेट एलेक्टरेट और पूना पैक्ट का प्रेमचंद पर बड़ा असर हुआ था। डॉ. अम्बेडकर के आंदोलनरत दलित के विकल्प में प्रेमचंद ने गांधी के हरिजन को ले कर खूब कहानियां और उपन्यास लिखे। इस के अलावे अछूतानंद के आदिधर्मी आंदोलन का भी प्रेमचंद पर इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने अछूतानंद के चरित्र को विकृत करने हेतु 1925 में 'रंगभूमि' उपन्यास ही लिख डाला। श्रीधर पाठक भी अछूतानंद के आदिधर्मी आंदोलन से प्रभावित होकर उनके खिलाफ एक कविता ही लिख डाली। संतराम बी.ए. के 'जाति पाँति तोड़क मंडल' का सूर्यकांत त्रिपाठी निराला पर इतना असर हुआ कि 1924 में निराला ने संतराम के खिलाफ 'वर्णाश्रम धर्म की वर्तमान स्थिति' (माधुरी में प्रकाशित) शीर्षक से लेख ही लिख डाला। इस के अलावा भी इस नवजागरण का असर हिंदी क्षेत्र में दिखता है। हिंदी क्षेत्र और साहित्य में पड़े इस नकारात्मक प्रभाव ने बहुजन नवजागरण और उस के प्रभाव को बहुत हद तक अवश्य कमजोर किया होगा।

गुरु घासीदास का बहुजन नवजागरण में बहुत बड़ा योगदान रहा था। उन्होंने कभी किसी के सामने झुकना नहीं सीखा, हाँ सम्मान जरूर करते थे। सत्य, ईमानदारी, सदाचारी जीवन पर बल देते थे। आधुनिक समाज सुधारकों में फूले का नाम पहले आता है। "किसी भी बड़े पद के लिए व्यक्ति का ब्राह्मण होना अनिवार्य था। इतना ही नहीं, बल्कि हत्या और बलात्कार जैसे जघन्य अपराध करने पर भी ब्राह्मणों को सिर्फ भर्त्सना करके छोड़ दिया जाता था, जबकि गैर-ब्राह्मणों को फांसी तक दे दी जाती थी।"[13] स्त्री शिक्षा, बाल विवाह, और विधवा पुनर्विवाह, जैसे महान सामाजिक कार्य फूले ने किया। स्त्रियों की शिक्षा के लिए 1848 में पहला स्कूल खोला। बहुजन आजीवकों के लिए स्कूल वा विधवाओं की अवैध सन्तान हेतु आश्रम खोला। "जचकी आश्रम

के पीछे की भावना तो उन्हें एक अद्वितीय महामानव ही बना देती है। यह आश्रम अनचाहे गर्भ धारण करने वाली स्त्रियों के लिए था, जिसमें बड़ी संख्या सवर्ण विधवाओं की थी। विधवा समस्या ब्राह्मण समाज की समस्या थी, न कि दलित समाज की। बाल विवाह और स्त्री शिक्षा के अभाव ने विधवा समस्या को अत्यंत जटिल बना दिया था। ऐसे विधवाएं सामान्यतया परिवार में अपने निकट परिजनों के द्वारा ही गर्भवती बना दी जाती थीं। फिर वे ही परिजन और परिवार उन्हें निष्कासित कर बेसहारा कर देते थे।"[14] 24 सितंबर 1873 ई. में फूले ने 'सत्यशोधक समाज' की स्थापना की। "महात्मा फुले का भी मत यही है कि भारत के दलित-शूद्र जातियाँ मूल निवासी जातियाँ हैं तथा आर्य जाति ईरानी मूल की।"[15]

एक तरफ बहुजन आजीवकों के समाज सुधारक बाल विवाह का विरोध कर रहे थे और इस प्रथा को अपराध मान रहे थे तो दूसरी ओर जिसे आधुनिक युग का महान लेखक, चिन्तक बताया जाता है, ऐसे लेखक रवीन्द्रनाथ टैगोर ने एक लेख "दि इंडियन आइडियल ऑफ मैरिज" में कहा है कि 'इच्छा प्रकृति की वह सर्वाधिक बलवती ताकत है, जिसके साथ भारत की विवाह-समस्या के समाधान का युद्ध हुआ है। इसलिए इस पर विजय प्राप्त करना आसान नहीं था। विशेष उम्र होती है, जब लड़के-लड़की के बीच यौन आकर्षण चरम पर पहुंच जाता है। इसलिए, यदि सामाजिक इच्छा के अनुसार विवाह होता है (न कि निजी पसंद के अनुसार), तो वह उसे खास से आयु के पहले ही कर दिया जाना चाहिए। भारत में बाल-विवाह की प्रथा इसी कारण से बनी है।' दूसरे शब्दों में, इसका अर्थ यह है कि एक स्त्री का विवाह उसके स्त्री होने से पहले ही हो जाना चाहिए।"[16]

कंदुकूरि वीरेश लिंगम ने वेश्यावृत्ति और दक्षिण भारत में रखैल रखने के रिवाज का घोर विरोध किया था। "दक्षिण में जातिवाद विरोधी आंदोलन के पहले प्रणेता नारायण गुरु थे, जिनका जन्म केरल की इड़वा जाति में हुआ था। कहा जाता है कि ब्राह्मणों के अपवित्र होने के लिए नायर जाति से 32 फीट, इड़वा से 64 फीट और पट्या जाति से 100 फीट की दूरी जरूरी होती थी।"[17] नारायण गुरु जनता से बराबर यही अपील करते थे कि वे लोककल्याणकारी कार्य किया करें।

इतिहास हमें आईना दिखाता है, अपने अतीत और वर्तमान को परखने के साथ-साथ भविष्य का भी रास्ता तैयार करता है। 20वीं शताब्दी में केरल में 'जाति संगठन' बनने शुरू हो गये थे। "अय्यनकाली का जन्म तिरुवनंतपुरम के उत्तर में 13 किलोमीटर आगे एक छोटे गांव बेंगनूर में 28 अगस्त 1863 को हुआ।"[18] उनके पिता का नाम अय्यन और माँ का माला था। काली अपने आठ बहन-भाइयों में सबसे बड़े थे। अय्यनकाली के पिता जमींदार पी.ओ. परमेश्वर पिल्लै के यहाँ हरवाही का काम करते थे। अय्यन की सेवा से प्रसन्न होकर परमेश्वर ने उन्हें 5 एकड़ जमीन दे दी। उस समय तक पुलयों के पास जमीन के नाम पर एक टुकड़ा भी नहीं होता था। अय्यन का परिवार खेती-बाड़ी का काम करते थे। अय्यनकाली का विवाह सन् 1888 में चेलम्मा के साथ हुआ। अय्यनकाली का विवाह जब चेलम्मा के साथ हुआ उस समय अय्यनकाली की उम्र पच्चीस वर्ष की थी। इनकी सात संतानें हुईं। अय्यनकाली काली का निधन 1941 में हुआ।

अय्यनकाली पढ़े लिखे नहीं थे, क्योंकि उस समय तक बहुजन आजीवकों के लिए स्कूल के दरवाजे बंद थे। फिर भी अय्यनकाली अपने चिन्तन एवं सामाजिक सरोकारों के आधार पर बड़ी कुशलता के साथ रणनीतियों से काम करते थे। अय्यनकाली अपने जीवन में 'संगठन' को महत्व देते रहे। उनको एकता की ताकत अच्छी तरह मालूम था। अय्यनकाली ने पुलय जातियों को इकट्ठा कर एक 'अय्यनकाली पद'[19](सेना) संगठन बनाया। ये संगठन उच्च वर्गों के लोगों को ईट का जवाब पत्थर से, हिंसा का जवाब हिंसा देने के लिए बनाया गया। अय्यनकाली अपने जाति के लोगों को 'मार्शल आर्ट का प्रशिक्षण' की व्यवस्था की। पुलय सामाजिक प्रतिरोध

को व्यक्त करने के लिए लोकगीतों और लोकनृत्य का सहारा लिया करते थे।

बहुजन आजीवकों के बुनियादी अधिकारों को लेकर संघर्षशील अय्यनकाली ने 1907 में 'साधु जन परिपालन संघम्' की स्थापना की। "यह संगठन मात्र पुलयों का न होकर सभी साधु जनों (गरीबों-वंचितों) का था। इस 'संघम्' का जो संविधान तैयार किया गया वह चौबीस अनुभागों में विभाजित था।"[20] इसमें बहुजन आजीवकों की शैक्षिक, आर्थिक और सामाजिक अधिकारों को प्राप्त करने की चिंता शामिल थी। इस 'संघम्' में अय्यनकाली ने जिन विशेष बातों पर जोर दिया, उन में स्वच्छता, सफाई, अनुशासन और ईश्वर में विश्वास। संघम् ने अपनी शुरुआती बैठक में सप्ताह में एक दिन (रविवार) को मजदूरों को अवकाश दिये जाने का निर्णय लिया गया। अवकाश के दिन स्त्री और पुरुष अपनी समस्याओं पर बात-चीत कर सकते थे।

"अय्यनकाली का सर्वाधिक जोर शिक्षा पर रहा। वे स्वयं स्कूल नहीं जा सकते थे, लेकिन यह जानते थे की शिक्षा में मुक्ति की संभावना मौजूद है। अय्यनकाली ने पुरजोर मांग की अछूत बच्चों को सरकारी स्कूल में प्रवेश दिया जाये। यह मांग पूरी होती नहीं दिखी तो उन्होंने स्वयं ही स्कूल खोलने का निर्णय लिया। 1940 में बेंगनूर में छप्परों वाला स्कूल बनकर तैयार हुआ। उसी रात नायरों ने स्कूल को जलाकर राख कर दिया।"[21] अय्यनकाली ने अपने बहुजन आजीवकों से कहा कि, "शिक्षा का अधिकार यूं ही नहीं मिलने वाला। इसके लिए उन्हें स्वयं आगे आकर संघर्ष करना होगा, जोखिम उठाना होगा। अय्यनकाली को पता था कि सवर्णों का मानस ऐसे ही नहीं बदलने वाला। उस समय के एक उदार पत्रकार और चिंतक रामकृष्ण पिल्लै जो प्रसिद्ध पत्र 'स्वदेशाभिमानी' के संपादक थे, ने 2 मार्च 1910 के अंक में लिखे संपादकीय में कहा कि प्रथाओं और व्यवहारों में पूर्ण समानता की मांग करने वाले अछूतों के पक्ष को समर्थन देने का कोई आधार नहीं बनता। खेतों में अनाज पैदा करने वाली जाति को पीढ़ियों से ज्ञान पैदा करने वाले लोगों के साथ एक ही स्कूल में एडमिशन देना एक जुटाठे में भैंस और घोड़े को नाधने से कहीं ज्यादा खराब है।"[22] "1910 वाले आदेश के मद्देनजर पुलय बच्चों का स्कूल में प्रवेश सुरक्षित कराने के मकसद से अय्यनकाली ओरुत्तम्बलम के स्कूल में पंचमी नामक एक बालिका को ले गये। पंचमी पुजारी अध्ययन की बेटी थी। इलाके के नायरों ने इसका घनघोर विरोध किया।"[23] अय्यनकाली पर हमला किया गया और साथ ही साथ स्कूल की पवित्रता को बनाए रखने के लिए स्कूल की बिल्डिंग में आग लगा दी गई।

"अछूत स्त्रियां और पुरुष कमर से ऊपर और घुटने के नीचे का हिस्सा ढक नहीं सकते थे। अय्यनकाली इस बाध्यता को गुलामी का सबूत मानते थे। पुलय स्त्रियाँ कमर से ऊपर का हिस्सा ढकने के लिए मनकों वाली माला पहना करती थीं। इसे 'कल्लुमाला' कहा जाता था।... स्त्रियों को ढेर सारी मालाएं लादनी पड़ती थीं तब कहीं जाकर अंग-विशेष ढक पाते थे।"[24] "कल्लुमाला संघर्ष 1914 में शुरू हुआ। अय्यनकाली ने अपने समुदाय की स्त्रियों से कहा कि वे गुलामी के प्रतीकों को उतार फेंके। दक्षिण त्रावणकोर की पुलय स्त्रियों ने ऐसी मालाएं फेंक दीं और उपरिवस्त्र (ब्लाउज) पहनना शुरू कर दिया। अय्यनकाली के आह्वान पर पुलय पुरुषों ने चप्पल-जूते पहनना और छते का इस्तेमाल आरंभ कर दिया। नायरों को अछूतों का यह साहस बहुत आपत्तिजनक लगा। लेकिन अय्यनकाली की संगठन क्षमता और तैयारी के सामने वे इस परिवर्तन को रोक नहीं पाये। अभियान सफल रहा।"[25] पुलय स्त्रियों ने सार्वजनिक रूप से कल्लुमाला उतार फेंकी। अय्यनकाली के नेतृत्व में केरल में बहुजन आजीवकों के संघर्षों के बलबूते सामाजिक मुक्ति की ऐतिहासिक विजय हुई।

"साधु जन परिपालन संघम्' के तत्वावधान में दलितों के लिए 'सोशल कोर्ट' या 'कम्युनिटी कोर्ट' की स्थापना हुई। इसका मुख्यालय संघम् का (बेंगनूर) हेड ऑफिस था। संघम् के तमाम शाखाओं में कोर्ट की प्रशाखाएं स्थापित की गई थीं। अय्यनकाली इसके मुख्य न्यायाधीश थे। सरकारी नियम-कानून ही 'सामाजिक

अदालतों' के आधार थे।"[26] बहुजन आजीवकों को सार्वजनिक मार्ग पर चलना, बैलगाड़ी पर चलना, प्रतिबंधित रास्तों पर चलना, बाजार में जाने के लिए संघर्ष, 'साधु जन परिपालन संघम्' की स्थापना, 1904 में बेंगनूर में स्कूल की स्थापना, स्त्री शिक्षा पर बल देना, सरकार से बहुजन आजीवक बच्चों को वजीफा की मांग, किसान और मजदूरों के बच्चों की स्कूल में प्रवेश, सरकारी नौकरियों में आरक्षण की मांग, परती जमीन का बहुजन आजीवकों में वितरण की मांग, संघम् की तरफ से मलयालम में एक मासिक पत्रिका निकालना, उच्च शिक्षा की व्यवस्था, छात्रावास की निर्माण, शराब पर पाबंदी इत्यादि सराहनीय कार्य अय्यनकाली के संघर्षों, आन्दोलनों और अन्यान्य प्रयासों का सकारात्मक परिणाम हैं।

पेरियार के आत्मसम्मान आंदोलन (सेल्फ रेस्पेक्ट मूवमेंट) ने द्रविड़ संस्कृति का अभूतपूर्व विकास किया है। उन्होंने द्रविड़ क्षेत्र में जो विचार-प्रक्रिया (लाइन ऑफ थिंकिंग) दी, वह आज यथावत् रूप से विकसित होती हुई समृद्ध हो रही है। पेरियार कबीर की तरह ही विद्रोही स्वभाव के थे। पेरियार गृहस्थ जीवन में विश्वास करते हैं। डॉक्टर आम्बेडकर की तरह उन्होंने पराये धर्म में धर्मान्तरण नहीं किया। पेरियार ही नहीं डॉक्टर आम्बेडकर को छोड़कर किसी बहुजन आजीवक ने धर्मान्तरण नहीं किया। पेरियार आम्बेडकर के धर्मान्तरण के भी खिलाफ थे, क्योंकि उनको मालूम था कि जहाँ आम्बेडकर धर्मान्तरित होकर जा रहे हैं वहाँ पहले से द्विजों ने कब्जा कर रखा है। पेरियार अपने चिन्तन से कभी भी समझौता नहीं किया। वे अपने जीवन में सूत भर डिगे नहीं। "कानपुर की सभा में उन्होंने आह्वान किया कि अगर डॉक्टर आंबेडकर के सपनों का भारत बनाना है तो 'ब्राह्मण' और 'ब्राह्मणवाद' से बचो, बल्कि उसे नष्ट कर दो।"[27] उनका कहना था की रामायण की रचना ब्राह्मणों ने उत्तर-संस्कृति को दक्षिण-संस्कृति के बरक्स श्रेष्ठ दिखाने के लिए की थी। "उन्होंने दक्षिण की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक तस्वीर को हमेशा के लिए पूरी तरह उलट-पुलट दिया। पेरियार के चिंतन की दो बहुत बड़ी खूबियाँ थी, एक तो वे स्त्री-स्वतंत्रता और समानता के प्रबल समर्थक थे और दूसरी बात यह कि प्रबल ब्राह्मणवादी व्यवस्था का जमकर विरोध करते थे।... वे विवाह में अपव्यय के घोर विरोधी थे। उनका मानना था कि इस रकम को बैंक में जमा कर दिया जाए, जिससे आगे बच्चों की बेहतर परवरिश और उनकी शिक्षा-दीक्षा में उसका सदुपयोग हो सके। वे विवाह के अवसर पर संबोधित करते हुए लड़के-लड़की से अपील करते थे कि पाँच वर्षों तक बच्चे पैदा न करें। वे वैवाहिक अनुष्ठान की जगह मर्यादा विवाह कराते। ऐसा विवाह संबंध तर्कशीलता पर आधारित था। उन्होंने 1921 की जनगणना से विधवाओं की संख्या उजागर कर यह बताया कि 26,38,778 विधवाएं हैं। पुरुष जानबूझकर उनका पुनर्विवाह नहीं कराते, जिससे वे उनकी दासियां बनी रहें और वे मनमाना शोषण करते रहे। वे बहु-विवाह प्रथा के भी विरोधी थे।"[28] 1929 में चेंगलपट्टू के 'स्वाभिमान अधिवेशन' में यह प्रस्ताव पारित कराया- "महिलाओं को संपत्ति के लिए और व्यावसाय अथवा नौकरी में सुविधाओं और अधिकारों और उत्तराधिकार के विशेषाधिकार के लिए पुरुषों के बराबर अधिकार दिए जाने चाहिए।"[29] उनका कहना था कि स्कूलों में शिक्षिकाओं के भी पद होने चाहिए और महिलाओं को आरक्षण भी दिया जाना चाहिए। उन्होंने नर्सिंग, पॉलिटेक्निक और इंजीनियरिंग ऐसी अनेक संस्थाएं स्थापित कीं। पेरियार महिला रोजगार के प्रबल समर्थक थे। 1925 में 'आत्मसम्मान आन्दोलन' की स्थापना की और 'सच्ची रामायण' लिखी। पेरियार का "उद्देश्य और संकल्प था कि सत्ता गैर-ब्राह्मणों के हाथ में जाये।"[30] पेरियार अंग्रेज सरकार के प्रबल समर्थक थे। उनकी चिंता थी कि, "अंग्रेज देर से आए और पहले चले गए।"[31]

भारतेन्दु युग के किसी भी सम्पादक ने अपनी पत्रिका में बहुजन आजीवकों की समस्या पर बात नहीं की और न ही उनके उद्धार के लिए आवाज उठाई। डॉ. वीर भारत तलवार ने लिखा है, "19वीं सदी के आखिरी दो दशकों में और 20वीं सदी के पहले दशक में हिन्दुओं की जातीयता के बारे में चिंता करना हिन्दी नवजागरण

के लेखकों का मानो अनिवार्य कर्त्तव्य हो गया था।"[32] स्वामी अछूतानंद हरिहर जी का 'आदि हिन्दू आन्दोलन' बहुजन नवजागरण का आखिल भारतीय आन्दोलन था। स्वामी जी का आन्दोलन धार्मिक और सामाजिक सुध ार का साहित्यिक आंदोलन था। स्वामी जी का व्यक्तित्व बहुआयामी था। वे नेता, कवि, संपादक, नाटककार और समाज-सुधारक थे। उन्होंने लोक काव्य की शैली में सामाजिक तथा ऐतिहासिक विषयों पर काव्य पुस्तकें लिखीं। 'मायानंद बलिदान', 'रामराज्य' और 'देवासुर संग्राम' जैसे नाटक लिखे। उनकी किताबें घर-घर में पढ़ी जाती थीं। इन किताबों ने बहुजन वर्गों में क्रांतिकारी नवजागरण किया था। स्वामी अछूतानंद हरिहर जी ने कानपुर में 'आदि हिंदू प्रेस' नाम से अपना प्रिंटिंग प्रेस स्थापित किया और अपने ही प्रेस से 'आदि हिंदू' और 'अछूत' पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन भी किया। 'आदि हिन्दू' के पत्र का उल्लेख समय-समय पर डॉ. आम्बेडकर करते रहते थे। इस बहुजन नवजागरण आन्दोलन के साहित्यिक आन्दोलन ने अपने पाठक, लेखक, और सामाजिक चिंतक पैदा किये।

सामाजिक भेद-भाव और ऊंच-नीच का कारण सिर्फ 'द्विज' है। ऊंच-नीच, भेद-भाव का शिकार सिर्फ उत्तर प्रदेश ही नहीं, अपितु पूरा का पूरा देश था। उनीसवीं और बीसवीं शताब्दी के सामाजिक सुधार के लिए चलाए गए आंदोलनों से यह प्रदेश करीब-करीब अछूता रहा है। दक्षिण भारतीय राज्यों की तरह उत्तर भारत के राज्यों में कोई सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक सुधारों का बहुजन आन्दोलन नहीं पनप पाया था और न ही फुले, अय्ययनकालि, डॉ. आंबेडकर या पेरियार जैसा बहुजन नेतृत्व उभर पाया। द्विज धर्म सामाजिक असमानता को पोषित करता है। शास्त्र जनमानस को विवेक शून्य बना देता है। और सोचने विचारने की शक्ति को छीन लेता है। 'सत्यशोधक समाज' के नेता मुकुंदराव पाटिल ने लिखा था, "भारत एक विचित्र देश है जहाँ तरह-तरह के लोग रहते हैं, जो अपने धर्म, विचारों, व्यवहारों और समझ के आधार पर अनेक भागों में बंटे हुए हैं। लेकिन साफ-साफ कहा जाए तो केवल दो ही श्रेणियाँ हैं- बहुसंख्यक निचली जातियाँ, जिनसे उनके मनुष्य होने के सामान्य अधिकार भी छीन लिए गए हैं। दूसरी विशेषाधिकार प्राप्त ऊंची जातियाँ जो खुद को दूसरों से श्रेष्ठतर मानती हैं, और बहुसंख्यक जातियों के श्रम के बल पर समस्त सुख-सुविधाओं का आनंद लेती हैं। एक का सुख दूसरे के लिए मुसीबत है, यही उनका संबंध है।"[33]

"दलित-बहुजन दर्शन का केंद्र-बिंदु मडिगा/चमारों की विश्वदृष्टि ही है।"[34] "स्वामी अछूतानंद हरिहर चमार के जाति थे। पिता का नाम था, मोतीराम तथा माँ थीं रामप्यारी। माता-पिता ने उनका नाम हीरालाल रखा था। सौरिख गांव में ब्राह्मणों तथा दूसरी सवर्ण जातियों का बोलबाला था। एक बार उनके पिता और चाचा का ब्राह्मणों से झगड़ा हुआ था। गाँव वाले दलितों को किसी भी प्रकार की छूट देने को तैयार न थे। तंग आकर मोतीराम और उनके भाइयों ने सौरिख छोड़ दिया। पलायित होकर वे मैनपुरी जिले की तहसील सिरसागंज के उमरी गाँव में आ बसे, जहाँ उनके सजातीय लोगों का संख्यानुपात अपेक्षाकृत अधिक था।"[35] हीरालाल के पिता ने उनका दाखिला उमरी की प्राथमिक पाठशाला में कराने का निर्णय लिया। जब वे हीरालाल को लेकर पाठशाला पहुंचे तो वहाँ मौजूद ब्राह्मण अध्यापक एक अछूत बालक को देखकर आनाकानी करने लगा- "तुम्हारी जात वालों का काम-धंधा पहले से तय है। उसके लिए तुम्हें अपने बच्चे को पढ़ाना आवश्यक नहीं है। दूसरे एक अछूत बालक को दाखिला देकर मैं अपने विद्यालय की बदनामी नहीं करना चाहता।"[36] पिता के निधन के बाद वे अपने अविवाहित चाचा मथुरा प्रसाद के साथ नसीराबाद, अजमेर में आकर रहने लगे, जो उन दिनों फौज में सूबेदार थे। उन दिनों ब्रिटिश सेना में कार्यरत दलितों के बच्चों को शिक्षित करने की जिम्मेदारी ब्रिटिश सरकार या सेना की थी। हीरालाल के चाचा की आस्था कबीरपंथ में थी। उनके यहाँ रविदासियों और कबीरपंथियों का निरंतर आना-जाना लगा रहता था। 24 वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने हिंदी, उर्दू के अलावा

संस्कृत, गुरमुखी, मराठी, गुजराती और बांग्ला भाषा का ज्ञान अर्जित कर लिया। युवावस्था में उनका विवाह इटावा जिले के पीधासर गाँव की कन्या दुर्गाबाई से हो गया। उसके बाद पीधासर उनका अस्थायी ठिकाना बन गया। दुर्गाबाई ने उन्होंने तीन बेटियों, विद्याबाई, शांतीबाई और सुशीलाबाई को जन्म दिया। दुर्गाबाई उनकी सच्ची जीवनसंगिनी सिद्ध हुई। वे हरिहरानंद के साथ दलित बस्तियों की यात्रा करतीं। वहाँ दलित स्त्रियों को समझातीं। उन्हें अपने बच्चों को पढ़ाने की प्रेरणा देतीं। उनमें आत्मसम्मान की भावना जगातीं। धीरे-धीरे दलित बस्तियों में उनका प्रभाव बढ़ने लगा। लोग तन-मन-धन के साथ उनकी मदद को आगे आने लगे।

1905 में आर्यसमाजी स्वामी सच्चिदानंद से स्वामी अछूतानंद उर्फ हरिहरानंद का संपर्क हुआ। आर्य समाज जाति भेद-भाव नहीं मानता था और अछूतों के लिए हॉस्टल का निर्माण करता था। इससे प्रभावित होकर हरिहरानंद ने 1905 में आर्यसमाज के अजमेर कार्यालय में विधिवत् रूप से आर्यसमाजी के रूप में दीक्षा ग्रहण कर ली। स्वामी जी आर्य समाज में रहते हुए वेदादि ग्रन्थों का गंभीर अध्ययन किया। आर्यसमाज के महत्त्वपूर्ण कार्यक्रमों में से एक शिक्षा का प्रसार भी था। वे अछूत बस्तियों में जाकर शिक्षा का प्रचार करने लगे। इसी बीच उन्होंने आगरा में 'आल इंडिया जाटव महासभा' की स्थापना की। आर्यसमाज के प्रचारक के रूप में उन्होंने देश के विभिन्न हिस्सों की यात्रा की। राहुल सांकृत्यायन और स्वामी अछूतानंद में एक समानता थी घुमक्कड़ी स्वभाव। आर्य समाज का असली उद्देश्य हिंदुओं के धर्मांतरण पर रोक लगाना था। जातीय उत्पीड़न और भेदभाव से आहत शूद्र इस्लाम और ईसाई धर्म की ओर आकर्षित हो रहे थे। इससे सवर्ण हिंदुओं के आगे अल्पसंख्यक होने का खतरा मंडराने लगा था। आर्यसमाज धर्मांतरित हिंदुओं की वापसी के लिए शुद्धि कार्यक्रम चलाता था। लेकिन शुद्धि के बाद हिंदू धर्म में लौटे हिंदुओं के लिए उसकी कोई विशिष्ट नीति नहीं थी। धर्म में वापस आए हिंदुओं को पुनः उसी गलीच जाति-व्यवस्था के बीच लौटना पड़ता था, जिससे क्षुब्ध होकर उन्होंने या उनके पूर्वजों ने धर्मांतरण का सहारा लिया था। द्विज धर्म में वापस लौटे व्यक्तियों को ससम्मान जीवन जीने के अवसर प्राप्त हों, इसकी ओर से वह पूर्णतः उदासीन था। सवर्ण हिंदू दलितों और पिछड़ों का उपयोग सांप्रदायिक संघर्ष की स्थिति में मुस्लिमों से सामना करने के लिए करना चाहते हैं। अछूतों के बीच शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए उन्होंने अपने गृहनगर मैनपुरी में स्कूल खोलने का फैसला किया। उसके लिए समाज के सभी वर्गों की ओर से दान राशि प्राप्त हुई। उनकी पत्नी दुर्गाबाई के पास आभूषण के नाम पर एकमात्र अंगूठी थी। उन्होंने उसे भी स्कूल के लिए दान कर दिया था। 1912 में स्कूल के उद्घाटन के अवसर पर वे मैनपुरी पहुंचे। कार्यक्रम का आयोजन स्थानीय आर्यसमाजी कार्यकर्ताओं की ओर से किया गया। समारोह स्थल पर उन्होंने जो देखा कि उससे वे हैरान रह गए। आर्यसमाज के प्रति मोह एकाएक भंग हो गया। उन्होंने देखा कि समारोह में ऊंची जाति के बच्चों के बैठने के लिए कालीन का इंतजाम था। जबकि अछूत बच्चों को सीधे जमीन पर बिठाया गया था। इससे स्वामी अछूतानंद का आर्यसमाज से मोह-भंग होना स्वाभाविक था। 1912 में मेरठ में आयोजित एक सभा में स्वामी अछूतानंद ने लोगों को संबोधित करते हुए कहा था कि आर्यसमाज का शुद्धिकरण अभियान, वैदिक धर्म के नाम पर मुस्लिमों और ईसाइयों से ब्राह्मणवाद को बचाए रखने का प्रपंच मात्र है। उसका दर्शन और 'शुद्धि' अभियान अज्ञानी जनता को गुमराह करने वाले हैं। इस तरह आर्यसमाज न केवल इतिहास का दुश्मन है, अपितु सत्य का हत्यारा भी है। उसका एकमात्र उद्देश्य हिंदुओं, मुसलमानों और ईसाइयों के बीच वैर-भाव को बढ़ावा देना, प्रकारांतर में उन्हें (बहुसंख्यक गैरसवर्णों को) वेदों और ब्राह्मणों का गुलाम बनाए रखना है। "1910 के दशक में आर्य समाज के नेताओं ने दलित जातियों के लोगों को यह आश्वासन दिया था कि वे निम्न जातियों को सामाजिक रूप से ऊपर उठाने का काम करेंगे, उनके लिए स्कूल और छात्रावास स्थापित करेंगे और अछूत छात्रों को छात्रवृत्ति देंगे, किन्तु असल में उन्होंने शुद्धि के माध्यम से अछूतों को हिन्दू

वर्णव्यवस्था में बनाए रखने की योजना बनाई थी। इसलिए 1920 के दशक की शुरुआत में ही शिक्षित आर्य समाजी अछूतों ने यह तर्क देकर कि अछूत जातियों के लोग आदि हिन्दू थे, आर्य समाज से नाता तोड़ लिया था। आर्य समाज ने असल में तुर्क साम्राज्य में पश्चिमी हस्तक्षेप का विरोध करने के लिए शुरू हुए खिलाफत आंदोलन के बाद मुस्लिमों के बीच उत्पन्न धार्मिक उन्माद की प्रतिक्रिया में शुद्धि आन्दोलन चलाया था, जिसका ध्येय उन अछूतों की शुद्धि करके उन्हें फिर से हिन्दू बनाना था, जो मुसलमान बन गए थे।"[37]

1917 में उन्होंने दिल्ली में देवीदास, जानकीदास, जगतराम आदि नेताओं के साथ मिलकर 'अखिल भारतीय अछूत महासभा' की नींव रखी। उसी दौरान उन्होंने 'अछूत' शब्द की नई व्याख्या प्रस्तुत की। सामाजिक आंदोलन का राजनीतिक विस्तार 1919 में ब्रिटिश सरकार ने भारत में 'कम्यूनल अवार्ड' लागू किया था। उसके अनुसार धार्मिक संप्रदायों की संख्या के आधार पर उन्हें राजनीतिक संस्थाओं में प्रतिनिधित्व दिया जाना था। इसलिए हर संप्रदाय अपनी अधिक से अधिक संख्या बताने में लगा था। आर्यसमाज द्वारा चलाया जा रहा शुद्धि आंदोलन भी उसी से प्रेरित था। वह धार्मिक से ज्यादा राजनीतिक अभियान था। इस तरह 1920 के दशक से ही आर्यसमाज का इस्तेमाल राजनीति के लिए होने लगा था। स्वामी अछूतानंद सहित पढ़े-लिखे अछूत नेताओं पर उसका सकारात्मक असर पड़ा था। वे संगठन की ताकत को समझने लगे थे।

अक्टूबर 1921 में 'वाल्स के राजकुमार' एडवर्ड अष्टम, अपने पांच महीने लंबे दौर पर भारत पहुंचे थे। कांग्रेस उनका बहिष्कार कर रही थी। जबकि डॉ. आंबेडकर सहित लगभग सभी बड़े दलित नेता अपनी मांगों को ब्रिटिश सरकार तक पहुंचाने के लिए उसे अच्छा अवसर मान रहे थे। उनका मानना था कि कांग्रेस तथा दूसरे सवर्ण नेता 'वाल्स के राजकुमार' का विरोध निहित स्वार्थों के लिए कर रहे हैं। राजकुमार के स्वागत के लिए स्वामी अछूतानंद ने 1922 में दिल्ली में 'विराट अछूत सम्मेलन' का आयोजन किया, जिसमें उन्हें मुख्य अतिथि के रूप में आमंत्रित किया गया था। कैथरिन मेयो ने अपनी पुस्तक 'मदर इण्डिया' में लिखा है कि "आदिवासी सम्मेलन में देश में 'प्रिन्स आफ वेल्स' का स्वागत करने वाले इन लोगों की संख्या के 25000 लिखी है।"[38]

"सन 1922 में असहयोग आन्दोलन के बाद भारत में इंग्लैंडके युवराज प्रिंस ऑफ वेल्स पधारे और कांग्रेस के लीडरों ने उनका बायकाट किया। स्वामी जी इस समय दिल्ली में थे। उन्हें यह अच्छा नहीं लगा। उन्होंने इस अवसर पर दिल्ली में अछूतों का एक बहुत बड़ा जलसा करके उसमें घोषित किया, 'भाइयों! हम लोग भारत के प्राचीन निवासी आदि हिन्दू हैं। आर्य द्विजातीय सब विदेशी हैं। इन लोगों ने हमें नीच, अछूत और गुलाम बना रखा है। हमें इन लोगों के फैलाए हुए भ्रमजाल से निकलकर अपने पैरों पे खड़े होकर अपने सारे मुल्की हकों को हासिल करना चाहिए। हमें ब्रिटिश सरकार के साथ विद्रोह नहीं करना चाहिए। हमें युवराज का स्वागत करना चाहिए और इंग्लैंड की सरकार से अपने राजनीतिक अधिकारों की मांग करनी चाहिए।' कहना न होगा कि स्वामी जी की इस घोषणा का अछूत जनता पर जादू का सा प्रभाव पड़ा। लाखों अछूतों ने युवराज का शानदार स्वागत किया, और 'आदि हिन्दू' शब्द लोगों के कानों में गूँज उठा।"[39] राजकुमार के सम्मान में भाषण देते हुए स्वामी अछूतानंद ने 'मुल्की हक'(राष्ट्रीय अधिकार) की आवाज उठाते हुए दलितों की दुर्दशा का मामला उठाया। अपने भाषण में दूर-दूर से आए दलितों को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा था- "बाहर से आए आर्य हमलावरों ने हमें दबाया हुआ था। उन्होंने हमें गुलामी और छुआछूत की दहलीज पर पटक दिया था। अब हमें अपने दमन के विरुद्ध आवाज उठानी होगी। इस देश का मूल निवासी होने के कारण हमें अपने 'मुल्की हक' की मांग करनी होगी। हमें ब्रिटिश सरकार के खिलाफ विद्रोह करने के बजाए, राजकुमार का स्वागत करना होगा।"[40]

"ऐसा था उनका उत्साह। उनमें से बहुत-से किसी तरह दिल्ली चलकर आए थे। वह 25 हजार अछूतों

की भीड़ थी, जो प्रिंस के आने की प्रतीक्षा कर रही थी। उन्हें देखने के लिए सभी दिशाओं से अछूत लोगों का रेला आया था। देश के ये साधारण लोग राजनीति के बारे में कुछ भी नहीं जानते। परन्तु, वे बस मित्रता को समझते हैं; जो उन्हें उनके कामों में दिखती थी। इसलिए, वे सब सड़कों पर अपने प्रिंस की एक झलक पाने के लिए आंखों में आस लिए प्रतीक्षा कर रहे थे। अंततः प्रिंस आए ग्रैंड ट्रंक रोड से नीचे दिल्ली गेट पर। मेजबान अछूतों के बीच। एक ने खड़े होकर पहले से भी ऊंचा झंडा फहराया। श्युवराज महाराज की जय! राजा के बेटे की जय!! उन सब ने मिलकर एक साथ नारा लगाया। चिल्लाते-चिल्लाते उनके गले फट गए थे। प्रिंस ने कार रोकने का आदेश दिया। जबकि, प्रिंस के इस स्वागत को देख कर उच्च जातीय भारतीय दर्शकों को आश्चर्य हुआ और वे प्रिंस को उनका राजसी सम्मान न देने के कारण अपने आप में खिन्न हो गए। इसके बाद अछूतों के एक प्रतिनिधि ने आगे बढ़कर श्छह करोड़श में अछूतों की ओर से प्रेम और निष्ठा का एक विनम्र संक्षिप्त भाषण दिया। जिसमें युवराज से प्रार्थना की गई कि वे अछूतों के हित में अपने सम्राट पिता से निवेदन करें कि वे हमारे जीवन को उन लोगों के हाथों में कभी न छोड़ें, जो हमसे घृणा करते हैं और हमें गुलाम बनाए हैं। (अछूतों के वह प्रतिनिधि स्वामी अछूतानंद हरिहर थे-अनुवादक)।"[41]

डॉ. गया प्रसाद प्रशांत ने इस में आगे लिखा है- "प्रिंस आफ वेल्स ने इस ज्ञापन को इंग्लैंड पहुंच कर अपने पिता सम्राट जार्ज पंचम के सामने प्रस्तुत किया। अछूत सभा में (दिल्ली में) जो भी सुना, जाकर बताया। इस पर लंदन के सेक्रेट्री आप स्टेट फार इंडिया का भारत के वायसराय के लिए एक सख्त आदेश हुआ कि अछूतों का प्रत्येक नगर पालिका में एक-एक सदस्य रखा जाए। इसी प्रकार टाउन एरिया, नोटिफाइड एरिया, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, लेजिसलेटिव काउन्सिल आदि शासकीय संस्थाओं में एक-एक मैम्बर अछूतों का मनोनीत किया जाय व इस आदेश का कड़ाई से पालन किया जाय।"[42]

1923 तक आदि-हिंदू आंदोलन को औपनिवेशिक सरकार की मान्यता मिल चुकी थी। उसे देश में चल रहे दूसरे सुधारवादी कार्यक्रमों के समकक्ष मान लिया गया था। आंदोलन का मुख्य केंद्र कानपुर था। 1927 तक आते-आते देश-भर के बहुजन आजीवक अपने अधिकारों के लिए उठ खड़े हुए थे। महाराष्ट्र में डॉ. आंबेडकर, तमिलनाडु में ई. वी. रामासामी पेरियार, केरल में अय्यनकाली अपनी-अपनी तरह से बहुजन आजीवकों की मांगों को आगे बढ़ाने में लगे थे। छूआछूत और दलित उत्पीड़न उन सभी के निशाने पर था। उत्तर भारत में यह जिम्मेदारी स्वामी अछूतानंद संभाले हुए थे। कुल मिलाकर पूरे देश के बहुजन आजीवक अपने अधिकारों के लिए उठ खड़े हुए थे। कांग्रेसी नेताओं का कहना था कि इस समय देश के लिए सबसे बड़ी जरूरत आजादी प्राप्त करना है। बहुजन आजीवक के नेता भी आजादी चाहते थे। लेकिन आजादी की उनकी संकल्पना कांग्रेस और दूसरे सवर्ण नेताओं से भिन्न थी। उसी वर्ष कानपुर में हुए 'आदि हिंदू सम्मेलन' में स्वामी अछूतानंद ने आजादी की अपनी संकल्पना को प्रस्तुत करते हुए कहा था कि इस समय देश में, 'आजादी के वास्तविक हकघ्दार यदि कोई हैं तो वे अछूत हैं। क्योंकि उन्हें हजारों वर्षों से गुलामी में रखा गया है।' कांग्रेस द्वारा आजादी की मांग की आलोचना करते हुए उन्होंने कहा था कि कांग्रेस द्वारा आजादी की मांग केवल समाज के अभिजात तबके, जो पहले से ही विशेषाधिकार प्राप्त हैं, की स्वार्थपूर्ति तक सीमित है। अछूतों का उस आजादी से कोई संबंध नहीं है। दिसंबर 1927 में दलित जातियों के प्रतिनिधियों की विशेष बैठक हुई थी। उस समय तक साइमन कमीशन के आने की घोषणा हो चुकी थी। बैठक का साइमन कमीशन के सामने दलितों की मांगों तथा अगले सुधारवादी कार्यक्रमों पर चर्चा होनी थी। बैठक की अध्यक्षता एम.सी. राजा (मिलै चिन्ना थंबी पिल्लई राजा) ने की थी। स्वामी अछूतानंद स्वागत समिति के अध्यक्ष थे। उस सभा में दलित जातियों के लिए अलग निर्वाचन क्षेत्र तथा विधायिकाओं में अधिक सीट सुरक्षित करने की मांग की गई थी।

दलितों और पिछड़ों का आत्मविश्वास लौटाने के लिए आदि हिंदू अभियान लगातार अपना काम कर रहा था। स्वामी जी का कहना था कि दलित हमेशा ही दलित न थे। बल्कि वे समृद्ध संस्कृति के जन्मदाता रह चुके हैं। आर्यों के आगमन से पहले उनके भी किले थे। एक समृद्ध (सिन्धु सभ्यता) सभ्यता थी, जिसमें ऊंच-नीच का भेद न था। आर्यों ने न केवल उस सभ्यता को तहस-नहस किया है, अपितु उसके तथ्यों से भी छेड़छाड़ की है। इलाहाबाद में 17 सितंबर 1930 को आयोजित आठवें 'अखिल भारतीय आदि हिंदू सम्मेलन' की अध्यक्षता करते हुए उन्होंने इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता पर जोर दिया था। 1930 में लंदन में होने वाली 'राउंड टेबल कान्फ्रेंस' में डॉ. आंबेडकर और रतनमालाई श्रीनिवासन को मिले आमंत्रण का समर्थन करते हुए सरकार को तार भेजे थे, जिसमें उन्होंने दलितों के लिए अलग निर्वाचन क्षेत्र की मांग का समर्थन किया था। उस टेलीग्राम में उन्होंने 'राजा-मुंजे समझौता' का विरोध भी किया था। यह समझौता अछूतों द्वारा अलग निर्वाचन क्षेत्र की मांग को देश की एकता के लिए खतरा मानता था। गांधी द्वारा दलितों को दिया गया 'हरिजन' नाम भी उन्हें स्वीकार्य न था। स्वामी अछूतानंद चाहते थे कि ब्रिटिश सरकार गोलमेज सम्मेलन में डॉ. आंबेडकर की बात को गंभीरता से ले। इसके लिए उन्होंने अपने समर्थकों से सरकार को पत्र लिखने का आग्रह किया। उनके संकेत मात्र पर हजारों पत्र डॉ. आंबेडकर के समर्थन में संबंधित अधिकारियों तक पहुँचे थे। उसके फलस्वरूप असर ब्रिटिश सरकार ने डॉ. आंबेडकर को शोषित जातियों का प्रतिनिधि मानकर 1932 में 'कम्यूनल एवार्ड' को स्वीकृति दी। उसके फलस्वरूप दलितों की अलग मतदान की मांग को स्वीकार लिया गया। यह दलित आंदोलन की ऐतिहासिक विजय और कांग्रेस की सबसे बड़ी पराजय थी। उसके लिए गांध ी को आगे आना पड़ा। कांग्रेस का तर्क था कि दलितों के लिए स्वतंत्र निर्वाचन क्षेत्र घोषित होने से हिंदू समाज बंट जाएगा। इससे उसका हिंदू राष्ट्र बनने का स्वप्न भी जाता रहेगा। यह अनोखा तर्क था। 28 अप्रैल 1930 को स्वामीजी ने 'आदि हिंदू सामाजिक परिषद' की अमरावती बरार में बैठक हुई। उस बैठक में उन्होंने खुलासा किया कि कुछ लोग उन्हें मारने की योजना बना रहे हैं। इससे पहले भी अखबारों में ऐसी सूचना प्रकाशित हो चुकी थी। आगरा की एक सभा में उनपर हमला हो चुका था, जिससे वे किसी तरह सुरक्षित बच निकलने में कामयाब रहे थे। लगातार बढ़ रहे हमले स्वामी अछूतानंद की बढ़ती लोकप्रियता और उनके आंदोलन की सफलता का प्रमाण थे। बड़ी बात यह थी कि स्वामी अछूतानंद ने दलित आंदोलन को बड़ा मोड़ दिया था। उससे पहले के दलित उद्धार से जुड़े कार्यक्रम मुख्यत: सामाजिक होते थे। डॉ. आंबेडकर और अछूतानंद के आने से उसमें राजनीतिक लक्ष्य भी जुड़ चुका था। उसका अर्थ था, राजनीति के क्षेत्र में सहभागिता। 'आदि हिंदू आंदोलन' के मूल में ही राजनीति थी। उसके अनुसार आदि हिंदू इस देश के पुराने शासक-संचालक थे।

स्वामी अछूतानंद भारत के बहुजन नवजागरण के प्रतीक और सच्चे समाज सुधारक थे। मृत्यु से कुछ महीने पहले उन्होंने ग्वालियर में 'विराट आदि-हिंदू सम्मेलन' में भी हिस्सा लिया था, जहाँ उन्होंने स्त्रियों के शोषण के विरुद्ध आवाज बुलंद की थी। उन्होंने कहा था कि आदि-हिंदू संस्कृति में स्त्री का सम्मान होता आया है। विधवा विवाह पर रोकथाम, बाल-विवाह हिंदुत्व की कुरीतियाँ हैं। आदि हिंदूओं में इन बुराइयों के लिए कोई स्थान नहीं था। उन्होंने जोर देकर कहा था कि आर्यों के आगमन से पहले महिलाओं का समाज में सम्मान होता था। उन्हें शिक्षा दी जाती थी। सम्मेलन में उन्होंने महिलाओं, बच्चों और अछूतों पर अत्याचार करने वाले जमींदारों का सम्मान करने के लिए सरकार की आलोचना भी की थी। पूना समझौते का असर उनके मन-मस्तिष्क पर था। ग्वालियर सम्मेलन के बाद वे बीमार पड़ गए। शरीर लगातार क्षीण पड़ने लगा। अंतत: 22 जुलाई 1933 को कानपुर में 54 साल उम्र में वह चल बसे। फुले और आंबेडकर की भांति स्वामी अछूतानंद भी अछूतों और पिछड़ी जातियों के संगठन की कामना करते थे। उनका कहना था कि यदि ये वर्ग एकजुट हो जाएं तो अपने

आप में बड़ा समूह होंगे। उन्हें राजनीतिक रूप से परास्त करना असंभव होगा। वे अपनी सरकार स्वयं बना सकेंगे। पिछड़ों और अतिपिछड़ों को फुले की तरह वे भी 'बहुजन समाज' कहकर पुकारते थे।

बाबू मांगूराम जी ने पंजाब में 'आदि धर्म' आन्दोलन चलाया था। बाबू मांगूराम जी अपने इस आन्दोलन से बताते हैं कि दलित इस देश के मूल निवासी हैं। वे न हिन्दू हैं, न मुस्लिम हैं, न सिख हैं और न ईसाई हैं। दलितों का धर्म इन सबसे अलग है और प्राचीन है, वे आदि धर्मी हैं। "बाबू मंगूराम मोग्गोवालिया ने अपने पुस्तक में 15वां सिद्धांत इस प्रकार रखा है –"हम हिंदू नहीं हैं। हम सरकार को पूरे जोर से प्रार्थना करते हैं वह हमें ऐसा न लिखें। हमारा धर्म हिंदू नहीं बल्कि आदि धर्म है। हम हिंदू धर्म का भाग नहीं हैं और न ही हिंदू हमारा भाग है।"[43] बाबू मांगूराम जी बहुजन आजीवकों की धार्मिक पहचान की दिशा में आन्दोलन किये थे। 'आदि धर्मी' आन्दोलन से ही बहुजन आजीवकों के स्वतंत्र राजनीतिक व धार्मिक आन्दोलन की शुरुआत होती है। "पंजाब के चमार जाति के आदि धर्म के संस्थापक बाबू मंगूराम मोग्गोवालिया की पुस्तक 'आदि धर्म मंडल रिपोर्ट 1931' में मुग्गोवाल के पास किए गए प्रस्तावों में से 18वां प्रस्ताव इस प्रकार है –"भारत को तब तक स्वराज न दिया जाए, आर्य हिंदू जब तक अछूतों को आजाद और बराबर नहीं होने देते, नहीं तो यह अंग्रेजी राज के लिए कलंक होगा।"[44]

संतराम कुम्हार जाति के थे। "संतराम ने स्त्री पर अपने विचार पूरे-पूरे रखे हैं। स्त्री को ले कर वे अपनी आजीवक परम्परा में हैं लेकिन इस बात को जानते नहीं हैं।"[45] "संतराम विवाह को विवाह के रूप में मानते हैं; वे विवाह को जारकर्म के सर्टिफिकेट के रूप में नहीं मानते। उन्होंने विवाहेतर संबंधों की अनुमति नहीं दी है। उन का ऐसा विचार स्त्री और पुरुष दोनों के लिए है।"[46] "वास्तव में जारकर्म विवाह का चोर है। हाँ, प्रेम को विवाह में तब्दील होना चाहिए लेकिन द्विजों की पारिवारिक व्यवस्था में यह जारकर्म बन कर रह जाता है। प्रेम जारकर्म का सबसे पहला और बड़ा शिकार हैं। संतराम की दूसरी पत्नी सुंदर बाई प्रधान ने शादी से पहले उन्हें एक पत्र लिखा था। पत्र में कुछ शब्द इस प्रकार हैं –"विवाह बौद्धिक और नैतिक मित्रता का पाया है।. ... व्यक्ति का व्यक्तित्व खिले और कौटुंबिक आदर्श चालू रहे, यही विवाह का निमित्त।"[47] संतराम का कहना था कि– "इससे मुझे विदित हो गया है कि हमारे ये आध्यात्मिक गुरु जनता को किस प्रकार परलोक की कल्पित बातों की मदिरा पिला कर संसार की वास्तविक समस्याओं पर विचार करने से रोकते हैं।"[48] संतराम बी ए अपनी परंपरा में थे। वे संन्यास के विरोधी हैं। वे गृहस्थ जीवन में विश्वास रखने वाले व्यक्ति थे।

कांशीराम एक महान और स्वतंत्र राजनीति के चिंतक थे। कांशीराम साहब का परिवार महान आजीवक सद्गुरु रैदास के विचारों के अनुयायी थे। कांशीराम साहब डीआरडीओ पुणे में एक वैज्ञानिक के रूप में कार्यरत थे। मान्यवर बहुजनों को संबोधित कर कहा करते थे कि अत्याचार और शोषण से मुक्ति पाने के लिए दलितों, आदिवासियों, पिछड़ों एवं अल्पसंख्यकों को हुक्मरान बनना होगा। इसके लिए उन्होंने दलितों, आदिवासियों एवं पिछड़ों में राजनीतिक चेतना जागृत किया। 1984 'बहुजन समाज पार्टी' की स्थापना कर दलितों को एक स्वतंत्र राजनीतिक पहचान दिलाई। पूना पैक्ट की आलोचना करते हुए 1982 में 'एन एरा ऑफ दा स्टूजेज' नाम की किताब लिखी थी। अपने समय को देखते हुए उन्होंने 'चमचा युग' किताब लिखी। उनका मानना था कि जातियों को नष्ट नहीं किया जा सकता, बल्कि संगठित कर उन्हें शक्तिशाली बनाने का काम किया जाना चाहिए।

"नवजागरण पर बात करते हुए अक्सर किसानों की चर्चा नहीं की जाती अथवा कम की जाती है। सामाजिक सुधारों, राजभक्ति-देशभक्ति के विवाद ही प्रमुखता से उठाये जाते हैं। जबकि यह अत्यन्त महत्वपूर्ण पक्ष था क्योंकि अंग्रेजों ने इसमें बुनियादी परिवर्तन किये। अंग्रेजों की पूर्व भारत में राजकीय सामंती व्यवस्था थी। जमीन पर में सामूहिक स्वामित्व था। जमीन ग्राम समुदाय, गोत्र या बिरादरी की होती थी।"[49] वास्तविक रूप से कहा

जाये तो, किसी भी काल में 'जमीन' किसान की थी ही नहीं, किसान तो 'किसानी' के नाम पर बिना पेमेंट के अपने सारे परिवार के साथ मजदूरी ही करता है। "अवध के किसानों की दुर्दशा पर विचार करते हुए एक बड़ी मार्मिक घटना का उल्लेख मिलता है। वहाँ के किसान अपनी लगान देने के लिए अपनी बेटी बेचते थे। जिस के पास कम बेटियाँ थीं, वह किसान मायूस हो जाता था। यहाँ तक उल्लेख मिलता है कि किसान अपनी कम उम्र की लड़की के लिए ऐसे उम्रदराज ग्राहक की तलाश करते थे जो मालदार हो, क्योंकि बेमेल होने से उन्हें इतने पैसे मिल जाएंगे कि वे अपने खेत को बचा सकें।"[50] "भारतीय समाज घनघोर गरीबी, भुखमरी, अशिक्षा और पिछड़ेपन में घुट रहा था। उसकी कोई सांस्कृतिक पहचान नहीं थी। धार्मिक रूढ़ियों, जड़ताओं और अंधविश्वासों में जनता बुरी तरह जकड़ी हुई थी। ऐसे में नवजागरण की चुनौतियां कितनी कठिन रही होंगी, इसका हम सहज ही अनुमान कर सकते हैं।"[51]

"रामविलास शर्मा जी भारतीय नवजागरण का विवेचन करते हुए महाराष्ट्र नवजागरण चर्चा नहीं करते।.... बंगाल नवजागरण में भी राजा राममोहन राय, विद्यासागर, बंकिम बाबू और रविंद्र नाथ टैगोर की विस्तार से चर्चा के पीछे उनका उद्देश्य जातीय अवधारणा कि ही पुष्टि लगती है।.... उधर महाराष्ट्र के माधवराव सप्रे और बाबूराव विष्णु पराड़कर जैसे नवजागरण के अग्रदूत थे, जो हिंदी क्षेत्र में प्राण-प्रण से लगे थे। बावजूद रामविलास जी ने महाराष्ट्र नवजागरण के हिंदी नवजागरण पर पड़े असर पर कोई स्वतंत्र और है रोशनी नहीं डाली है। उनसे यह अपेक्षा सहज थी कि ब्राह्मणवाद विरोधी इस महत्वपूर्ण सामाजिक नवजागरण के मुद्दे को वे राधामोहन गोकुल, राधाचरण गोस्वामी से संतराम बी.ए. और स्वामी अछूतानंद जी तक की परंपरा से जोड़कर उसका विवेचन करते।.... रामविलास जी ने ज्योतिबा फुले जैसे विलक्षण सामाजिक संत की कैसे उपेक्षा की? ब्राह्मणवाद का विरोध महाराष्ट्र नवजागरण ही नहीं बल्कि पूरे भारतीय नवजागरण की तस्वीर ही बदल देता है। इसके बावजूद वह उनके विवेचन से अछूता रहता है।.... नवजागरण के इतने बड़े अध्येता से सामाजिक नवजागरण के इतने ज्वलंत और बड़े मुद्दे की अनदेखी वाकई चिंतनीय और विचारणीय बात तो है ही, बल्कि उनके अनेक विचार आलोचकों की राय है कि वे मूलत: 'तिलकवादी' थे। द्विवेदी जी ने फुले अथवा सामाजिक आंदोलनों से सायास-अनायास परहेज रखा।"[52]

बहुजन नवजागरण के विकास में बहुजन स्त्रियो का योगदान कम नहीं था। समय-समय पर बहुजन स्त्रियों ने पुरुषों से कंधा से कंधा मिलाकर उनके कामों में सहयोग दिया। बहुजन स्त्रियों में नंगेली, अहिल्या बाई होल्कर, सावित्रीबाई फुले, आदि का नाम उल्लेखनीय है। नंगेली एक ऐसी बहादुर महिला हैं जिसने कुप्रथा 'स्तन टैक्स' से मुक्ति पाने के लिए काटे थे अपने स्तन। केरल के त्रावणकोर में निम्न जाति की महिलाओं को कमर से ऊपर बदन को कपड़े से ढकने के लिए उन्हें ब्रेस्ट टैक्स (ब्रेस्ट टैक्स) देना होता था।

उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी का बहुजन नवजागरण बहुत ही समृद्ध और विचारों से परिपूर्ण था। इस नवजागरण की अनदेखी नहीं होनी चाहिए। फुले, महादेव गोविंद रानाडे, वीरेशलिंगम्, नारायण गुरु, आम्बेडकर, पेरियार, स्वामी अछूतानंद, बाबू मंगूराम, अय्यनकाली जैसा महान नवजागरण के बहुजन आजीवकों की अनदेखी किसी भी प्रकार से ग्राह्य नहीं है। बहुजन नवजागरण से बंगाल, महाराष्ट्र, केरल, तमिलनाडु, छत्तीसगढ़, झारखंड, उत्तर प्रदेश, पंजाब, इत्यादि राज्य प्रभावित हो जाते हैं लेकिन हिंदी प्रदेश के भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रताप नारायण मिश्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी और राम विलास शर्मा जैसे नवजागरण के पुरोधा कहे जाने वाले आलोचकों की नजर इतने बड़े बहुजन नवजागरण पर नहीं गई। कहा जाता है कि प्रेमचंद ने गोर्की, लेनिन, गैरीबाल्डी, मेजिनी, माओत्से तुंग, तिलक, गोखले, गांधी, नेहरू, इत्यादि महापुरुषों को बहुत ही गम्भीरता से पढ़ा था और समझा भी। लेकिन प्रेमचंद की नजर में देश के मिट्टी से जुड़े हुए समाज सुधारक जैसे कि भगत सिंह, पेरियार, फूले, आम्बेडकर,

अय्यनकाली, नंगेली, स्वामी अछूतानंद हरिहर इत्यादि लोगों तक नहीं गई। ब्राह्मण (द्विज) चाहे जितना भी दलित उद्धारक या दलितों का हितैषी हो, जब भी दलितों को सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक रूप से अधिकार देने की बात आती है, तो वह मौन हो जाता है। आधुनिक युग में ही नहीं ब्राह्मण किसी भी काल में दलितों का हितैषी नहीं रहा। और अब बहुजन आजीवकों को यह मिथक तोड़ देना चाहिए कि कोई भी ब्राह्मण उनका भला चाहेगा। अब बहुजन आजीवकों को अपनी लड़ाई स्वयं लड़नी पड़ेगी। दुनिया में हर कघैम-जाति के और हर कघैम-जाति के हर व्यक्ति को अपने हिस्से की लड़ाई खुद ही लड़नी पड़ती है और लड़ कर मुक्त होना पड़ता है तथा अन्य गुलामों की मुक्ति के लिए रास्ता बनाने में सहयोग करना पड़ता है।

संदर्भ :

1. स्वामी अछूतानन्दजी 'हरिहर' और हिन्दी नवजागरण, कँवल भारती, स्वराज प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2011, पृ. 33.
2. वही, पृ. 33.
3. वही, पृ. 35.
4. वही, पृ. 35.
5. वही, पृ. 36.
6. वही, पृ. 36.
7. मैं हिंदू क्यों नहीं हूँ, कांचा इलैया, सिद्धार्थ बुक्स, शाहदरा, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2022, भूमिका से।
8. वही।
9. वही।
10. महान आजीवक कबीर, रैदास और गोसाल, डॉ. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2017, भूमिका से।
11. भारतीय नवजागरण और समकालीन संदर्भ, कर्मेंदु शिशिर, नयी किताब, दिल्ली, पुनर्मुद्रण : 2020, पृ. 15.
12. वही, पृ. 16.
13. वही. पृ. 60.
14. वही, पृ. 61.
15. स्वामी अछूतानंद जी 'हरिहर' और हिन्दी नवजागरण, कँवल भारती, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2011, पृ. 15.
16. मदर इंडिया, मिस कैथरीन मेयो, अनुवाद - कँवल भारती, फारवर्ड प्रेस, नई दिल्ली, पुनर्मुद्रण : सितम्बर 2019, मई, 2022, पृ. 53-54.
17. भारतीय नवजागरण और समकालीन संदर्भ, कर्मेंदु शिशिर, नयी किताब, दिल्ली, पुनर्मुद्रण : 2020, पृ. 80.
18. वही, पृ. 131.
19. वही, पृ. 132.
20. वही, पृ. 134.
21. वही, पृ. 135.
22. वही, पृ. 136.
23. वही, पृ. 136.
24. वही, पृ. 139.

25. वही, पृ. 139.
26. वही, पृ. 140-141.
27. वही, पृ. 84.
28. वही, पृ. 85.
29. वही, पृ. 85.
30. वही, पृ. 87.
31. वही, पृ. 88.
32. रस्साकशी, वीरभारत तलवार, सारांश प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, दूसरा संशोधित संस्करण : 2006, पृ. 263.
33. एम. पाटिल, जून-1913, दीनमित्र, गेल ओमवेड 'कल्चर रिवोल्ट इन कोलोनियल सोसाइटी : नॉन ब्राह्मन मूवमेंट इन वेस्टर्न इंडिया, 1873-1930, पुणे साइंटिफिक सोशलिस्ट एजुकेशन ट्रस्ट' में उद्धृत पृ. 157.
34. हिन्दुत्व-मुक्त भारत, कांचा अइलैय्या, सेगा पब्लिकेशंस इण्डिया पीवीटी एलटीडी, नई दिल्ली, 2017, पृ. 35.
35. ई.आर. नीव द्वारा संपादित और संकलित, मैनपुरी गजैटियर, संयुक्त प्रांत जिला आगरा और अवध, खंड-10, इलाहाबाद : सुपरिटेंडेंट, गवर्नमेंट प्रेस, उ.प्र. 1910, पृ. 89.
36. केनिथ डब्ल्यू जोन्स, आर्यधर्म : हिंदू कॉंसियशनेस इन नाइनटीथ सेन्चुरी पंजाब, नई दिल्ली, मनोहर पब्लिकेशन, 1976, पृ. 310.
37. स्वामी अछूतानन्द एंड दि आदि हिन्दू मूवमेंट, नंदिनी गूप्तु, क्रिटिकल क्वेस्ट, नई दिल्ली, 2006, पृ. 12.
38. प्रेमचन्द की नीली ऑखें, डॉ. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2010, पृ. 75.
39. चन्द्रिकाप्रसाद जिज्ञासु ग्रंथावली, खंड-2, संपादक : कँवल भारती, दि मार्जिनालाइज्ड पब्लिकेशन, दिल्ली, 2017, पृ. 348.
40. चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु, भारतीय मौलिक समाजवाद : सृष्टि और मानव समाज का विकास, आदि हिंदू ज्ञान प्रसारक ब्यूरो, 1941, पृ. 271-272, से डॉ. अमरदीप द्वारा उद्धृत।
41. मदर इंडिया, मिस कैथरीन मेयो, अनुवाद - कँवल भारती, फारवर्ड प्रेस, नई दिल्ली, पुनर्मुद्रण : सितम्बर, 2019, मई, 2022, पृ. 156.
42. प्रेमचन्द की नीली आँखें, डॉ. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2010, पृ. 76.
43. वही, पृ. 144.
44. वही, पृ. 143
45. दलित चिन्तन का विकास अभिशप्त चिन्तन से इतिहास चिन्तन की ओर, डॉ. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृत्ति-2012, पृ. 182
46. वही, पृ. 184.
47. वही, पृ. 185.
48. वही, पृ. 186
49. भारतीय नवजागरण और समकालीन संदर्भ, कर्मेंदु शिशिर, नयी किताब, दिल्ली, पुनर्मुद्रण : 2020, पृ. 16-17
50. वही, पृ. 22.
51. वही, पृ. 23.
52. वही, पृ. 64-65

❑❑❑

आलेख

तैयार कवि का विस्तीर्ण काव्य-वितान

❍ मयंक✡

कवि मदन कश्यप हिन्दी कविता के एक समादृत व्यक्तित्व हैं। उनका कविता-संसार अत्यंत विस्तृत है। विस्तृत होने के साथ-साथ कविताओं की विषयवस्तु भी समाज के अन्यान्य संदर्भों को रूपायित करती है। पिछले चार दशकों से उनका व्यक्तित्व सक्रिय और कविताओं के प्रति समर्पित रहा है। अब तक उनके छह कविता संग्रह और एक काव्य-पुस्तिका प्रकाशित हो चुके हैं। उन्हें पढ़कर और उनसे रूबरू होकर सहज ही भान होता है कि कवि का यह व्यक्तित्व न सिर्फ कवि का व्यक्तित्व है बल्कि उन आम जन-समूहों का व्यक्तित्व है, जिसमें कविता की तमाम प्रेरणाएँ और प्रतिबद्धताएँ निहित हैं और उजागर भी!

कवि का व्यक्तित्व जन, नागरिक और समाज के लिए समर्पित है तो यह जरूरी हो जाता है कि कवि का जीवनानुभव समाज-संस्कृति, परंपरा-इतिहास, राजनीति, शोषण, सत्ता, प्रकृति, और उन सभी आयामों से लैस हो, जो कविता के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण और अवश्यंभावी तत्त्व हैं। कविता का रचाव और उसका टेक्निक, काव्य-रचना को यथार्थ के धरातल पर जीवन की गति से कुछ धीमा कर देता है। मदन कश्यप की कविताएँ सिर्फ भारतीय समाज ही नहीं बल्कि वैश्विक स्तर पर उन मुद्दों पर संवाद करना चाहती हैं, जो मानवता के लिए वाजिब है। इसलिए उन सभी आवश्यक मसलों पर कविता का रचाव वैचारिक और कलात्मक स्तरों पर नियंत्रित और संतुलित ढंग से होता है।

दरअसल "कविता जीवन की गति को एक नियंत्रित ढंग से धीमा कर देती है जिससे कि उसको पहचानना और पकड़ा भी जा सकता है। एक तरह से जीवन को स्लो-मोशन में पकड़कर देखती है और दिखा सकती है।"[1]

कविता की यह कार्य-पद्धति कवि की प्रातिभ-शक्ति; प्रतिभा, अभ्यास और ज्ञान (गुण, अनुभव और चेतना) के सम्मिश्रण से पूरी होती है। इसलिए कवि की अंतर्दृष्टि और जीवन-दृष्टि में कहीं भी फाँक या उलझाव नहीं है।

मदन कश्यप का व्यक्तित्व जितना कवितामय है, उतना ही समकालीन बोध से संपृक्त! सामाजिक सरोकार और गलत को गलत कहने की ताकत ही उनकी कविता का उत्स है। यह साहस और भी उत्प्रेरित होने लगता

✡ *शोधार्थी, हिंदी विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना*

शोध पर्यवेक्षक : डॉ. दिलीप राम, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, पटना विवश्वविद्यालय, पटना।

है जब कविता की जद में सत्ता-पक्ष के साथ-साथ आम लोग भी आते हैं। आम लोग इसलिए क्योंकि कवि के लिए गलती सिर्फ सत्ता पक्ष की ही नहीं होती, कभी-कभी आम लोग भी उस लापरवाही में शामिल होते हैं। हालांकि कई बार वे गलतियाँ जानबूझकर नहीं होतीं, किन्तु उन भूलों को मदन कश्यप का विवेकी व्यक्तित्व कविता में अनावृत्त करता है।

ध्रुव-सत्य की तरह हिन्दी-साहित्य में एक धारणा है कि साहित्यकार या कवि मूलत: प्रगतिशील होते हैं और उन्हें होना भी चाहिए। मदन-कश्यप के लिए प्रगतिशीलता साहित्यकार के स्वभाव से परे है। साहित्यकार प्रकृतिगत प्रगतिशील नहीं होता। जिसने सत्ता पक्ष की कमियाँ निकालीं, उसकी रणनीतियों, राजनीतियों पर तंज कसे, वही प्रगतिशील, ऐसा मदन-कश्यप का व्यक्तित्व नहीं!

"साहित्यकार की प्रगतिशीलता इस पर निर्भर करती है कि तत्कालीन समय में वह किसका साथ देता है? उस समय के प्रगतिशील शक्तियों का या प्रतिक्रियावादी शक्तियों का?"[2]

कवि के लिए कविताई अयाचित वस्तु है। अर्थात बिन माँगे मिलना या बिन चाहे बनना! शब्दों का, भाषा का, वाक्य-विन्यासों का कुशल प्रयोग किसी भी कविता के लिए अवश्यंभावी है पर उसके लिए कविता पर दबाव देना या जोर देना, कविता नहीं है। कविता उनके लिए एक सायास कर्म है, जिसकी अनायास परिणति होती है। अमूर्त्त से मूर्त्त का सफर!

"मदन जी का कवि कविता बनाता नहीं, न ही उसका विश्वास है कि कविता बनायी जा सकती है कुछ चतुराई से या किसी कौशल के प्रयोग से। कविता बनती नहीं, हो जाती है। कविता बनाना सायास होता है और कविता हो जाना अनायास।"[3]

कविताओं का रेंज और उसकी प्रक्रिया जो व्यक्ति को व्यक्तिगत जीवन से मुक्त कर व्यापक जीवन की तरफ ले जाती है, मनुष्य की भौतिक सफलता और आर्थिक संपन्नता की पूर्णता के मिथ पर प्रश्न-चिह्न खड़े करती है। प्रश्न इसलिए क्योंकि भौतिक सफलता और आर्थिक संपन्नता जीवन का एक वैयक्तिक अंग तो है पर विराट मानुषिक परिप्रेक्ष्य में ये वैयक्तिकता किस तरह सामाजिक जिम्मेदारियों में अपनी भूमिका तय करती है, वह व्यावहारिक कार्य-क्रिया संबंध साहित्य-संस्कृति और समाज का असल सरोकार बनता है। कविताओं में या अन्य किसी भी साहित्यिक विधाओं में रेंज इसलिए महत्त्वपूर्ण हो उठता है क्योंकि लेखक के लिए समाज एक पूर्ण इकाई है। उस इकाई में कई श्रेणियाँ-उप श्रेणियाँ, वर्ग-उपवर्ग होते हैं। प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक श्रेणियाँ, प्रत्येक जाति को उपस्थित करने के लिए साहित्यकार एक किरदार गढ़ता है। कविताओं में अक्सर किरदार बेनाम होते हैं। हालांकि कई कविताओं में उनके नाम होते भी हैं। निराला की 'महगू महगा रहा', मुक्तिबोध की 'अंधेरे में' कुछ ऐसी ही कविताएँ हैं, जिनमें किरदारों का नाम तत्कालीन राजनीति, सत्ता-शोषण, वर्गों और जातियों को भाषायी प्रतीक-व्यवस्था के माध्यम से उपस्थित करा, गहरे संकेतात्मक अर्थ निष्पादन करती हैं। कवियों के लिए रेंज इसलिए भी जरूरी हो जाता है क्योंकि कोई भी किरदार प्रतिनिधित्व करता है; एक पूरी जाति का, अस्मिता का, अस्तित्व का! सांस्कृतिक दर्प का भी तो सांस्कृतिक-सामासिकता भी! जातिगत भेदभाव का भी तो सांप्रदायिक सौहार्द का भी! प्रेम का, लोकतत्त्व का, माँ का, पत्नी का, पिता का, प्रेमी का और उन तमाम लोगों और प्रकृति का जो हमारे आसपास अपने सामूहिक अस्तित्व में एकसाथ नजर आते हैं। 'बूढ़ा हाथी' कविता पर नजर दें:

"इस बूढ़े हाथी की थकी हुई चाल में
अब वह मस्ती नहीं कि जिससे
इसके धरती को रौंदते हुए चलने का एहसास हो

झुर्रियों की बेबसी लिए
यह किसी असहाय वृद्ध भीखमंगे की तरह
निराशा का डग भरते हुए गुजर जाता है"
इसे देखकर अब हम डरते तो नहीं
लेकिन यादों की झड़ियों में
भय के सरसराने का एहसास आज भी होता है।"[4]

यह एक ऐसी कविता है जो व्यंजना के उन सभी पहलुओं को छूती है जो किसी भी साहित्य के संश्लिष्ट अनुशासन और मुद्दे हो सकते हैं। राजनैतिक दृष्टि से जहाँ यह कविता किसी ऐसे कद्दावर नेता से जुड़ती है; जिसके शासन में लोगों में दहशत का माहौल था पर उसके लगातार गिरते राजनैतिक ढलान से उसके तेवर और चाल दोनों बदल गए हों। सामाजिक दृष्टि से किसी गाँव का राजा, जमींदार या महाजन! संस्थानिक दृष्टि से किसी संस्थान में वर्षों अपने वर्चस्व से सही को गलत करने वाला एक पदासीन व्यक्ति! सभी परिप्रेक्ष्य में यह कविता उन सभी शोषक और उसके तंत्रों का प्रतीकात्मक ढंग से एक ऐसा रचाव है, जिससे एक तरफ उसके शोषण और व्यवस्थाओं की यंत्रणाएँ आज भी लोगों के दिलो-दिमाग में छायी हुई हैं तो दूसरी तरफ उसका वार्धक्य (बूढ़ापन) खत्म होती शोषण प्रणाली का संकेत। दिलचस्प पॉइंट है कि यह कविता अपने भाषायी ढंग और शिल्प से सस्यूर की 'पैरोल' अवधारणा से जुड़ती नजर आती है, क्योंकि यहाँ हाथी का प्रतीक देशकाल की उन सभी लोक-प्रचलित सामान्य प्रतीकों से जुदा कवि का अपना विशिष्ट प्रतीकात्मक स्टैण्ड है।

'डर' कविता का डर; गाढ़ा व्यंग्यात्मक है:

"डरते-डरते
आपने डर के बारे में
लिखी कविता
और बेहद डर गए
डर आपकी आत्मा से निकलकर
कविता में आया
और कविता से निकलकर
आपकी आत्मा में
और गहरे धँस गया"[5]

डर क्यों, किससे और कैसा डर? दरअसल डर एक भाव है जिसका सीधा सम्बंध एक तरफ मनोविश्लेषण से है, तो दूसरी तरफ सामाजिक अस्वीकार्यता और अनैतिक कार्यों से। कविता प्रक्रिया की इतनी सूक्ष्म विवरणी कवि की गहन परंतु सूक्ष्म अंतर्दृष्टि का परिचायक है। प्रत्येक पंक्ति के बाद डर का संदर्भ और उसका तात्पर्य बदलता हुआ नजर आता है। पहली चार पंक्तियाँ अभिव्यक्ति के अधिकार को चरितार्थ करती हैं। कवि तत्कालीन सत्ता और शासन के बारे में कविता लिखना चाहता है। डरते-डरते कलम उठाकर सच लिख देता है। किन्तु, लिखकर तुरंत बाद वह सहम जाता है। अभिव्यक्ति के अधिकार का उपयोग तो करता है पर सत्ता पक्ष की काला और दुर्दम्य व्यवस्था उसे बेहद डरा देता है। अंतिम चार पंक्तियाँ कवि के सघन अंतस्तल पर करारा प्रहार करती हैं, आत्म-प्रहार! जिस तरह उसने अन्याय और शोषण के खिलाफ डरते-डरते कलम उठाया था। अंतिम तक आते-आते उसका आत्मबल जवाब दे देता है। कारण बेईमानी, भ्रष्टाचारी और गैर-कानूनी कामों में उसकी अपनी संलिप्तता है। उसकी नैतिक काव्य-अभिव्यक्ति उस से जवाब तलब करती है। कवि आत्म-कटघरे में है।

'डर' कविता पर मुक्तिबोध के 'अंधेरे में' कविता का मद्धम प्रभाव साफ-साफ लक्षित है। फर्क बस इतना है कि मुक्तिबोध का डर द्वन्द्वात्मक स्थिति से गुजरता हुआ सीमा का अतिक्रमण करता है। जो उस स्थिति-परिस्थिति में कविता का संभावित यथार्थ बनकर उभरता है। वहीं मदन कश्यप का डर स्थिर है, निर्वात है। कहीं भी संशय और द्वंद्व नहीं है। अपनी आत्मा की गूँज से वह पूरी तरह आश्वस्त है।

कवि मदन कश्यप की कविताओं का रेंज मल्टी-डाइमेन्शनल (बहु आयामी) है। कविता की विषय-वस्तु जितनी समकालीन है, उतनी ही प्रगतिशील परंपरा से आबद्ध और प्रासंगिक! गौर से गौर किया जाए तो यहाँ प्रगतिशील परंपरा का जुड़ाव टी.एस. इलियट की परंपरा की अवधारणा से है। खास यह है कि इलियट की परंपरा संबंधी अवधारणात्मक पक्ष में एक कड़ी जुड़ती है जिस पर हिन्दी के आलोचकों और बुद्धिजीवियों ने ध्यान नहीं दिया है। इलियट जहाँ परंपरा के स्थूल और जीर्ण अवयवों को छोड़कर उसके शाश्वत (प्रासंगिक) तत्त्वों को परंपरा का एक निश्चित अंग मानते हैं, वहीं उनका यह भी मानना है कि कलाकर उन तत्त्वों को ग्रहण कर आज के युग की साहित्यिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, सामाजिक व अन्यान्य परंपरा में योग देते हुए नयी परंपरा को विकसित करते हैं। यह कड़ी हर युग और देशकाल में जुड़ती जाती है। इस तरह परंपरा की इस विकसनशीलता से देश, राष्ट्र और समाज अपने सांस्कृतिक रूपों में सामासिक और प्रगतिमुखी होता जाता है। मदन कश्यप के यहाँ परंपरा, इसी कड़ी में जुड़ने वाली प्रगतिशीलता है।

'बुरे वक्त में कविता' की गरमाहट नयी और आधुनिक प्रतीत होती है। आधुनिक से भी उत्तर-आधुनिक, सत्य से भी उत्तर-सत्य!

"ऐसे बुरे वक्त
कैसे लिखी जाए कोई कविता
जब फूलों को देखकर कहना मुश्किल हो
वह फूल ही है
पहाड़ पर चढ़ो
तो वह बालू के ढूह की तरह भहराने लगे"[6]

कविता की वस्तु इस तरह से सामने पेश है, जैसे फेकिज्म अपने चरम पर हो! चिंता के स्वर कविताई पर भी सुनाई दे रहे हैं। ऐंद्रियता भी पारदर्शी होती जा रही है क्योंकि भावनाओं और विचारों पर सत्य से ऊपर की चीज पकड़ बनाए हुई है। जो भ्रम की ऐसी स्थिति का निर्माण कर रहा है, जहाँ सत्य धुंधला से और गहन धुँधला होता जा रहा है।

1990 के बाद से उत्तर आधुनिकतावाद की माँद से उपभोग व उपभोक्ता-संस्कृति, नव-उपनिवेशवाद, बाजारवाद से संपृक्त कई कविताओं का हिन्दी साहित्य में यकायक आगमन होता है। कविताओं की वस्तु-स्थिति और उसका विषय पक्ष बाजार के नियम, मॉल संस्कृति, विज्ञापन के अत्याधुनिक मनोवैज्ञानिक प्रोजेक्शन को अपने जद में लेती हुई आगे बढ़ती है। केंद्र से विकेन्द्रन और विकेन्द्रन से केंद्र के द्वन्द्वात्मक-स्थिति से कविता में एक नया परिवर्तन आता है। दलित विमर्श, स्त्री विमर्श, आदिवासी विमर्श एक नए प्रस्थान बिन्दु से हिन्दी के कैनवास पर अपनी आवश्यक उपस्थिति दर्ज करते हैं। आधुनिक और समकालीन हिन्दी कविता-क्षेत्र में पोस्ट-ट्रूथ (उत्तर-सत्यवाद) अब तक ठीक से उपस्थित नहीं हुआ है।

2019-20 से हिन्दी की दुनिया में पोस्ट-ट्रूथ (उत्तर सत्यवाद) पदबंध से सामना होता है। निश्चित ही यह पदबंध भी भारत का अपना पदबंध नहीं है, किन्तु इसका प्रभाव और इसका उपयोग भी नव-उपनिवेशवाद की ही क्रूरतम देन है। जी हाँ, नव-उपनिवेशवाद! जिसका सीधा-सादा अर्थ यह है कि कोई देश प्रत्यक्ष रूप

से साम्राज्यवादी शक्तियों से मुक्त होने के बाद भी, पीछे से उन देशों के निर्देशों को पालन करने के लिए बाध्य हों। इसी की परिणति पोस्ट-ट्रूथ का आगमन है।

"पोस्ट ट्रूथ शब्द सर्वप्रथम 1992 में अमेरिकी लोगों द्वारा वाटरगेट और ईरान-कोंट्रा जैसे राजनीतिक घोटालों की प्रतिक्रियाओं पर स्टीव टेसिच की 'द नेशन पत्रिका' में छपी प्रतिक्रिया के रूप में प्रयोग किया गया था।"[7]

समकालीन हिन्दी कविता के फलक पर ध्यान देना होगा कि पोस्ट ट्रूथ संबंधी कविताएँ मौजूद हैं? अगर हैं तो उनकी शुरुआत कहाँ से होती है? लेकिन उससे पहले उत्तर सत्यवाद की मूलभूत तत्त्वों से वाकिफ होना जरूरी है।

"पोस्ट ट्रूथ का उद्देश्य वस्तुनिष्ठ सत्य को बाहर बाहर ना लाकर ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करना है, जिसे तोड़ मरोड़कर ऐसे प्रस्तुत किया जा सके जिससे आपकी भावनाओं को ऐसा लगे कि यही सत्य है।"[8]

कविता में फूल और पहाड़ अपने अस्तित्व में, अपनी बाहरी दिखाव में वही हैं। किन्तु, उसकी प्रतीति पाठकों के लिए अलग हो जाती है। यहाँ 'होना' और 'लगना' का फर्क है। उत्तर सत्यवाद में लगना ही सत्य हो उठता है।

उपर्युक्त कविता के माध्यम से कवि पोस्ट ट्रूथ अवयवों को साहित्यिक और सांस्कृतिक खाँचों में ढालकर हिन्दी कविता में उसके आगमन का संकेत देता है। कहना न होगा कि पोस्ट ट्रुथ की अवधारणा को कविताई शक्ल देकर मदन कश्यप के द्वारा हिन्दी कविता में पोस्ट-ट्रूथ की शुरुआत होती है। हालांकि यह विलक्षण और काबिल-ए-गौर है कि पोस्ट ट्रूथ की लोकप्रियता और उसकी केंद्रीय परिधि में मीडिया और जर्नलिज्म डिसिप्लिन का अन्यतम योगदान है।

संदर्भ :

1. अज्ञेय से बातचीत, संपादक - कृष्णदत्त पालीवाल, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, वर्ष - 2011, पृ. 31
2. प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ, रामविलास शर्मा, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, वर्ष - 2014, पृ. 42
3. मदन कश्यप का कवि-कर्म, संपादक - अरुण होता, वाग्देवी प्रकाशन, नोएडा (उत्तर प्रदेश), प्रथम संस्करण, वर्ष - 2023, पृ. 9
4. लेकिन उदास है पृथ्वी, मदन कश्यप, सेतु प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, वर्ष- 1992
5. वही, पृ. 48, पृ. 23
6. नीम रोशनी में, मदन कश्यप, सेतु प्रकाशन, नयी दिल्ली, सेतु संस्करण, वर्ष- 2020, पृ. 74
7. उत्तर सत्यवाद, विवेक सिंह, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, वर्ष- 2023, पृ. 22
8. वही, पृ. 26

❖❖❖

हिंदी कविता में किसान

❍ मृत्युंजय कोईरी✡

किसान केवल एक शब्द नहीं है। किसान देश का भोरण-पोषण करने वाले हैं। ये भारतीय सभ्यता और संस्कृति के संरक्षक हैं। हमारे देश के अधिकांश लोग खेती से जीवन-यापन करते हैं। ये गर्मी, बरसात, जाड़ा, सर्दी में खून-पसीना एक करके अन्न ऊपजाते हैं। उनकी मेहनत से पूरा देश अपना पेट भरता है, वरना भूख से तड़प-तड़प कर मरने के लिए विवश हो जायेंगे। पर आज किसान अपना पेट भर पाने में असमर्थ हैं। भारतीय जीवन का यथार्थ गाँव में है। देश की आत्मा गाँव में बसती है। ये सभी के जुबान पर सुनते हैं। पर आज जिस अन्नदाता के अनाज से देश में मनुष्य जीवित हैं, उस अन्नदाता के पास एकाउंट में पचास हजार रुपये तक नहीं हैं। आज देश में आजादी के 75 वर्ष के उपलक्ष्य पर आजादी का अमृत महोत्सव माना जा रहा है। पर किसान की हालत पूर्व की भांति ही है। वे आज भी कर्ज में दबे हुए हैं। गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' की 'किसान' नामक कविता में किसान की दयनीय स्थिति को उजागर करते हैं; यथा,

"जब तक कट मरकर हो न ढेर, कच्चा-पक्का खा रहे सेर,
आ गया दिनों का वही फेर, बँट गया न इसमें लगी देर,
अब खाएँ किसे कहिए किसान।।"[1]

किसानों की आर्थिक स्थिति की जिम्मेवार सरकारें हैं। सरकार आती है और चली जाती है। लेकिन वे किसानों की मूलभूत आवश्यकता को नजरअंदाज करती रही हैं। आज किसानों की कमर कसने के लिए सरकार की ओर से बीज और सब्जी को सड़ने-गलने से बचाने के लिए हर प्रखंड में क्लस्टर की अत्यंत आवश्यकता है। साथ-ही सरकार किसानों को बचाना चाहती है तो बीज, खाद्य, सिंचाई और अन्य सामान का पैसा सीधे एकाउंट में भेजे, अन्यथा उनके चमचे ही आधा से अधिक डकार जाते हैं। किसानों का आज भी ऋण अदा करना और पेट के लिए दिन-रात खेतों में काम करते मर जाना ही उनके नसीब में है। मैथिलीशरण गुप्त 'किसान' नामक कविता में लिखते हैं-

"हो जाये अच्छी भी फसल, पर लाभ कृषकों को कहाँ
खाते, खवाई, बीज ऋण से हैं रंगे रक्खे जहाँ,
आता महाजन के यहाँ वह अन्न सारा अंत में
अधपेट खाकर फिर उन्हें है काँपना हेमन्त में।"[2]

✡ राँची, झारखंड, मो. 7903208238

'प्रार्थना' कविता में मैथिलीशरण गुप्त जी किसानों के दु:ख-दर्द को प्रस्तुत करते हैं। किसान ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि हे ईश्वर हम पर दया करो! जिस प्रकार आप अलग-अलग अवतार लेकर असुरों का संहार करके देवों और मनुष्यों की रक्षा किए। अब मनुष्य रूपी इन असुरों ने हमारा जीना मुश्किल कर दिया है। हमने पूर्व जन्म में कितना पाप किया है, जो धरती लोक पर ही हमें नरक का वास मिल रहा है। आज विष खाने के लिए भी पैसा शेष नहीं है। किसान के घर जन्म लेना ही पाप है। किसान के घर जन्म लेने से अच्छा था, पशु-पक्षी का जन्म पाते। कम से कम चारा-दाना खा लेते। किसानों की विवशता देखिए,

"कृषक-वंश में जन्म यहाँ जो हम पाते हैं
तो खाने के नाम नित्य हा हा खाते हैं!
मरने के ही लिए यहाँ क्या हम आते हैं?
जीवन के सब दिवस दु:ख में ही जाते हैं।।"[3]

आधुनिकता के इस युग में वर्तमान समाज का यथार्थ यह है कि किसान आज भी भगवान भरोसे खेती करने पर मजबूर हैं। वे बादल को बार-बार गर्जन करते हुए मूसलदार वर्षा करने का अग्रह करने पर विवश हैं। ताकि खेत में बोये हुए बीज अंकुर ले सकें। किसानों की दयनीय स्थिति को देख कवि सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' दु:खी होते हैं। वे 'बादल राग' कविता के माध्यम से किसानों के प्रति सहानुभूति व्यक्त करते हैं। कवि बादल को बरसने के वास्ते आग्रह करते हैं,

"जीर्ण बाहु, है शीर्ण शरीर,
तुझे बुलाता कृषक अधीर,
ऐ विप्लव के वीर!
चूस लिया है उसका सार,
हाड़ मात्र ही है आधार,
ऐ जीवन के पारावार!"[4]

सुमित्रानंदन पंत की 'वे आँखें' कविता में विकास की विरोधाभासी अवधारणा पर करारा प्रहार करती है। युगों-युगों से शोषण के शिकार किसान का जीवन कवि को आहत करता है। स्वतंत्र भारत में भी सरकार किसान को केंद्र में रखकर कोई बड़ा निर्णय नहीं ली, जो बहुत दुखद बात है। कविता ऐसे ही दुश्चक्र में फँसे अन्नदाता के पारिवारिक और व्यक्तिगत दुखों की भंडार को खोल देती है। यह कविता समाजिक यथार्थ का खाका प्रस्तुत करती है,

"बिका दिया घर द्वार,
महाजन ने न ब्याज की कौड़ी छोड़ी,
रह-रह आँखों में चुभती वह
कुर्क हुई बरधों की जोड़ी!"[5]

किसान सचमुच अन्नदाता हैं। दिन-रात, जाड़ा-गर्मी और बरसात उनकी मेहनत को देख शरीर के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। सुबह होने से पूर्व ही खाट छोड़कर उठ जाते हैं और अपने-अपने कामों में लग जाते हैं। सत्यनाराण लाल की 'किसान' कविता में किसानों का यथार्थ देखिए-

"नहीं हुआ है अभी सवेरा
पूरब की लाली पहचान
चिड़ियों के जगने से पहले

खाट छोड़ उठ गया किसान।

....

फिर भी आग जला, खेतों की
रखवाली करता है वह मौन।
है किसान को चैन कहाँ, वह
करता रहता हरदम काम
सोचा नहीं कभी भी उसने
घर पर रह करना आराम।"[6]

भगवतीचरण वर्मा की 'भैंसा गाड़ी' कविता भारतीय किसानों की दस्तां को बयां करती है। किसान के बच्चे नंगे हैं, किसान चिथड़े पहने हैं और नारियों की दयनीय स्थिति है। साहूकारों के अत्याचार से त्रस्त हैं। किसान परिवार भूख से मर रहे हैं। पर कर्ज अदा करने के वास्ते भैंसागाड़ी पर लदा जा रहा है। देश के अन्नदाता कहलाने वालों की विवशता देखिए-

"बीबी बच्चों से छीन, बीन
दाना-दाना, अपने में भर,
भूखे तड़पें या मरें, भरों का
तो भरना है उसको घर,
धन की दानवता से पीड़ित कुछ
फटा हुआ, कुछ कर्कष स्वर,
चरमर-चरमर-चूँ-चरर-मरर
जा रही चली भैंसागाड़ी!"[7]

किसान के पास तन ढ़ंकने के वास्ते चिथड़ा नसीब नहीं है। वे संध्या के समय दरवाजे पर आये एक अतिथि के पास जाने लायक नहीं हैं। अर्धनग्न दंपति को अतिथि द्वारा उनकी हालत में देखे जाने के संकोच व लाज में सिकुड़ जाते हैं। जो भारतीय किसानों की गरीबी का मार्मिक दृश्य है। इस दृश्य को राष्ट्र कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' की 'कविता की पुकार' नामक कविता में देखी जा सकती है-

"अर्धनग्न दम्पति के गृह में मैं झोंका बन आऊँगी,
लज्जित हो न अतिथि-सम्मुख वे, दीपक तुरंत बुझाऊँगी।"[8]

पूँजीपति महाजन और जमींदारों ने भारतीय किसानों को निचोड़ कर निर्धन बना दिया है। हमारे अन्नदाता ऋण के बोझ से दब गए हैं। ऋण अदा करने के लिए किसानों को घर का सारा दूध-घी बेच देना पड़ता है। पूरे देश का पेट भरने वाले किसान, आज महाजन और जमींदारों के शोषण के कारण खुद भूखा है। वे दूध पैदा करते पर उनके बच्चे दूध पीने से वंचित रहते हैं। घर में भरा दूध देख शिशु का मचलना और माँ का बालकों को बहलाना, हृदय में एक करुण तनाव उत्पन्न करता है। भूखी माँ के सूखी स्तन में दूध नहीं उतरता और शिशु भूख से तड़पते सो जाते हैं। दिनकर की 'हाहाकार' कविता में देखिए,

"पर, शिशु का क्या हाल, सीख पाया न अभी जो आँसू पीना?
चूस-चूस सूखा स्तन माँ का सो जाता रो-विलप नगीना।
विवश देखती माँ, अंचल से नन्हीं जान तड़प उड़ जाती,
अपना रक्त पिला देती यदि फटती आज वज्र की छाती।"[9]

'हाहाकार' भारतीय किसानों की बेमिसाल गरीबी का शोकगीत है। खलिहान किसानों के खुशहाली की जगह हुआ करती थी। आज उस खलिहान को महाजनों और जमींदारों के अत्याचार ने रोने और आँसू बहाने की जगह बना दी; यथा,

"जेठ हो कि हो पूस, हमारे कृषकों को आराम नहीं है,
छुटे बैल के संग, कभी जीवन में ऐसा याम नहीं है।
मुख में जीभ, शक्ति भुज में, जीवन में सुख का नाम नहीं है,
वसन कहाँ? सूखी रोटी भी मिलती दोनों शाम नहीं है।
विभव-स्वप्न से दूर भूमि पर यह दुखमय संसार कुमारी,
खलिहानों में जहाँ मचा करती है हाहाकार कुमारी।"[10]

अंग्रेजी साम्राज्यवादी शासन ने किसानों के अनाज को खलिहान से ही उठा लिया करते थे। लेकिन आज की शोषक नीतियाँ फसल पकने से पहले ही खाद्य, दवा और बीज के माध्यम से लूट लेती हैं। किसान के श्रम का शोषण किया जा रहा है। दिनकर ने जमींदारों, महाजनों और अंग्रेज सरकार द्वारा किसानों के शोषण और उत्पीड़न को कृषकमेध की संज्ञा दी है। दिनकर की 'दिल्ली' नामक कविता में बहुत पहले ही भारत की राजधानी को कृषकमेध की रानी की संज्ञा दे चुके हैं; यथा,

"आहें उठीं दीन कृषकों की,
मजदूरों की तड़प, पुकारें,
अरी! गरीबों के लोहू पर
खड़ी हुई तेरी दीवारें।
अंकित है कृषकों के दृग में तेरी निठुर निशानी,
दुखियों की कुटिया रो-रो कहती तेरी मनमानी।
औ, तेरा दृग-मद यह क्या है? क्या न खून बेकस का?
बोल, बोल क्यों लजा रही ओ कृषक-मेध की रानी?"[11]

जनकवि नागार्जुन ने किसानों के दु:ख-दर्द को 'रातो-रात भिगो गए बादल', 'अन्न-पचीसी', 'बहुत दिनों के बाद', 'रवि ठाकुर!' और 'अकाल और उसके बाद' कविता के माध्यम से प्रस्तुत किया है। अकाल आने पर भारतीय समाज की दुर्दशा होती है। पर सबसे ज्यादा किसानों की बुरी हालत होती है। किसान से आश्रित पशु-पक्षी और जीव-जंतु की हालत भी गंभीर होती है; यथा,

"कई दिनों तक चूल्हा रोया, चक्की रही उदास
कई दिनों तक कानी कुतिया सोई उसके पास
कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियों की गश्त
कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही शिकस्त।"[12]

केदारनाथ अग्रवाल की 'मेरी धरती और मैं', 'हल चलते हैं फिर खेतों में', 'धरती', 'खेत का दृश्य', 'मेरे खेत में हल चलता है', 'किसान स्तवन', 'किसान से', '110 का अभियुक्त', 'अभिशाप जग का', 'किसानी गाना', 'गेहूँ', 'खेतिहर', 'कटुई का गीत', 'पैतृक सम्पत्ति', 'खेत और खेत हैं' और 'देबी के बैल' आदि कविताओं के माध्यम से भारतीय किसानों का धरती, बैल और हल से लगाव और किसानों की लाचारी को उजागर करते हैं। सही अर्थों में केदारनाथ अग्रवाल खेत-खलिहान के कवि हैं। किसान वन-झाड़ धरती पर हल चलाते हैं। दिन-रात हाड़-तोड़ मेहनत करके धरती को बीज बोने लायक बनाते हैं। किसान मिट्टी पर गेहूँ, चना

नहीं बल्कि खूनी अंगारे बोते हैं। केदारनाथ अग्रवाल 'मेरे खेत में हल चलता है' कविता में लिखते हैं–

"मेरे खेत में हल चलता है
मैं युग की निद्रा खोता हूँ
गेहूँ चना नहीं बोता हूँ
खूनी अंगारे बोता हूँ।"[13]

कवि केदारनाथ अग्रवाल 'किसान से' नामक कविता के माध्यम से भारतीय किसानों से आग्रह करते हैं। हे किसान! अपने पूर्वजों की मेहनत को आगे बढ़ाये जा। इस धरती को बीज बोने लायक बना दो। अपना खून–पसीना बहाकर आजादी के उद्देश्य को पूरा कर दो। शोषक की नीति पर आग लगा दो। शोषण की प्रथा को तोड़कर नया भारत का निर्माण कर दो। गाँव से नगर तक के बेघरों को सम्मान से लाखों घर बसा दो। हल–हँसिया का परचम लहराये जा; यथा,

"हल–हँसिया का और हथौड़ा–
का परचम लहराये जा।
अब अपनी सरकार बनाकर,
जीवन में मुसकाये जा।।"[14]

देश के नौकरशाही, अफसरशाही, दलाल, पटवारी एवं जमींदार आदि के अत्याचार से शोषित किसान, जब अपने हक के लिए आवाज बुलंद करते हैं। अपने ऊपर लगाये गए अन्याय का प्रतिकार करते हैं। तब उन्हें अपराधी करार दे दिया जाता है। अग्रवाल जी '110 का अभियुक्त' कविता में लिखते हैं–

"अभियुक्त 110 का,
बलवान, स्वस्थ,
प्यारी धरती का शक्ति–पुत्र,
चट्टानी छातीवाला,
है खड़ा खम्भ–सा आँधी में
डिप्टी साहब के आगे।"[15]

बहरहाल केदारनाथ अग्रवाल 'कटुई का गीत' कविता के माध्यम से शोषक वर्ग का विरोध करने की बात करते हैं। वे मारने–पीटने की बात करते हैं। जीवन की रक्षा के वास्ते हिंसा और अहिंसा को भी कुछ नहीं समझते हैं; यथा,

"काटो काटो काटो करबी
मारो मारो मारो हँसिया
हिंसा और अहिंसा क्या है
जीवन से बढ़ हिंसा क्या है।"[16]

शमशेर बहादुर सिंह ने 'भारत की आरती' नामक कविता में भारत को किसानों की कर्म–भूमि के रूप में स्वीकारा है। भवानी प्रसाद मिश्र जी 'आषाढ़ का पहला दिन', 'मंगल वर्षा', 'धरती पर तारे', 'मैं जो हूँ', 'इन सबका दुख गाओगे या नहीं' और 'आमीन, गुलाब पर ऐसा वक्त कभी न आये' आदि कविताओं के माध्यम से किसानों की आस और लाचारी को उजागर करते हैं। वे आषाढ़ के पहला दिन का बेसबरी से इंतजार करते हैं। खेत में पाने पड़ते ही हल–बैल के संग खेत की ओर चले जाते हैं। बारिश नहीं होने पर किसान की हालत दयनीय हो जाती है। कवि 'इन सबका दुख गाओगे या नहीं' कविता में लिखते हैं–

"इस बार शुरू से धरती सूखी है
हवा भूखी है
वृक्ष पातहीन हैं
इस बार शुरू से ही नदियाँ क्षीण हैं,
पंछी दीन हैं
किसानों के चेहरे मलीन हैं
क्या करोगे इस बार
इन सबका दुख गाओगे या नहीं
पिछले बरस कुछ सरस भी था
इस बरस तो सरस कुछ नहीं दीखता
इस बार क्षीणता को
दीनता की मलीनता को,
भूखे को वाणी दो
उलट-पुलट की संभावना को पानी दो।"[17]

शील 'बैल' नामक कविता में बैल से किसान की सहायता करने का अनुरोध करते हैं। वहीं 'आदमी का गीत' नामक कविता में धरती के लाल से नया संसार बसाने की बात करते हैं। अपने सपनों को साकार करने के वास्ते मेहनत और नए विचार, नई चेतना के साथ पूंजीपति और दलालों की शोषण नीति को नष्ट करने के लिए प्रेरित करते हैं। कवि लिखते हैं-

"सुख सपनों के सुर गूँजेंगे,
मानव की मेहनत पूजेंगे
नई चेतना, नए विचारों की
हम लिए मशाल,
समय को राह दिखाएंगे,
नया संसार बसाएंगे, नया इंसान बनाएंगे।
देश हमारा धरती अपनी, हम धरती के लाल।
नया संसार बसाएंगे, नया इंसान बनाएंगे।।"[18]

त्रिलोचन की 'उठ किसान ओ' सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की 'शाम-एक किसान' केदारनाथ सिंह की 'दुपहरिया' और 'धानों का गीत' रमेश रंजक की 'किसान' आदि कविताओं में किसानों की बेबसी व लाचारी को देख सकते हैं। इन कवियों ने अपनी कविताओं के माध्यम से किसान के प्रति अपनी संवेदना को प्रस्तुत किया है। आज देश में कर्ज से परेशान अन्नदाता आत्महत्या करते हैं। अखबार में खबर छपती है, लगातार सूखे की चपेट में आकर और कर्ज अदा नहीं कर पाने के डर से एक किसान ने आत्महत्या कर ली। वहीं टीवी चैनल में एक-दो बार दिखाते आज पुनः एक किसान ने तंगी में आकर आत्महत्या की। जिसने दो लाख का कर्ज लिया था, जो आंधी-पानी से फसल के नष्ट होने पर आत्महत्या कर ली। हमारी सरकार को अन्नदाता की आत्महत्या पर गम व चिंता नहीं है। राजेश जोशी 'इस आत्महत्या को अब कहाँ जोंडू' मे लिखते हैं-

"देश के बारे में लिखे गए हजारों निबन्धों लिखा गया
पहला अमर वाक्य एक बार फिर लिखता हूँ

भारत एक कृषि प्रधान देश है
दुबारा उसे पढ़ने को जैसे ही आँखें झुकाता हूँ
तो लिखा हुआ पाता हूँ
कि पिछले कुछ बरसों में डेढ़ लाख से अधिक किसानों ने
आत्महत्या की है इस देश में
भयभीत होकर कागज पर से अपनी आँखे उठाता हूँ
तो मुस्कुराती हुई दिखती है हमारी सरकार
कोई शर्म नहीं किसी की आँख में
दु:ख या पश्चाताप की एक झाईं तक नहीं चेहरे पर
....
एक किसान ने कुछ देर पहले आत्महत्या कर ली
तुम्हारे अपने गाँव में...
आत्महत्या के आकड़ों में अब इसे कहाँ जोड़ू?"[19]

वर्तमान समय में खेती करना नरक से भी कष्टदायक हो गया है। किसान अपनी मजबूरी, लाचारी व विवशता से तंग आकर मजबूरन आत्महत्या करते हैं। किसानों की इस आत्महत्या पर हरीशचंद्र पाण्डेय 'किसान और आत्महत्या' की कविता में लिखते हैं-

"उन्हें धर्मगुरुओं ने बताया था प्रवचनों में
आत्महत्या करने वाला सीधे नर्क जाता है
तब भी उन्होंने आत्महत्या की
क्या नर्क से भी बदतर हो गई थी उनकी खेती।"[20]

एकांत श्रीवास्तव की 'जमीन-2', 'अन्न-1', 'धान-गंध-1', 'धान-गंध-2', 'लौटती बैलगाड़ी का गीत', 'कार्तिक पूर्णिमा', 'सिला बीनती लड़कियाँ', 'माँ', 'बारहमासा', 'मैं', 'कविता की जरूरत-1' और 'कविता की जरूरत-2' आदि कविताओं में भारतीय किसानों की विवशता को प्रस्तुत करते हैं। किसान की जमीन बिक जाने के बाद भी किसान का लगाव, सपने और स्मृति रह जाता है। खेत में धान की बालियों में दूध पकते ही बैलों की घंटियाँ, झरते हैं मुनगे के फूल और धान के कटते ही वसन्त का आगमन हो जाता है। 'अन्न-1' कविता में किसान के प्रति अन्न की इच्छा को व्यक्त किया है। कवि के शब्दों में-

"अन्न
धरती की ऊष्मा में पकते हैं
और कटने से बहुत पहले
पहुँच जाते हैं चुपके से
किसान की नींद में
कि देखो हम आ गए
तुम्हारी तिथि और स्वागत की
तैयारियों को गलत साबित करते
अन्न
अपने सपनों में

कोई जगह नहीं देते
गोदामों और मंडियों को
अन्न धुलेंगे
किसान की बिटिया के हाथों
पकेंगे बटुली के खौलते जल में
और एक भूखे गाँव की खुशी में
बदल जाएँगे
अन्न
पक्षियों की चोंच में बैठकर
करेंगे अपनी यात्रा
माढ़ बनकर
गाय का कंठ करेंगे तर
और अगली सुबह
उसके थन में
दूध बनकर मुस्कुराएँगे
अन्न
हमेशा-हमेशा रहेंगे
प्रलय से पहले
प्रलय के बाद
हमेशा-हमेशा
अपने दूधियापन से
जगर-मगर करते गाँव का मन।"[21]

बहरहाल कृष्णानन्द की 'तुम क्या समझोगे?', बहादुर पटेल की 'सवाल', 'टापरी', शर्मीला की 'थोड़ा लहू', 'अभिशाप', 'गुणा', 'अहसास', 'हम तुम्हारे साथ हैं!', 'बरस गया!', 'फटी झोली', 'लुटेरी', 'आँकड़ा बनते आदमी!', 'चूल्हा', 'जमीन' और डॉ. मिनाक्षी तिवारी की 'भूमि पुत्रों का संघर्ष' आदि कविताओं में किसानी जीवन के दु:ख-दर्द को देखा जा सकता है। हिन्दी के अनेक कवियों ने किसान को केन्द्र में रखकर कविताएँ लिख चुके हैं, लिख भी रहे हैं और लिखते भी रहेंगे।

अंग्रेजों के उपनिवेशवादी शोषण का कहर भारतीय किसान पर ही ज्यादा बरसा। औपनिवेशिक आर्थिक नीतियाँ, भू राजस्व की नई प्रणाली और उपनिवेशवादी प्रशासनिक व न्यायिक व्यवस्था ने किसानों की कमर तोड़ दी। भारत सरकार व राज्य सरकारें खेती करने लायक जमीन को उद्योगपतियों के हाथों दे देती हैं। किसान बंजर जमीन को खेती करने लायक बनाते हैं। आज किसान का पैसा जमींदारों, ठेकेदारों, व्यापारियों और दलालों के पास चला जाता है। आधा से अधिक पैसा फसल तैयार करते समय खेत में ही बीज, दवा, खाद्य, बिजली, मजदूर और अन्य खेती के आवश्यक सामान पूरा करते ही समाप्त हो जाता है। यही भारतीय किसानों की दास्ताँ हैं।

संदर्भ :

1. किसानी कविताएँ, सम्पादक डॉ. मृत्युंजय कोईरी, दिशा इन्टरनेशनल पब्लिशिंग हाउस, नोएडा, प्रथम संस्करण:

2020, पृ. 01
2. वही, पृ. 04
3. वही, पृ. 09
4. वही, पृ. 14
5. वही, पृ. 19
6. वही, पृ. 21-22
7. वही, पृ. 26
8. वही, पृ. 45
9. वही, पृ. 53
10. वही, पृ. 52
11. वही, पृ. 38-39
12. आधुनिक काव्य विविधा, संकलन और संपादन, डॉ. राकेश वत्स, इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, पुन मुद्रितः अगस्त 2014, पृ. 152
13. किसानी कविताएँ, सम्पादक डॉ. मृत्युंजय कोईरी, पृ. 81
14. वही, पृ. 85
15. वही, पृ. 86
16. वही, पृ. 97
17. वही, पृ. 113
18. वही, पृ. 119-120
19. वही, पृ. 131-132
20. वही, पृ. 139
21. वही, पृ. 143-144

❖❖❖

आलेख

रूसी क्रांति और 'कर्मभूमि' उपन्यास : स्त्री सशक्तीकरण और सामाजिक परिवर्तन

❍ श्रद्धा सिंह*

20वीं सदी की शुरुआत में रूस और भारत महत्वपूर्ण सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनों के दौर से गुजर रहे थे। रूस में जहाँ जार निकोलस II के शासन के खिलाफ विद्रोह हो रहा था, वहीं भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के खिलाफ स्वतंत्रता संग्राम तेजी पकड़ रहा था। इस दौर में प्रेमचंद ने अपने साहित्य के माध्यम से भारतीय समाज की वास्तविकताओं को उकेरा और सामाजिक न्याय, गरीबी तथा महिलाओं की स्थिति जैसे मुद्दों पर प्रकाश डाला।

रूसी क्रांति में महिलाओं की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण थी। उन्होंने न केवल क्रांतिकारी गतिविधियों में हिस्सा लिया, बल्कि सामाजिक पुनर्निर्माण में भी महत्वपूर्ण योगदान किया। महिलाओं ने मजदूर संघों, राजनीतिक संगठनों, और समाज सुधार आंदोलनों में बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया। क्रांति के बाद, महिलाओं को कई नए अधिकार प्राप्त हुए; जैस, वोट का अधिकार और समान वेतन का अधिकार। इस प्रकार रूसी क्रांति ने महिलाओं की सामाजिक स्थिति को भी बदल दिया। लेनिन ने रूसी क्रांति में महिलाओं की भूमिका की महत्ता का बखान करते हुए कहा था कि 'महिला श्रमिकों ने क्रांति के दौरान शानदार काम किया। उनके बिना हम विजयी नहीं हो सकते थे'। यही बात 'कर्मभूमि' उपन्यास का पात्र अमरकांत कहता है- "आप लोग इस मैदान में भी हमसे बाजी ले गईं। आपलोगों ने जिस काम का बीड़ा उठाया, उसे पूरा कर दिखाया।"[1]

8 मार्च को अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस मनाया जाता है, जिसका सीधा संबंध 1917 में हुई रूसी क्रांति से है। "बहुत सारे कारखानों में हड़ताल का नेतृत्व औरतें कर रही थीं। इसी दिन को बाद में अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस का नाम दिया गया।"[2] यह वह दौर था, जब रूस की जनता तत्कालीन जारशाही से तंग आ चुकी थी। प्रथम विश्व युद्ध चल रहा था, और यद्यपि रूस की सेना गठबंधन का हिस्सा थी, युद्ध ने आम लोगों के जीवन में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न कर दी थीं। युद्ध से परेशान जनता शांति चाहती थी और जार के शासन से मुक्ति भी।

ऐसे में बड़ी संख्या में महिलाएँ सड़कों पर उतर आईं, जिनमें मुख्य रूप से उद्योग जगत से जुड़ी, यानी फैक्ट्रियों में काम करने वाली महिलाएँ शामिल थीं। 1914 में फैक्ट्री मजदूरों में महिलाओं की संख्या 31% थी परंतु उन्हें पुरुष मजदूरों की तुलना में कम वेतन (पुरुषों के वेतन के मुकाबले आधे से तीन चौथाई तक) मिलता

✡ *शोधार्थी, हिंदी विभाग, प्रेसिडेंसी विश्वविद्यालय, कोलकाता; मो. 8130732179.*

था। उन्होंने पुरुषों से भी अपनी मुहिम को समर्थन देने की अपील की, जिसका परिणाम यह हुआ कि तकरीबन 90 हजार लोग हड़ताल में शामिल हुए, "महिला कामगार, अकसर...अपने पुरुष सहकर्मियों को प्रेरित करती रहती थीं...। लॉरेंज टेलीफोन फैक्ट्री में, ... मार्फा वासीलेवा ने लगभग अकेले ही एक सफल हड़ताल को अंजाम दिया था। उसी दिन सुबह को महिला दिवस समारोह के मौके पर महिला कामगारों ने पुरुष कामगारों को लाल पट्टियाँ बाँधी थीं...इसके बाद, मिलिंग मशीन ऑपरेटर का काम करने वाली मार्फा वासीलेवा ने काम रोक दिया और आनन-फानन हड़ताल का आह्वान कर डाला। काम पर मौजूद मजदूर उसके समर्थन को पहले ही तैयार थे।. .. फोरमैन ने इस बारे में प्रबंधकों को सूचित कर दिया और उसके लिए पावरोटी भिजवायी। उसने पावरोटी तो ले ली लेकिन काम पर लौटने से इनकार कर दिया। जब प्रशासक ने उससे पूछा कि वह काम क्यों नहीं करना चाहती तो उसने पलट कर जवाब दिया "जब बाकी सारे भूखे हों तो मैं अकेले पेट भरने की नहीं सोच सकती।" मार्फा के समर्थन में फैक्ट्री के दूसरे विभाग में काम करने वाली महिलाएँ भी इकट्ठी हो गई और धीरे-धीरे बाकघे सारी औरतों ने भी काम रोक दिया। जल्दी ही पुरुषों ने भी औजार जमीन पर डाल दिए और पूरा हुजूम सड़क पर निकल आया।"[3] रूस में महिलाओं की उस मुहिम का नाम 'ब्रेड एंड पीस' (यानी खाना और शांति) था, जिसने वहाँ के तत्कालीन सम्राट निकोलस को पद छोड़ने के लिए मजबूर कर दिया। इसके बाद जो अंतरिम सरकार सत्ता में आई, उसने महिलाओं को मतदान का अधिकार भी दिया।

1917 की क्रांति के समय कई महत्वपूर्ण घटनाएँ घटीं। फरवरी क्रांति के दौरान जार निकोलस II को गद्दी छोड़नी पड़ी और एक अस्थायी सरकार का गठन हुआ। अक्टूबर में, बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में दूसरी क्रांति हुई तथा ब्लादिमीर लेनिन के नेतृत्व में एक समाजवादी सरकार की स्थापना हुई। इस क्रांति ने रूस को एक समाजवादी गणराज्य में बदल दिया और यह घटना इतिहास में एक महत्वपूर्ण मोड़ साबित हुई।

रूसी महिलाओं के योगदान और त्याग से प्रभावित होकर भारतीय महिलाओं ने भूमिगत क्रांतिकारी दलों को सहयोग देना शुरू किया। बंगाल उस समय क्रांतिकारियों का गढ़ माना जाता था। यहीं पर प्रथम महिला सुहासिनी गांगुली कम्युनिस्ट दल की सदस्य बनीं और जेल भी गयीं। कल्पना दत्त, जो 'चटगांव और आर्मरी रेड' केस में शामिल थी, लेनिन और रूसी क्रांति से बहुत प्रभावित थी। जेल जाने पर इन महिलाओं ने रूसी क्रांति से संबंधित साहित्य पढ़ा। इसी तरह बंगाल के अतिरिक्त पंजाब, दिल्ली और मध्य प्रांतों में भी कई महिलाएँ थीं, जो इस क्रांति से प्रभावित थीं। ये सभी भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में अग्रणी रहीं। लेबर पार्टी, बोल्शेविक पार्टी, सीपीआई तथा अन्य मजदूर संघों में भी भारतीय महिलाओं ने रूसी क्रांति से प्रेरित होकर मजदूर आंदोलनों और स्वतंत्रता आंदोलनों में सक्रिय भाग लिया।

ऐसी अनेकों महिलाएँ, जो गांधी के नेतृत्व में जेल गईं, जेल में रूसी क्रांति का अध्ययन करती थीं। कुछ महिलाएँ ऐसी भी थीं जो समाजवादी दलों में शामिल नहीं थी फिर भी समाजवाद का अध्ययन करती थीं और रूसी क्रांति से प्रभावित थीं। इनमें कमलादेवी चट्टोपाध्याय, मणिबेन कारा, सत्यवती देवी और पूर्णिमा बनर्जी आदि प्रमुख थीं। रामेश्वरी नेहरू, जो महिलाओं के अधिकारों के आंदोलनों की नेता मानी जाती हैं, ने 1924 में पुरुषों के समान महिलाओं के अधिकार की मांग करते हुए रूस की महिलाओं का उदाहरण पेश किए। 1932 में रामेश्वरी नेहरू स्वयं सोवियत रूस गईं और अंत तक वहाँ की महिलाओं की स्वतंत्रता और समानता की सराहना करती रहीं। सरोजिनी नायडू भी रूस में अपने मित्रों के माध्यम से रूसी महिलाओं के विषय में जानकारी प्राप्त करती रहती थी। अरुणा आसफ अली ने राजनीति में प्रवेश रूसी क्रांति से प्रभावित होकर ही किया था।

1943 में जब नेताजी सुभाष चंद्र बोस ने आजाद हिंद फौज (INA) का पुनर्गठन किया, तो उन्होंने महिलाओं के लिए 'रानी झांसी रेजिमेंट' का गठन किया। कैप्टन लक्ष्मी सहगल के नेतृत्व में इस रेजिमेंट की

स्थापना की गई। इस रेजिमेंट में महिलाओं को न केवल युद्ध कौशल की ट्रेनिंग दी गई, बल्कि उन्हें भारत की स्वतंत्रता के लिए पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर लड़ने का अवसर भी मिला। इस प्रकार रूसी क्रांति की विचारधारा ने कहीं न कहीं भारतीय महिलाओं को क्रांतिकारी गतिविधियों में भाग लेने के लिए प्रेरित किया और रानी झांसी रेजिमेंट के गठन में एक प्रभावशाली भूमिका निभाई।

रूसी क्रांति ने दुनिया भर में शोषण और अन्याय के खिलाफ आवाज उठाने की प्रेरणा दी। 'कर्मभूमि' उपन्यास में भी यह भावना दिखाई देती है, जहाँ किसान और मजदूर अपने अधिकारों के लिए जागरूक होते हैं और शोषण के खिलाफ संगठित होते हैं। सामाजिक परिवर्तन में महिलाओं की कितनी महत्वपूर्ण भूमिका होती है, इसको उपन्यास के महिला पात्रों के माध्यम से देखा जा सकता है। प्रेमचंद ने अपने साहित्य के माध्यम से यह संदेश देने की कोशिश की है कि महिलाएँ भी समाज के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं। उपन्यास में महिलाएँ न केवल पीड़िता के रूप में प्रस्तुत होती हैं, बल्कि वे संघर्षशील और आत्मनिर्भर भी हैं। मुन्नी, सुखदा, नैना, सकीना, पठानिन, सलोनी, रेणुका देवी – ये सभी पात्र अपने-अपने संघर्षों और समस्याओं के बावजूद आत्मसम्मान और संघर्ष की प्रतीक हैं।

प्रेमचंद ने 'कर्मभूमि' उपन्यास में रूसी क्रांति के प्रभाव को भारतीय समाज में जागरूकता और परिवर्तन के वाहक के रूप में प्रस्तुत किया है। यह उपन्यास न केवल सामाजिक न्याय और सुधार की दिशा में एक महत्वपूर्ण साहित्यिक कृति है, बल्कि यह विभिन्न आंदोलनों और क्रांतियों के प्रभाव को भी चित्रित करता है।

उपन्यास में दिखाया गया है कि जिसने भी सरकार के विरोध में आवाज उठाई, उसे या तो जेल की सजा मिली या मौत के घाट उतार दिया गया। उपन्यास के सभी स्वाधीनता प्रेमी पात्रों को जेल में डाल दिया जाता है, जिसमें नारी पात्र सबसे आगे हैं। सुखदा शुरुआत में कुछ कुछ समरकान्त के साँचे में ढली हुई थी, लेकिन जब वह दुखियों पर हो रहे जुल्म को देखती है तो उसका स्त्री मन जागृत हो जाता है। वह जान की बाजी लगाकर पुलिस की गोलियों के आगे खड़ी हो जाती है- "भागने वालों के पाँव संभल गए। एक महिला को गोलियों के सामने खड़ी देखकर कायरता भी लज्जित हो गई। एक बुढ़िया ने पास आकर कहा- बेटी, ऐसा न हो, तुम्हें गोली लग जाए!"[4] सुखदा के सहयोग से दलितों के नए जीवन की शुरुआत हुई।

जब नगर के सभी छोटी जातियों के लोग उपेक्षा और अत्याचार के विरुद्ध एकजुट होकर आन्दोलन करते हैं, तब सुखदा, जो कि एक सम्पन्न उच्च वर्ग के पिता की बेटी और पूंजीपति समरकान्त की बहू हैं, इनका नेतृत्व करती हैं। इन जातियों में चमार, धोबी, नाई, कहार, मेहतर आदि सभी शामिल हैं। उन्हें उनके अधिकारों से परिचित कराते हुए सुखदा कहती है- "हम जितना दबेंगे, यह बड़े आदमी हमें उतना ही दबाएंगे, आज तुम्हें तय करना है कि तुम अपने हक के लिए लड़ने को तैयार हो या नहीं।"[5]

जिस प्रकार लेनिन की बड़ी बहन आन्ना एलिजारोवा को फरवरी क्रांति से एक सप्ताह पहले गिरफ्तार कर लिया गया था और एक अन्य बोल्शेविक इलेना स्तासोवा को उनकी बीमारी के बावजूद 24 फरवरी को गिरफ्तार कर लिया गया था, ठीक उसी प्रकार इस उपन्यास के पात्रों को भी गिरफ्तार किया जाता है। इसके बावजूद आंदोलन को रोकना संभव नहीं हो पाता। वीर भारत तलवार ने लिखा है, "होमरूल आंदोलन की नेता एनीबेसेंट ने फरवरी क्रांति का स्वागत करते हुए कहा कि जैसे रूसी जार जनता के स्वाधीनता आंदोलन को कुचल नहीं सका उसी तरह ब्रिटिश शासक भी भारत के आंदोलन को कुचल नहीं सकेंगे।"[6] सुखदा भी यही कहती है, "जिस समाज का आधार ही अन्याय पर हो, उसकी सरकार के पास दमन के सिवा और क्या दवा हो सकता है? लेकिन इससे कोई यह न समझे कि यह आंदोलन दब जाएगा, उसी तरह, जैसे कोई गेंद टक्कर खाकर और जोर से उछलती है, जितने ही जोर की टक्कर होगी, उतने ही जोर की प्रतिक्रिया भी होगी।"[7]

प्रेमचंद ने दिखाया है कि इस आजादी जैसे पावन काम में महिलाएँ पुरुषों की तुलना में कम नहीं हैं। जब समरकांत सुखदा को उसकी गिरफ्तारी के वारंट के बारे में बताता है, तो वह कहती है- "मुझे गिरफ्तार कर लें। उन लाखों लोगों को कहाँ ले जायेंगे, जिनकी आहें आसमान तक पहुँच रही हैं। यही आहें एक दिन किसी ज्वालामुखी की भांति फटकर सारे समाज और समाज के साथ सरकार को भी विध्वंस कर देंगी।"[8]

रूस में प्रत्येक पड़ाव पर महिलाएँ जोर देकर कहती थीं कि अब काम बंद करने का समय आ गया है और यह समय है मालिक और सरकार को यह दिखाने का कि अंततः मजदूर अपना हक हासिल करने के लिए हर कदम उठाने को तैयार हैं। महिलाओं ने फैक्ट्रियों की खिड़कियों और दरवाजों पर पत्थर, बर्फ के गोले और डंडे फेंके, और इमारतों में घुस गईं। वे समझाने-बुझाने के तरीकों का इस्तेमाल करके अधिक से अधिक मजदूरों को अपने साथ लेती चली गईं। पुलिस और सैनिकों के साथ झड़पों में कुछ महिलाओं को मार दिया गया। 'कर्मभूमि' में भी नैना को गोली मार दी जाती है और सलोनी को मार-मार कर अधमरा कर दिया जाता है।

नैना जब देखती है कि मिल के मजदूरों को जमीन देने को लेकर हड़ताल हो रही है, समरकान्त तथा धनीराम जैसे लोगों का शोषण चक्र जोरों से चल रहा है और सभी नेता एक के बाद एक गिरफ्तार हो चुके हैं, तब वह जनता का नेतृत्व करती हुई हाथ में झंडा उठाती है। नैना जनता को अपने वक्तव्यों से उत्साहित करती है, "आपने देखा था, यहाँ कई हरे-भरे गांव थे। म्युनिसिपैलिटी ने नगर-निर्माण-संघ बनाया। गांव के किसानों की जमीन कौड़ियों के दाम छीन ली गई और आज वही जमीन अशर्फियों के दाम बिक रही है... अगर उन्हें घमंड हो कि वे हथियार के जोर से गरीबों को कुचलकर उनकी आवाज बंद कर सकते हैं तो यह उनकी भूल है।... वह जमाना दूर नहीं है, जब गरीबों के हाथ में शक्ति होगी। विप्लव के जंतु को छेड़-छेड़कर न जगाओ। उसे जितना ही छेड़ोगे, उतना ही झल्लाएगा और वह उठकर जम्हाई लेगा और जोर से दहाड़ेगा तो फिर तुम्हें भागने की राह न मिलेगी"[9] आन्दोलन के क्रम में नैना को उसके पति मनीराम द्वारा गोली मार दी जाती है।

'कर्मभूमि' उपन्यास में ब्रिटिश राज के दमन की एक और तस्वीर प्रेमचंद ने प्रस्तुत की हैं, स्त्रियों के साथ दुराचार की। मुन्नी की इज्जत दो अंग्रेज सिपाहियों द्वारा लूटी जाती है। प्रेमचंद ने लिखा है, "उसकी जिस अमूल्य वस्तु का अपहरण किया गया था, उसे कौन दिला सकता था?"[10] मानसिक रूप से विक्षिप्त होकर मुन्नी अपने पति और बेटे से दूर हो जाती है, और इसी अवस्था में वह दो अन्य अंग्रेज सिपाहियों की हत्या करके अपना बदला पूरा करती है। कुछ लोगों का कहना है कि मुन्नी का विरोध सही था किंतु तरीका गलत था। क्या यह कहना उचित है? इसका उत्तर यह हो सकता है कि गलती किसी और की है, तो सजा किसी और को क्यों दी जाए, जैसा कि अमर भी यही कहता है। लेकिन इसका दूसरा पहलू भी है। प्रेमचंद अन्य गोरों को चेतावनी देते हैं कि अगर भविष्य में किसी स्त्री के साथ तुम लोग ऐसा करोगे तो इसकी सजा यही होगी। एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रेमचंद उस मेम की हत्या नहीं करने देते, जो उन्हीं अंग्रेजों के साथ आई है अर्थात् प्रेमचंद पुरुष की गलतियों की सजा किसी स्त्री को नहीं देना चाहते। उनकी मंशा यह भी हो सकती है कि मेम जाकर अपनी जाति के लोगों को आँखों देखी हाल बताएँ कि भारतीय स्त्रियाँ अब अबला नहीं रहीं। रामविलास शर्मा ने लिखा है, "मुन्नी उनकी वीर नारियों में सिरमौर है। मुन्नी और अन्य नारी पात्रों के चित्रण में आमतौर से प्रेमचंद ने एक महान् कलाकार की सहृदयता का परिचय दिया है। सुखदा और नैना के त्याग और सच्ची देश-भक्ति के सामने अमरकांत और समरकांत क्षुद्र मालूम होते हैं।"[11]

मुन्नी पर जब मुकदमा चलता है, तो सभी स्त्रियाँ एकजुटता दिखाती हैं। सुखदा, रेणुका, यहाँ तक कि पठानिन और सकीना के लिए मुन्नी को छुड़ाने की लड़ाई उनकी अपनी लड़ाई हो जाती है। उनके पास तन

ढकने के लिए ढंग का एक वस्त्र भी नहीं है, फिर भी वे चंदा देती हैं। जज साहब की पत्नी भी मुन्नी का समर्थन करती है। इनके अलावा, अमरकान्त, शान्तिकुमार, देशभक्त न्यायविद, और शहर की जनता भी मुन्नी के समर्थन में उमड़ पड़ती हैं। अंततः मुन्नी अदालत से बरी हो जाती है।

वर्तमान समय में देखा जाए, तो क्या आज महिलाओं के साथ मुन्नी जैसा दुर्व्यवहार नहीं किया जा रहा है? गोरे कम से कम मुन्नी की हत्या तो नहीं किए, लेकिन आज तो अपने ही लोग उनकी हत्या भी कर रहे हैं। उदाहरण सामने हैं, 2012 में दिल्ली में हुआ निर्भया कांड, 2017 में उन्नाव में हुआ निर्भया कांड-2, और 2019 में हैदराबाद में हुआ निर्भया कांड-3। ये सभी घटनाएँ दिल दहला देने वाली थीं। अपने-अपने तरीकों से विरोध भी जताया गया, लेकिन उससे हुआ क्या? अगर इस विरोध का थोड़ा भी सकारात्मक असर पड़ा होता, तो आज 2024 में कोलकाता में अभया कांड जैसी घटनाएँ नहीं होतीं।

अभया कांड ने यह साबित कर दिया कि महिलाएँ अब अपने कर्मक्षेत्र में भी सुरक्षित नहीं हैं। जैसे मुन्नी के साथ सभी महिलाएँ खड़ी होती हैं, वैसे ही आज की महिलाएँ अभया के साथ खड़ी होकर अपना प्रतिरोध व्यक्त कर रही हैं। स्वतंत्रता दिवस के एक दिन पहले, अर्थात् 14 अगस्त को, सभी महिलाओं ने 'रात हमारी है' का अधिकार जताया।

'कर्मभूमि' उपन्यास में महिलाओं को सशक्तीकरण और सामाजिक परिवर्तन की दिशा में प्रेरित किया गया है। सुखदा, सकीना, नैना, मुन्नी, सलोनी, और पठानिन जैसे पात्रों के माध्यम से प्रेमचंद ने यह दर्शाया है कि कैसे क्रांति ने महिलाओं को जागरूक और सक्रिय बना दिया, जिससे वे समाज में महत्वपूर्ण बदलाव लाने में सक्षम हुईं। इस प्रकार 'कर्मभूमि' न केवल समाज सुधार की दिशा में एक महत्वपूर्ण कृति है, बल्कि यह रूसी क्रांति के प्रभाव को भारतीय संदर्भ में स्त्री सशक्तीकरण और सामाजिक परिवर्तन को प्रदर्शित करने का एक उत्कृष्ट उदाहरण भी है।

संदर्भ :

1. प्रेमचंद, कर्मभूमि, संपादक : राम आनंद, 'प्रेमचंद रचनावली-5', जनवाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1996, पृ. 498
2. मुख्य संपादक : श्वेता उप्पल, सामाजिक विज्ञान, भारत और समकालीन विश्व- 1, कक्षा -9, NCERT, प्रथम संस्करण, 2006, पृ. 36
3. वही, पृ. 37
4. 'प्रेमचंद रचनावली-5', पृ. 375
5. 'प्रेमचंद रचनावली-5', पृ. 408
6. वीर भारत तलवार, 'किसान राष्ट्रीय आंदोलन और प्रेमचंद : 1918-22', वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2008, पृ. 193
7 'प्रेमचंद रचनावली-5', पृ. 415
8. 'प्रेमचंद रचनावली-5', पृ. 415
9. 'प्रेमचंद रचनावली-5', पृ. 490
10. 'प्रेमचंद रचनावली-5', पृ. 251
11. रामविलास शर्मा, 'प्रेमचंद और उनका युग', राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पाँचवाँ परिवर्धित संस्करण : 1989, पृ. 95

❖❖❖

मंजिल उन्हें मिली जो शरीक-ए-सफर न थे (मैला आँचल के विशेष संदर्भ में)

❍ अवनीश पांडेय*

कुछ दिन पहले मैला आँचल पढ़ते हुए उपन्यास के अंत में तहसीलदार साहब के हृदय परिवर्तन की तरफ ध्यान गया। सामान्य पाठक होने के नाते यह बात मुझे भी खटकती है। रामविलास शर्मा ने अपनी किताब 'आस्था और सौंदर्य' में लिखा है कि, "एक दिन अकस्मात तहसीलदार का हृदय परिवर्तन हो जाता है। हर परिवार को पाँच बीघे जमीन मिल जाएगी। संथालों को भी जमीन मिल जाएगी। इस हृदय परिवर्तन के लिए किसी सर्वोदयकारी ने प्रयत्न नहीं किया, स्वयं तहसीलदार ने भी नहीं। पीते काफी थे, जैसे अचानक नशे में ज्ञान नेत्र खुल गए हों।"[1]

मैला आँचल के संदर्भ में रामविलास शर्मा की अधिकांश बातों से मैं खुद असहमत हूँ। लेकिन इस बात पर मैं उनसे सहमत हूँ। इसके लिए उपन्यास से क्रमशः दो उदाहरण देखें –

1. रामकिरपाल सिंह अपनी बची-खुची जमीन, फसल सहित, तहसीलदार के यहाँ सूद-रेहन रखकर तीरथ करने जा रहे हैं- काशी, केदार जी, जहाँ तक जा सकें। तहसीलदार साहब ने कहा है, "बाकी रुपया जहाँ से लिखियेगा, मनीऑर्डर से भेजते रहेंगे।"[2]

बाकी खजाना, घर-खर्चा, जाड़े का कपड़ा, सकलदीप के प्राच्छीत और सत्यनारायण पूजा के लिए खेलावन दो सौ रुपया माँगने गया। तहसीलदार साहब ने साफ जवाब दे दिया, "हाथ में एक पैसा नहीं है। ....घर के पिछवाड़े की जमीन, जिसमे धान करीब-करीब तैयार हो गया था, लिख दी तो तीन सौ रुपये दिए।"[3]

2. तहसीलदार साहब बहुत देर तक अपने कमरे में चुपचाप बैठकर कुछ सोचते हैं, फिर बाहर आकर कहते हैं, "सुमरितदास! लोगों से कह दो....हरेक परिवार को पांच बीघा के दर से जमीन मैं लौटा दूँगा। साँझ पड़ते-पड़ते मैं सब कागज पत्तर ठीक कर लेता हूँ। ...और संथाल टोली में जाकर कहो....वे लोग भी आकर रसीद ले जाएं। एक पैसा सलामी या नजराना, कुछ भी नहीं।"[4]

इस अचानक हुए परिवर्त्तन की कोई ठोस वजह, कोई सूत्र उपन्यास पढ़ते हुए दिखाई नहीं पड़ता है। थोड़ी ही देर में इतना बड़ा परिवर्तन हजम नहीं होता है।

उपन्यास को लेकर रामविलास शर्मा की जिस बात से मेरी असहमति है उसमें से एक है उनका यह कहना

✡ *असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, राजकीय पी.जी. कॉलेज, मोहम्मदाबाद-गोहना मऊ उत्तर प्रदेश, 276403*

कि, "मैला आँचल में नई चीज है, लोकसंस्कृति का वर्णन। लोकगीतों और लोकनृत्यों के वर्णन द्वारा लेखक ने एक अंचल विशेष की संस्कृति का चित्र अंकित किया है। इसके साथ कथा कहने की उसकी नई पद्धति है। वह सिनेमा के चित्रों के समान बहुत से शॉट इकट्ठे कर देता है, ये शॉट एक दूसरे से कितने विच्छिन्न हैं, इसका ध्यान नहीं रखता। ....उसकी चित्रण पद्धति यथार्थवाद से अधिक प्रकृतवाद के निकट है। .....अनेक अंशों को पढ़कर लगता है कि लोकगीतों पर लेख लिखा जा रहा है।"[5]

यहाँ यह देखना दिलचस्प होगा कि उसी लेख में वृंदावनलाल वर्मा के आंचलिकता के विषय मे उनका कहना है कि, "वृंदावनलाल वर्मा की रचनाओं में आंचलिकता का पुट अधिक है। जहाँ तहाँ बुंदेलखंडी बोली का प्रयोग और अधिकांश कृतियों में लोकसंस्कृति के पृष्ठभूमि से उनके उपन्यास सजीव बन गए हैं।"[6]

अपनी किताब "परंपरा का मूल्यांकन" में अपने प्रिय कथाकार अमृतलाल नागर को भी इसी कसौटी पर बड़ा उपन्यासकार घोषित किया है जिस कसौटी पर मैला आँचल को वे खारिज करते हैं। खैर बड़े आलोचकों में अंतर्विरोध भी बड़े हुआ करते हैं। अंतर्विरोध का एक और उदाहरण देखें। मैला आँचल पर लिखते हुए वे अजब विरोधाभास के शिकार हैं।

"बहुत कम उपन्यासों में पिछड़े हुए गांवों के वर्ग-संघर्ष, वर्ग शोषण और वर्ग अत्याचारों का ऐसा जीता जागता चित्रण मिलेगा।" वहीं आगे एक जगह लिखते हैं कि, "मैला आँचल का लेखक प्रेमचंद की परंपरा से दूर जा पड़ा है।"[7]

रामविलास शर्मा को अपने इस लेख (प्रेमचंद की परंपरा और आंचलिकता) के लिए अझेल हमले आज तक झेलने पड़ रहे हैं और यह सही भी है। लगता है पूरा लेख मानो नालिनविलोचन शर्मा की बातों का जवाब देने के क्रम में मैला आँचल को खारिज करने के लिए लिखा गया हो।

गहरे अर्थों में मैला आँचल को एक राजनीतिक उपन्यास भी कहा जा सकता है। उपन्यास का आरंभ और अंत एक राजनीतिक घटना क्रम से ही होता है। ब्रिटिश हुकूमत के बर्बर दमन चक्र का जो बिम्ब जनमानस में अंकित है उसकी खबर रेणु ने उपन्यास के शुरू में ही दे दी है, "मलेटरी ने बहरा चेथरु को गिरफ्फ कर लिया है"[8] 'यह खबर गाँव मे आग की तरह फैलती है। सन 1946 ई के किसी समय से आरंभ हुआ यह उपन्यास अप्रैल 1948 के आसपास खत्म होता है। यह वह दौर था जब औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत ही कांग्रेस मंत्रिमंडल का गठन हुआ था, फिर हिंसा, बर्बरता, विस्थापन और खून से लिपटी विभाजन की कीमत पर देश आजाद हुआ। आखिरकार ब्रिटिश हुकूमत के बने बनाये नियम से ही स्वातंत्र्योत्तर शासन व्यवस्था का आरंभ हुआ। प्रेमचंद ने यह सवाल बहुत पहले उठाया था कि, "कम से कम मेरे लिए तो स्वराज का यह अर्थ नहीं है कि जॉन की जगह गोविंद बैठ जाए।"[9] लेकिन अफसोस हुआ कुछ ऐसा ही। ब्रिटिश हुकूमत ने जो शासन व्यवस्था भारत में स्थापित की, क्या आजादी के बाद हम उस उस व्यवस्था से मुक्त हुए या सिर्फ केवल चमड़ी का रंग बदला, जिसकी चिंता प्रेमचंद 1930 में कर रहे थे। यह ऐसा सवाल था जिसे आजादी के शोर में दबा दिया गया। प्रेमचंद ने प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था, "साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन की सामान जुटाना नहीं है, उसका दरजा इतना न गिराइए। वह देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सचाई भी नहीं है बल्कि उसके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई है।"[10] रेणु ने यह काम बखूबी कर के दिखाया अपने उपन्यास मैला आँचल के माध्यम से। इसी मामले में वे प्रेमचंद की परंपरा के उपन्यासकार हैं। आइये इस बात की तस्दीक हम उपन्यास से गुजरते हुए करते हैं।

आदिवासियों की समस्या को रेणु ने संथालों के माध्यम से पूरी ईमानदारी, सृजनशीलता और बेबाकी के

साथ उकेरा है। किसानों मजदूरों के हक में आवाज उठाने पर किस तरह की दिक्कत का सामना करना पड़ता है इसका एक उदाहरण इस उपन्यास से देखिए, – "1947 के कांग्रेसी मंत्रिमंडल के समय इस जिले में एक अंग्रेज कलक्टर आया था। उसने इस व्यवस्था को अन्याय समझ सुधारने की चेष्टा की थी। जिले भर के भूमिहार, जमींदार और राजा घबरा गए थे। जिले के अधिकांश नेता भूमिहार और जमींदार थे। अंग्रेज कलक्टर पर इलजाम लगाया गया– संथालों को उभारकर, जिले में अशांति फैलाकर, कांग्रेसी मंत्रिमंडल को असफल बनाने का खड़यंत्र करता है !"[11] आजाद भारत में इस तरह की आवाज को और धड़ल्ले से दबाने का काम किया गया। सांकेतिक रूप से रेणु बहुत गहरी बात कह रहे हैं।

जमीन पर अधिकार के लिए हो रहे आंदोलन और कांग्रेस सरकार द्वारा जमीदारी प्रथा के अंत की घोषणा से संथाल उत्साहित हो जाते हैं। वह इस बात की उम्मीद पाल बैठते हैं कि, "जमीन किसकी ?...जोतने वाले की ! जो जोतेगा वह बोयेगा, जो बोयेगा वह काटेगा। कमाने वाला खायेगा, इसके चलते जो कुछ हो।"[12] उधर सोसलिस्ट पार्टी का कालीचरण की बातें युगों से पीड़ित, दलित और उपेक्षित लोगों को अच्छी लग रही हैं। "ऐसा लगता है, जैसे कोई घाव पर ठंडा लेप कर रहा हो। लेकिन कालीचरन कहता है, "मैं आप लोगों के दिल में आग लगाना चाहता हूँ। सोए हुए को जगाना चाहता हूँ। सोसलिस्ट पाटी आपकी पाटी है, गरीबों की मजदूरों की पाटी है।"[13] जब संघर्ष शुरू होता है तब इन नारों/भाषणों की पोल खुल जाती है। संथालों के पक्ष में कोई पार्टी कोई नेता खड़ा नहीं होता है। और तो और "बालदेव जी, बावनदास जी और कालीचरन जी सब एक हो गए हैं। संथाल लोग अच्छी तरह जानते हैं, कोई साथ देने वाला नहीं है।"[14] संथालों और गैर संथालों के बीच लड़ाई छिड़ जाती है। गैर संथालों की तरफ से काली माई, महात्मा गांधी, इनकिलाब जिंदाबाद, भारतमाता, सोसलिस्ट पार्टी, हिन्दू राज के नारे लगाये जाते हैं। यह विडंबना भी है और नग्न यथार्थ भी। हम कहां जा रहे थें/हैं। चारो तरफ शोर मचा हुआ है, "आजादी है, जो जी में आवे करो! बूढ़ी, जवान, बच्ची जो मिले। आजादी है। पाट का खेत है। कोई परवाह नहीं है। ...फांसी हो या कालापानी, छोड़ो मत।" चारो तरफ कुहराम मचा हुआ है। "कहाँ दो सौ आदमी और कहाँ दो दर्जन संथाल, डेढ़ दर्जन संथालिनें ! सब ठंडा। . ...सब, ठंडा ?"[15]

जो कालीचरन बड़ी बड़ी बातें कर रहा था। वह इस मुद्दे पर बिल्कुल शांत है। सोसलिस्ट पार्टी वालों ने पर्चा बांटा था जिस पर लिखा था – "जो जोतेगा सो बोयेगा/जो बोयेगा सो काटेगा/जो काटेगा वह बाँटेगा।" इन लोगों ने भी इस जुल्म के खिलाफ चुप्पी साध लिया है। बावनदास ने कहा था कि सब पार्टी एक हैं यह बात यहाँ सत्य मालूम होती है। कोई ऐसा नहीं है जो संथालों का पक्ष ले। डॉ. प्रशांत की रिपोर्ट यह बताती है कि संथालों ने अपने बचाव में यह हमला किया।

हमने कैसा देश बनाया जहाँ न्याय पैसे की कीमत पर होता हो। संथाल औरतें गहना बेचकर वकील का खर्च उठाती हैं। अफसोस फिर भी फैसला उनके हक में नहीं आता। संथाल टोली में गवाही देने के लिए कोई नहीं बचा है। जो ताकतें ब्रिटिश हुकूमत का हाथ मजबूत कर रही थीं आजादी के बाद उसने कांग्रेस से गँठजोड़ कर लिया है। रेणु ने इस बात को और स्पष्ट करते हुए लिखा है– "नौ आसामी का चालान कर दिया। ....गैर संथालों में कोई गिरफ्फ नहीं हुआ। लेकिन यह मत समझो कि मुफ्त में यह काम हुआ है ....पांच हजार पर बात टूट गई.... दरोगा जी भी तो राजपूत ही हैं।"[16]

यहाँ स्पष्ट है कि जिस ब्राह्मणवाद और सामंतवाद का गठजोड़ ब्रिटिश सरकार के साथ था अब उसने अपना रिश्ता कांग्रेस से जोड़ लिया है। मुकदमे का परिणाम आता है। आजाद भारत की तस्वीर कैसी होगी रेणु ने उपन्यास के दूसरे भाग के शुरू में ही बता दिया है। रेणु लिखते हैं– "मुकदमे में भी सुराज मिल गया। सभी

संथालों को दामुल हौज (आजीवन कारावास) हो गया"।[17] संथाल और गैरसंथालों के बीच हुए संघर्ष के माध्यम से रेणु आजादी के बाद की नंगी तस्वीर हमारे सामने उपस्थित करते हैं जिसमें समानता, स्वतंत्रता, न्याय और बंधुत्व के नारों की उड़ती हुई दिखाई पड़ती है। आजादी के इतने सालों के बाद भी यह समाज आमूल परिवर्तन की बाट जोह रहा है। रेणु की चिंता जस की तस बनी हुई है।

ये दाग दाग उजाला ये शब-गजीदा सहर
वो इंतिजार था जिस का ये वो सहर तो नहीं – फैज

यह सच है कि ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ स्वाधीनता संग्राम के नेतृत्व का श्रेय कांग्रेस को दिया जाता है लेकिन यह भी उतना ही सच है कि 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम से लेकर 1947 तक के सत्ता परिवर्तन तक अनेक राजनीतिक धाराएँ, विचार व शक्तियाँ सक्रिय थीं। उन्हीं में से एक था 1920 के दशक में पैदा हुआ समाजवाद- साम्यवाद। 1930 के दशक में पूँजीवादी दुनिया की विराट मंदी, रूसी क्रांति और सोवियत रूस में पंचवर्षीय योजनाओं की सफलता तथा दुनिया भर में फासीवाद-विरोधी लहर ने समाजवादी विचारों में नया आकर्षण पैदा कर दिया। इसको और अधिक लोकप्रिय बनाने में जवाहर लाल नेहरू और सुभाष चन्द्र बोस का भी बड़ा योगदान रहा। ऐसा भी हुआ कि कांग्रेस को एक व्यापक मंच समझ कर अनेक राजनीतिक विचार व शक्तियाँ इसके भीतर ही सक्रिय रहीं। नेहरू का तो यहाँ तक मानना था कि राष्ट्रीय आंदोलन में एक नई, समाजवादी-बुनियादी रूप मार्क्सवादी विचारधारा को प्रमुख स्थान दिया जाए ताकि लोग अपनी सामाजिक स्थिति का वैज्ञानिक अध्ययन कर सकें और कांग्रेस को समाजवादी विचारधारा का वाहक बना सकें।

रेणु स्वयं जयप्रकाश नारायण से प्रभावित थे और समाजवादी आंदोलन के समर्थक भी। यही कारण है कि मैला आँचल लिखते समय उन्होंने इस बात का खास ध्यान रखा। इसीलिए सोशलिस्ट पार्टी का नेतृत्व संभालता है कालीचरन। "कामरेड कालीचरन और कामरेड वासुदेव !...सुशलिंग पाटी!..." रास्ते में कालीचरन वासुदेव को समझाता है, "यही पाटी असल पाटी है। गरम पाटी है। किरान्तीदल का नाम नहीं सुना था ?..बम फोड़ दिया फटाक से मस्ताना भगत सिंह, यह गाना नहीं सुने हो ? वही पाटी है। इसमें कोई लीडर नहीं। सभी साथी हैं, सभी लीडर हैं।"[18] लेकिन रेणु ने मैला आँचल में जिस तरह से समाजवादी और कांग्रेस पार्टी के भीतर की खामियों को सहज भाषा और शिल्प के माध्यम से उजागर किया है वह बेहद दिलचस्प है। आइये इस बात की तस्दीक उपन्यास से गुजकर करते हैं।

गाँव मे सोशलिस्ट पार्टी का नेतृत्व कर रहे कालीचरन और कांग्रेस पार्टी का बालदेव और बावनदास तीनों को ही रेणु ने मध्यवर्गीय चरित्र के रूप में गढ़ा है जो अपनी सीमाओं को तोड़कर संघर्षशील वर्ग से नहीं जुड़ पाते। इसमें बालदेव का स्वभाव लिजलिजा और गिजगिजा है। वह कांग्रेस का कार्यकर्ता व स्वतंत्रता सेनानी है। जेलयात्रा भी किया है और उन्होंने यातनाएँ भी सही हैं। स्वभाव से बेहद सरल और भोलेभाले हैं। पाठक को कभी कभी उसके गांधीवाद से चिढ़ भी होती है। ऐसा ही एक प्रसंग उस समय का है जब रामदास और लरसिंहदास के बीच छिड़े महंथी के झगड़े और नागा बाबा के प्रकोप से बचने के लिए लक्ष्मी सुबह बालदेव के पास जाती है। तो बालदेव कहते हैं, "कोठारीन जी, अचारजगुरु तो सभी मठ के नेता हैं। वे जो करेंगे, वहीं होगा। इसमें हम लोग क्या कर सकते हैं ? बड़ा धरम-संकट है! किसी के धरम में नाक घुसाना अच्छा नहीं है।"[19]

मैला आँचल में जो प्रमुख समस्याएं हैं उनमें से एक है भारतीय सामंतवादी, ब्राह्मणवादी वर्ग का समाजवादी पार्टी और कांग्रेस के साथ साठ-गाँठ। इस वर्ग की सबसे बड़ी इच्छा वामपंथ अथवा परिवर्तनवादी राजनीतिक तत्वों के विकास को रोकना था। यह महसूस किया गया कि साम्राज्यवाद के विरुद्ध किसी भी प्रकार का

निर्णायक और दीर्घकालिक संघर्ष चाहे वह अहिंसक ही क्यों न हो, लोगों को एक रचनात्मक दृष्टिकोण के प्रति जागरूक बनाने के बजाय विध्वंशक राजनीति अपनाने की शिक्षा देगा। जिसके परिणामस्वरूप उनमें क्रांतिकारी भावनाएं जागृत होंगी, जिनसे वर्ग–संघर्ष की भावना को बढ़ावा मिलेगा। इसके अतिरिक्त स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी लोगों में इस प्रकार की विध्वंशक परिवर्तनवादी और वर्ग भावनाएं मौजूद रहेंगी। विदेशी शासन के विरुद्ध भी अविश्वास की भावनाएं, फिर भारत सरकार के विरुद्ध हो जाएंगी, इससे भी पहले क्रांति अपरिहार्य हो जाएगी। साथ ही साथ इस वर्ग ने यह भी महसूस किया कि तात्कालिक राजनीति में संघर्ष की मानसिकता कांग्रेस के दक्षिणपंथ धड़े के बजाय उसके वामपंथी धड़े को अधिक मजबूती प्रदान करेगी। भारतीय सामंतवादी, ब्राह्मणवादी वर्ग ने साम्राज्यवाद के समक्ष समर्पण करके नहीं बल्कि कांग्रेस के दक्षिणपंथी धड़े अर्थात दक्षिणपंथी राष्ट्रवादियों की सहायता करके वामपंथी धड़े को आगे बढ़ने से रोका।

रेणु, मैला आँचल में उपर्युक्त सारी बातों को तहसीलदार साहब की कथा के माध्यम बहुत बारीक ढंग से दिखाने का प्रयास करते हैं। तहसीलदार साहब गोदान के राय साहब के परिमार्जित संस्करण हैं। "तहसीलदार साहब भी कांग्रेसी हो गए हैं। उन्होंने चरखा–सेन्टर के लिए अपना गुहाल–घर दे दिया है, खद्दर पहनने लगे हैं। बोलते थे, सारी जिंदगी तो झूठ–बेईमानी करते ही गुजर गई। आखिरी उम्र में पुण्य भी करना चाहिये।...तहसीलदार साहब चवन्निया नहीं बने हैं। चवन्नियाँ मेंबर तो सभी बनते हैं। तहसीलदार साहब चार–सौ–टकिया मेंबर बने हैं।"[20] तहसीलदार साहब की इस सादगी पर कौन मर न जाए ऐ खुदा। लेकिन सारा मामला इस बात को लेकर है कि कांग्रेस कार्यसमिति ने 1945 में जमींदारी के खात्मे की नीति स्वीकार की और यह मानते हुए कि जमीन उसकी है, जो उसे जोते। उसने घोषित किया कि किसान और राज्य के बीच के सभी बिचौलियों को समाप्त कर दिया जाए। तहसीलदार साहब इस बात से भलीभांति परिचित थे वो कानून के सारे दांव पेंच के माहिर जो थे। रेणु ने एक ओर तो तहसीलदार साहब जैसे जमीदारों की पोल खोली है तो दूसरी तरफ राष्ट्रीय आंदोलन में कांग्रेस की भूमिका को भी कटघरे में लाकर खड़ा कर दिया है। रेणु ने और स्पष्ट करते हुए लिखा कि,

"चर्खा कातो, खद्दड़ पहनो, रहे हाथ में झोली
दिन दहाड़े करो डकैती बोल सुराजी बोली ..."[21]

इसी प्रकार से रेणु ने समाजवादी पार्टी के भीतर की खामियों को भी दिखाया है। पार्टी में चंदा के नाम पर लूटखसोट मची हुई है। मलाई कोई और ही काट रहा है। एक प्रसंग देखिये – "कालीचरन ने आज शाम को एक बैठक बुलाई थी। ऊपर के सबसे बड़े लीडर आ रहे हैं पुरैनियाँ। थैली के लिए चंदा वसूलना है। सिकरेटरी साहब कह रहे थे....सबसे बड़े लीडर जी पुरैनियाँ आने के लिए एकदम तैयार नहीं हो रहे थे। बहुत कहने–सुनने पर, सारे जिले से दश हजार रुपये की थैली पर राजी हुए हैं। कालीचरन को तीन सौ रुपये वसूलकर देना है।"[22] आखिर में इतनी बड़ी रकम देने के लायक बासुदेव और अन्य साथी हसलगंज के हरखू तेली के घर मे डकैती डालते हैं। कालीचरन को इसकी कोई खबर नहीं। पुलिस के भय से कालीचरन अंधेरे में कोठी के बाग के पास छिपा हुआ है। "वासुदेव और सुनरा को सोमा ने इतना आगे बढ़ा दिया। उसको ताज्जुब होता है। डकैती के तीन दिन बाद ही कालीचरन को सब पता लग गया था। सिकरेटरी साहब को चुपचाप कहने के लिए पुरैनियाँ गया वह, लेकिन सिकरेटरी साहब पटना चले गए थे।"[23] आखिर हुआ वहीं जिसका डर था, डेढ़ महीने से कालीचरन जेल में है। वासुदेव, सुनरा, जगदेवा, सोमा और सोनमा सब एक ही केस में नत्थी हैं। इसी बीच एक तारीख पर जाते हुए कालीचरन की निगाह सिकरेटरी साहब पर पड़ी, उनसे आँखे मिली। कालीचरन जोर से चिल्लाता है, "सेक्रेटरी साहेब!...कृष्णकांत मिश्रजी!" कालीचरन ने चिल्लाकर कहा, "जय हिंद कामरेड!" सेक्रेटरी साहब ने तुरंत कनपट्टी इस तरह फेर ली मानो कान के पास मधुमक्खी ने अचानक

काट लिया। फिर उसी तरह गर्दन टेढ़ी किए आगे बढ़ते गए।"[24] कालीचरन को सारा माजरा समझते देर न लगी। जेल में एक दिन वासुदेव से कालीचरन ने सिर्फ इतना ही पूछा, "बासुदेव तुमको यही करना था ?" बासुदेव ने कहा, "जिस समय सात सौ रुपैया का पुलिंदा बांधकर सिकरेटरी साहब को देने गए थे, उस दिन क्यों नहीं पूछा था कि चार दिन के भीतर कहाँ से इतना रुपैया वसूल हुआ ?..." कालीचरन को सहसा राजनीतिक यथार्थ और उसके साथ हुए छल का पता चल गया।

"पिस गया वह भीतरी
औश बाहरी दो कठिन पाटों बीच,
ऐसी ट्रेजिडी है नीच!!" – (ब्रह्मराक्षस–मुक्तिबोध)

आखिर में उपन्यास के संदर्भ में अंतिम बात, यह सच है कि अपने अंतिम दिनों में गाँधीजी आजाद भारत में कांग्रेस की बदली हुई भूमिका के बारे में गंभीरता से सोच रहे थे। गाँधीजी ने अपनी हत्या के तीन दिन पहले यानी 27 जनवरी 1948 को एक नोट में लिखा था कि अपने वर्तमान स्वरूप में कांग्रेस अपनी भूमिका पूरी कर चुकी है। जिसे भंग करके एक लोकसेवक संघ में तब्दील कर देना चाहिए। यह नोट एक लेख के रूप में 2 फरवरी 1948 को 'उनकी अंतिम इच्छा और वसीयतनामा' शीर्षक से हरिजन में प्रकाशित हुआ।

मैला आँचल में बावनदास को गांधीवादी जीवन मूल्यों का जीवंत प्रतीक माना जा सकता है। इस चरित्र में उपन्यास की आत्मा बसी हुई है। वहीं बावनदास आजकल उदास रहा करता है। वह बालदेव के पूछने पर बताता है, "चुन्नी गुसाईं तो सोसलिट पाटी में चला गया।" दरअसल बावनदास, चुन्नी गुसाई और बालदेव जी तीनों ने एक ही दिन इस संसार से माया मोह को त्यागकर सुराजी में नाम लिखवाया था। बावनदास कहता है, "दुहाई गाँधी बाबा। चुन्नीदास को अपनी शरण मे ले लो प्रभु!...विदेशी कपड़ा बैकाठ...निमक कानून...जेल।... व्यक्तिगत सत्याग्रह...जेल।...सब मिलाकर दस बार जेल यात्रा कर चुका है चुन्नी गुसाईं! और वह सोसलिट पाटी में चला गया ?"[25] बालदेव जी को आश्चर्य होता है। बावनदास कहता है, "भारथमाता अब भी रो रही हैं बालदेव!" बावनदास करवट लेते हुए कहता है, "बिलैती कपड़ा के पिकेटिंग के जमाने में चानमल–सागरमल के गोला पर पिकेटिंग के दिन क्या हुआ था, सो याद है तुमको बालदेव? चानमल मड़बाड़ी के बेटा सागरमल ने अपने हाथों सभी भोलटियरों को पीटा था, जेहल में भोलटियरों को रखने के लिए सरकार को खर्चा दिया था। वहीं सागरमल आज नरपतनगर थाना कांग्रेस का सभापति है। और सुनोगे ? दुलारचंद कापरा को जानते हो न ? वहीं जुआ कंपनी वाला, एक बार नेपाली लड़कियों को भगाकर लाते समय जो जोगबानी में पकड़ा गया था। वह कटहा थाना का सिकरेटरी है।...भारथमाता और भी, जार बेजार रो रही हैं।"[26] उपन्यास के अंत में आते आते बावनदास विक्षिप्त हो जाता है मानो उसके साथ कोई छल हो गया हो। बावनदास कहता है, "हाल क्या सुनियेगा! सुराज मिल गया, अब क्या है !...छोटनबाबू का राज है। ...यह बेमारी ऊपर से आई है। ...भूमिहार, रजपूत, कैथ, जादव, हरिजन, सब लड़ रहे हैं।...सोसलिस ? सोसलिस? क्या कहेगा सोसलिस हमको ?...सब पाटी समान। उस पाटी में भी जितने बड़े लोग हैं, मंतरी बनने के लिए मार कर रहे हैं। सब मेले–मंतरी होना चाहते हैं बालदेव! देस का काम, गरीबों का काम, चाहे मजूरों का काम जो भी करते हैं, एक ही लोभ से। ...उस पाटी में बस एक जैपरगासबाबू हैं।"[27]। कांग्रेस पार्टी के स्वाधीनता से पहले की भूमिका में ही स्वाधीनता के बाद कि भूमिका के बीज मौजूद हैं। इसीलिए चलित्तर कर्मकार जो भूमिगत क्रांतिकारी है, जो वर्ग–संघर्ष में यकीन रखता है का वारंट वापस नहीं होता, आदिवासी संथालों को सजा हो जाती है और बेहद लोकप्रिय डॉ प्रशांत कुमार को शासन द्वारा गिरफ्तार कर जेल भेज दिया जाता जाता है।

बावनदास को स्वाधीनता के बाद के कांग्रेस शासन ने विचलित कर दिया है। कांग्रेस के दुलारचंद कापरा,

वही, "जुआ कंपनी वाला, जिसकी जुए की दुकान पर नेवीलाल, भोलाबाबू और बावन ने फारबिसगंज मेला में पिकेटिंन किया था। जुआ भी नहीं, एकदम पाकिटकाट खेला करता था और मोरंगिया लड़कियों, मोरंगिया दारू गांजा का कारबार करता था। ...आज कटहा थाना कांग्रेस का सिकरेटरी है।"[28] महात्मा गांधी के हत्या के बाद बावनदास को लगता है कि अब उसे ही देश के लिए बलिदान देना होगा। वह नागर नदी, जो भारत पाकिस्तान के बीच में बहती है वहीं कलीमुद्दीपुर पहुंच जाता है। दुलारचंद कापरा सीमा पर चोर बाजारी का धंधा करता है। बावनदास रोकने का प्रयास करता है। कापरा के आदेश पर उसे जीवित ही कुचल दिया जाता है। बावनदास की लाश का भी दोनों देश दुर्गति करते हैं। पेड़ की डाली से लटकती हुई बावनदास की खद्दर झोली को किसी दुखिया ने चेथरिया पीर समझकर मनौती की। पूरे राष्ट्रीय आंदोलन की इससे दुःखद परिणति और क्या हो सकती थी। सत्ता के लोभ में विभाजन हुआ लाखों जानें गईं, कइयों की जिंदगियाँ पलक झपकते ही बदल गई, लाखों लोग विस्थापित हुए, शहर बदले, ऐसा भीषण नरसंहार जिसका इतिहास में कोई उदाहरण न था। अगर कुछ नही बदला तो मैला आँचल में चित्रित शासन व्यवस्था का औपनिवेशिक स्वरूप, जो स्वतंत्रता पूर्व और स्वातंत्र्योत्तर काल में बिना किसी परिवर्तन के चलता रहा।

नैरंगी–ए–सियासत–ए–दौराँ तो देखिए
मंजिल उन्हें मिली जो शरीक–ए–सफर न थे।

– *मोहसिन भोपाली*

संदर्भ :

1. आस्था और सौंदर्य, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 2012, पृ.122
2. मैला आंचल, फणीश्वर नाथ रेणु, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 2015, पृ. 322 – 323
3. वही, पृ. 323
4. वही, पृ. 350–51
5. आस्था और सौंदर्य, पृ. 120
6. वही, पृ. 118
7. वही, पृ. 120
8. मैला आंचल, पृ. 1
9. प्रेमचंद और उनका युग, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, पृ. 181
10. प्रेमचंद कुछ विचार, राजकमल प्रकाशन, संपादक : कमल किशोर गोयनका, पृ. 124
11. मैला आंचल –पृष्ठ संख्या –332
12. वही, पृ. 174
13. वही, पृ. 214
14. वही, पृ. 215
15. वही, पृ. 218
16. वही, पृ. 223
17. वही, पृ. 248
18. वही, पृ. 98–99
19. वही, पृ. 102

20. वही, पृ. 133
21. वही, पृ. 140
22. वही, पृ. 183
23. वही, पृ. 184
24. वही, पृ. 314
25. वही, पृ. 142-143
26. वही, पृ. 142-143
27. वही, पृ. 330
28. वही, पृ. 334

❖❖❖

आलेख

समकालीन हिंदी कहानी और हाशियाग्रस्त अस्मिताओं का विमर्श

❍ शुभम मोंगा[1]

आज के इस उपभोक्तावादी व बाजारवादी समय में हम सभी अपनी अस्मिता की पहचान व उसकी रक्षा के लिए संघर्ष कर रहे हैं। हमारा यह संघर्ष भूतकाल की दुखद स्मृतियों से व वर्तमान समय में फैली विसंगतियों से रूबरू होता ही है, साथ ही हमारे अंत:करण पर भी एक गहरा प्रभाव छोड़ता है जो कि आज के समय में पसरी सभी विद्रूपताओं के चलते क्रमश: असंवेदनशील, उग्र और उन्मादी होता जा रहा है। व्यक्ति का असंवेदनशील होते चले जाना एक क्षणिक प्रक्रिया नहीं है, इसके लिए तमाम प्रायोजित षड्यंत्र रचे गए हैं। सत्ता जहाँ केंद्र में अपने वर्चस्व को पुनर्स्थापित करना चाहती है तो वह अपने आसपास ऐसे मूक-बधिर लोगों की भी एक फौज तैयार करती चलती है, जो कुछ भी न सुन पाए व बोल पाने में असक्षम हो; परंतु हाँ... जो भी सत्ता चाहे वो केवल वही सुने और बोले भी, मानो कि वे उनके गुलाम हों ! वह अपने इन्हीं मंतव्यों की पूर्ति के लिए समाज में यथास्थितिवादी ताकतों का प्रसार करती है, जिससे ऊपरी तौर पर तो यह दिखे कि वह परिवर्तन के लिए उद्यत है, परन्तु अपने आंतरिक रूप में वह अपनी तानाशाही को बनाए रखने का ही प्रयास कर रही होती है।

परिवर्तनशीलता संसार का नियम है। परिवर्तन ही जड़ से चेतन होने की प्रक्रिया है। चेतना प्रतिरोध को जन्म देती है, यही कारण है कि यथास्थितिवादी ताकतें परिवर्तन के खिलाफ खड़ी रहती हैं तथा वे परिस्थितियों को ज्यो का त्यों बनाए रखना चाहती हैं। सबल वर्ग समाज के एक तबके को हाशिए पर डाल कर उसे निष्प्रभावी बना देता है तथा निरंतर उनका शोषण करता रहता है। जड़ता यथास्थितिवाद को पोषित करती है। अत: परिवर्तन के लिए आवश्यक है कि यथास्थितिवाद के खिलाफ एकजुट होकर संघर्ष किया जाए। हाशिए की अस्मिताएँ वह होती हैं, जिन्हें समाज की मुख्यधारा से निकालकर किनारे पर रख दिया जाता है। इन अस्मिताओं को एक व्यवस्थाबद्ध व सोची समझी साजिश के तहत इतिहास के पन्नों, संसाधनों के समान वितरण, प्रतिष्ठित क्षेत्रों में महत्वपूर्ण संस्थाओं से बेदखल कर दिया जाता है। इन्हें एक सम्मानपूर्ण जीवन जीने के अधिकार की कल्पना तो दूर मनुष्य होने के अधिकार से वंचित रखा गया है। इन्हें प्रकृति से प्राप्त सुविधाओं को भी दूर किया जा रहा है। हाशिए की अस्मिताओं में प्रमुख रूप से दलित, स्त्री, किसान, मजदूर के साथ अल्पसंख्यक, आदिवासी,

1. असिस्टेंट प्रांफेसर, हिंदी, जे.वी.एम.जी.आर.आर. कॉलेज, चर्खी दादरी, हरियाणा; मो. 9996884112

घुमंतू जाति या या किसी विचित्र रोग से ग्रसित लोग आदि शामिल हैं।

बदलते समय के साथ साथ जैसे-जैसे चेतना का विकास हुआ, इन समुदायों ने भी अपनी चिरस्थाई चुप्पी को तोड़ने की कोशिश की है। समय-समय पर इन्होंने अपने शोषण के खिलाफ (वह चाहे वर्ण, आयु, जाति किसी भी आधार पर किया गया हो) अपनी आवाज बुलंद की है। अपने अधिकारों की मांग की है। अपने आप को पहचानने की कोशिश की है। वर्तमान साहित्य में स्त्री-विमर्श, दलित व आदिवासी विमर्श लगभग पिछले तीन दशकों से तेजी से उभरे हैं तथा हिंदी साहित्य में अपना विशेष जगह बनाते हुए, उन्होंने साहित्य के नए मानक निर्मित किए हैं। "समाज को बदलने की कोई भी सार्थक यात्रा खुद से आरंभ होती है। यह आरम्भ में ही समझ लेना हितकारी होगा कि भारतीय समाज की बनावट ऐसी है कि यहाँ ने धक्कामार ब्राह्मणवाद चल सकता है और न धक्कामार गैर-ब्राह्मणवाद। किसी भी धार्मिक सांस्कृतिक और भाषाई अल्पसंख्यक के विरुद्ध सतत् घृणा के आधार पर कोई दूरगामी रणनीति भारत में संभव नहीं है। यह अल्पसंख्या चाहे मुसलमानों, ईसाइयों की हो, चाहे ब्राह्मणों की।"[1]

उत्तर आधुनिकता का ढिंढोरा पीटते वर्तमान युग में एक तरफ तो सभी की स्वतंत्रता और समानता की बातें की जाती हैं, तो वहीं दूसरी तरफ चिरकाल से होते आ रहे पीढ़ी दर पीढ़ी शोषण को समाज एक का एक तबका ईश्वरीय न्याय मानकर चुप रहकर केवल सुनने का आदी हो चुका था लेकिन अब वह धीरे-धीरे बस अपनी स्थिति का मूल्यांकन करते हुए, अपनी अस्मिता की खोज में प्रतिरोध की जरूरत समझ रहा है। अपने निवास, संस्कृति, प्राकृतिक जीवन से उखाड़ा जाता जनजातीय समुदाय आज इतना भयभीत है कि उसे नक्सलवाद के रूप में अपनी पहचान बनाने के लिए मजबूर होना पड़ रहा है। इनका मानना है कि- प्राकृतिक आपदा से तो हम लड़ लेंगे लेकिन सत्ता द्वारा बनाई गई आपदा का क्या करेंगे? वंदना राग अपनी कहानी "हिजरत से पहले" में आदिवासी लोगों की समस्याओं के प्रतिरोध को प्रकट करती है कि कैसे जनजातीय जीवन का आधार प्राकृतिक संसाधनों का विकास के नाम पर तेजी से दोहन किया जा रहा है। ये लोग प्रकृति की पूजा करते हैं और उसी में अपने भगवान का प्रतिबिंब देखते हैं और उसकी रक्षा के लिए अपनी जान तक दांव पर लगा देते हैं" पेड़ों के आसपास हम लोगों के बड़ादेव हैं। कोई भी गलत काम वहाँ नहीं होना चाहिए।जंगल की रक्षा हमारा धर्म है वरना बड़ादेव नाराज हो जाएंगे।"[2]

कहानी में आदिवासी समुदाय सरकार की नीतियों के खिलाफ लामबंद होते हैं, यही कारण है कि जब उन्हें अपना प्रतिरोध बेअसर होता दिखाई देता है तो भी राजधानी से आने वाले बड़े अफसरों की गाड़ियों को उड़ाने की योजना बनाते हैं।

प्राचीन काल से हाशिए पर रहा किन्नर समुदाय भी आज के समाज से बहिष्कृत समझा जाता है तथा नाच-गाकर वह माँग कर अपना पेट भरते हुए, अपने अन्य अपराधों का दंड भुगतने के लिए मजबूर है। आज के युग में विडंबना है कि वह हाशियाग्रस्त अस्मिताएँ अपनी पहचान बनाए रखने की संकट से जूझ रही हैं।

कहानीकार किरण सिंह की कहानी "संझा" में दिखाया गया है कि किस प्रकार एक विशेष अंग से रहित बालक, अपने माता-पिता के लिए सामाजिक भय और शर्म का कारण माना जाता है। पंडित जी के घर जन्मी संझा को अपने ही घर के अंदर बंदी बनाकर रखते हैं। उसे दूसरे बच्चों से दूर रखा जाता है। वह बार-बार अपने पिता से सवाल करती है। वह कहती है, "मैं बाहर निकलना चाहती हूँ- बाऊदि। मैं औषधि की पत्तियाँ छूना चाहती हूँ। बहता पानी...गीली मिट्टी... जंगल आसमान देखना चाहती हूँ। बाऊदि! मैं दौड़ना चाहती हूँ। खूब जोर से हँसना चाहती हूँ। सबके जैसे जीना चाहती हूँ। आपके कहने से मैं ऐसे रह तो जाऊँगी लेकिन दो-चार दिन की ही रह जाऊँगी। बाऊदि।"[3]

भले ही हम 21वीं सदी में प्रवेश कर चुके हैं लेकिन हमारी मानसिकता आज भी बीमार असाध्य रोग से ग्रसित है। किरण सिंह कहती है "मामा अपने घर के दरवाजे पर खड़े होकर... जुगल किशोर, उनके पौरुष पर ऐसा कलंक है, जो दिन रात उसकी आँख के आगे नाचता रहता है। जुगल भैया अपना उभरा सीना छुपाने के लिए झुकते चले गए।"[4]

लेकिन संझा अपनी वास्तविकता को दूर रख कर एक नई कहानी रचना चाहती है और बहुत हद तक वह इसमें सफल भी होती है उसके पिता जब उसे कहते हैं कि तुम वंश नहीं बढ़ा सकती तो वह प्रतिक्रया में कहती है "गाँव में ऊसर औरतें भी तो हैं, मान से रहती हैं अर्थात् वह अपने आप को किसी भी कारण से किसी से भी कम नहीं समझती और अपनी सूझबूझ और अपने कार्यों के दम पर अपने महत्व पर प्रतिष्ठित भी कर देती है। नपुंसक होने की सच्चाई जब उसके सामने आती है तो वह पूरे गाँव का डटकर मुकाबला करते हुए कहती है "न मैं तुम्हारे जैसी मर्द हूँ। न मैं तुम्हारे जैसी औरत हूँ। मैं वह हूँ जिसमें पुरुष का पौरुष है और औरत का औरतपन। तुम मुझे मारना तो दूर, अब मुझे छू भी नहीं सकते क्योंकि मैं एक जरूरत बन चुकी हूँ, सारे गांव की ही नहीं आसपास के शहर तक एक मैं हूँ जो तुम्हारी जिंदगी को बचा सकती हूँ। अपनी औषधियों में अमृत का सिफत मैंने तप करके हासिल किया है। मैं जहाँ जाऊँगी मेरी इज्जत होगी। तुम लोग अपना सोचो। तो मैं चैगांव से निकलूँ या तुम लोग मुझे खुद बाउदी की गद्दी तक ले चलोगे।"[5]

समाज में इन लोगों को उस अपराध की सजा दी जाती है जो इन्होंने किया ही नहीं होता, क्योंकि किसी की शारीरिक संरचना में किसी का कोई दोष नहीं हो सकता। ऐसे ही दर्द को बयान करती अखिलेश की "अंधेरा" संकलन में "ग्रहण" कहानी है, जिसमें विपद व बटुली का लड़के राजकुमार को जन्मजात गुदाद्वार ना होने के कारण पेटहगना नाम से संबोधित किया जाता है। वह बार-बार हर जगह प्रताड़ित होता है। एक तो दलित वर्ग से संबंधित ऊपर से ऐसे अनसुने में रोग से ग्रसित राजकुमार दोहरे शोषण को भोग रहा है। जब विपद उसे स्कूल में पढ़ने भेजता है तो शिक्षक राजकुमार पर गर्जता है, "साले एक तो तू कुजात उस पर से पेट हगना, चार अक्षर पढ़ लेगा तो किसी ठीहे लग जाएगा। रिजर्वेशन तो तुम हरामियों के लिए है ही।"[6]

पढ़ते समय कक्षा में राजकुमार के साथ बुरा व्यवहार तो किया ही जाता है व इसके साथ अन्य स्थानों पर बार-बार उसे स्वर्ण समाज की हिंसा का सामना करना पड़ता है। जब वह पानी पीने के लिए चांपाकल चला कर पानी पीने की कोशिश करता है तो गुरुजी पीछे से लात मार देते हैं जिससे उसके मुँह से खून बहने लगता है। गुरु कहते हैं, "इसलिए मैंने मारा कि कहीं इस पेट हगना की टट्टी चंपाकाल को अपवित्र ना कर दे।"[7]

हाशियाग्रस्त अस्मिताओं के साथ किया गया यह व्यवहार ही एक दिन इन शोषितों में क्रोध की अग्नि भड़काकर प्रतिरोध को जन्म देता है। गुस्साया राजकुमार भी अपने अपमान का बदला लेने के लिए पुरोहित के लड़के मुन्ना को मारकर अपनी मृत्यु का प्रपंच करता है। ऐसे ही पात्र को सत्यनारायण पटेल अपनी कहानी में प्रकट करते हैं जो सवर्ण तो हैं लेकिन अपनी धब्बों वाली शारीरिक बीमारी के कारण सवर्ण समाज से बहिष्कृत है, साथ ही उसके वास्तविक नाम को बुलाकर उसका नाम कबरया रख दिया जाता है। उसे अपने गाँव से निकाल दिया जाता है और अपने समाज के लोगों द्वारा बहिष्कृत व प्रताड़ित किया जाता है।

वह गाँव के कांकर पर बसे दलितों के साथ रहते हुए सवर्णों के खिलाफ अपनी अस्मिता की लड़ाई का बिगुल बजा देता है। वह अपने साथ हुए दुर्व्यवहार के कारण दलितों के दर्द को समझ पाता है। दबंग जातियों की एकता हाशियाग्रस्त अस्मिताओं के प्रतिरोध को कुचलते हुए, उन्हें हाशिए से मुख्यधारा की तरफ बढ़ने से रोकने का हर संभव प्रयास करती है।

कहा जाता है कि जिस प्रकार साहित्य समाज का दर्पण होता है, उसी प्रकार स्त्री भी समाज का प्रतिबिंब

होती है। अगर किसी देश, समाज या राष्ट्र की तरक्की को नापना है, तो उसकी अर्थव्यवस्था की स्थिति मत देखिए बल्कि वहाँ की स्त्री की स्थिति का अध्ययन कीजिए और बहुत हद तक यह विचार वर्तमान मानदंडों को भी पूरा कर रहा है। वर्तमान युग प्रगति के पथ पर जितना अधिक आगे निकलता जा रहा है स्त्री को उतना ही अधिक हाशिए पर धकेला जा रहा है। जिस समाज में पुरुष व स्त्री दोनों के समान मानव-शृंखला में होते हुए भी दोनों के लिए अलग-अलग मानदंड बनाए गए हों, वह समाज कैसे प्रगति कर सकता है? जिस समाज में एक स्त्री को केवल एक "देह" के रूप में वस्तु, उत्पाद, घर की शोभा, पति के वैभव की प्रदर्शनी के रूप में देखा जाता है तो वहाँ समानता की विचारधारा निरर्थक ही प्रतीत होती दिखाई देती है। कहने को तो आज की स्त्री पुरुष कंधे से कंधा मिलाकर काम कर रही है। जीवन के हर क्षेत्र में उसकी बराबर की भागीदारी है। अंतरिक्ष को वह अपने कदमों से नाप रही है। देश की अर्थव्यवस्था ही नहीं बल्कि पूरे देश व राष्ट्र को वह शासित कर रही है, लेकिन जब हम वास्तविकता देखते हैं तो आज भी हमारी संसद में महिलाओं की उपस्थिति मात्र 14% है, जबकि जनसंख्या की दृष्टि में वह कुल जनसंख्या का लगभग 50% है और जहाँ तक आज वह पहुँची है, उसके पीछे भी पितृसत्तात्मक व्यवस्था का एक अनदेखा षड्यंत्र काम कर रहा है, जिसे भेदने की कोशिश में स्त्री स्वयं उस षड्यंत्र का हिस्सा बनती जा रही है।

बाजार के बीच स्त्री :

स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता की तलाश में निकली स्त्री आज कहाँ से कहाँ पहुँच गई है, इसका अंदाजा उसकी वर्तमान स्थिति को देखते हुए लगाया जा सकता है। नब्बे के दशक के प्रारंभ में आई भूमंडलीकरण, उदारीकरण और वैश्वीकरण की अवधारणा से उत्पन्न बाजार में वर्तमान स्त्री को आवश्यकता से अधिक प्रभावित करते हुए एक नए रूप में अवतरित किया है। बाजारवाद की चकाचौंध ने स्त्री को रंगीन सुहावने सपने दिखाकर उसे अपनी अस्मिता को भूल कर वास्तविकता से दूर एक उत्पाद बना दिया है। बाजार का मुख्य मकसद है कंपनियों के उत्पादों को आम आदमी तक पहुँचाना और इसके लिए सुंदर प्रतियोगिताओं का आयोजन किया जाता है तथा उस के माध्यम से दुनिया के सामने जाना माना चेहरा लाया जाता है। विज्ञापनों के लिए इन जाने-माने चेहरों का इस्तेमाल करके बाजार को लोगों तक पहुँचाया जाता है। अरविंद जैन अपनी पुस्तक "औरत होने की सजा" में लिखते हैं "बहुराष्ट्रीय कंपनियों को अपने ब्रांड बेचने के लिए निश्चित रूप से भारतीय मॉडल ही चुनने पड़ेंगे। विश्व सुंदरियाँ भारतीय ग्राहकों को अपना माल आसानी से नहीं बेच पाएंगी। इसलिए जरूरी है कि भारतीय सुंदरियों को पहले ब्रह्मांड सुंदरी और विश्व सुंदरी का ताज पहना कर घर-घर में जाना पहचाना नाम और चेहरा बनाया जाए और फिर अपने ब्रांड को बेचने के लिए भेजा जाए। यही सुंदरियाँ किसी भी पोज में माल बेचने को मजबूर होंगी, क्योंकि पहले ही बहुत से अनुबंध बिना सोचे समझे साइन कर दिए गए हैं।"[8] इन चेहरों को समय-समय पर बदल दिया जाता है क्योंकि समय परिवर्तन की मांग करता है। एक चेहरा जब पुराना हो जाता है तो नए ग्लैमर के साथ दूसरा चेहरा प्रस्तुत किया जाता है। विज्ञापनों की बदौलत आज झुग्गी झोपड़ियों में रहने वाले दो वक्त की रोटी के लिए मोहताज व्यक्ति के पास भी ब्यूटी प्रोडक्ट्स सैशे के रूप में देखा जा सकता है।

वर्तमान युग में कंपनियों द्वारा अपना सामान बेचने के लिए भारतीय सुंदरियों का जितना प्रयोग किया जाता रहा है, वह बाजार के रूप में एक नव समाजवाद का आगमन है। घरेलू जरूरतों के सामानों से लेकर चाहे गाड़ी का विज्ञापन हो, शेविंग ब्लेड, क्रीम, जूते-चप्पल, सौन्दर्य प्रसाधन, बिजली उपकरण, यहाँ तक कि पुरुष बनियान-अंडरवियर के विज्ञापनों में भी भारतीय सुंदरियों का प्रयोग किया जाता है। विज्ञापनों में अर्धनग्न अवस्था में बहुराष्ट्रीय-कंपनियों का सामान बेचती सुंदरियाँ अपनी भाव-भंगिमा द्वारा अनायास ही या ना चाहते हुए भी

बाजार की गिरफ्त में आने को मजबूर हैं। बाजार बार-बार हमारे खिड़की दरवाजों पर दस्तक देता है और यह हमारा दुर्भाग्य है कि हम ना चाहते हुए भी उसे अपने घरों में प्रवेश की अनुमति दे देते हैं। आज के युग को देखते हुए यह विचारणीय है कि आज करवा चौथ सहित अनेक नए नए व्रत व त्यौहार हमारी संस्कृति का हिस्सा क्यों बनते जा रहे हैं। वैलेंटाइन डे, रोज डे ब्रदर डे, फादर डे, मदर डे आदि की बहार पिछले लगभग 15-29 सालों से ही क्यों बढ़ती जा रही है। आज गिफ्ट-रिटर्न गिफ्ट के बिना कोई त्यौहार क्यों नहीं मनाया जा रहा है? इन सब प्रश्न का उत्तर एक ही मिलेगा क्योंकि बाजार यह चाहता है।

आज के इस बाजारवाद के युग में सब कुछ बिकाऊ है। बाजार की इस खरीद-फरोख्त से जो सबसे अधिक प्रभावित है, वह है स्त्री। आज भले ही वह अपने अधिकारों के प्रति जागरूक दिखाई देती है लेकिन बाजार के समक्ष वह केवल उत्पाद है, एक वस्तु है। सौंदर्य के प्रति रुझान ने स्त्री सौन्दर्य को बिकाऊ माल बना दिया है। बाजार स्त्री की सुंदरता को जरिया बनाकर अपने माल की खपत करने के हजारों रास्ते तलाश कर रहा है। बाजार स्त्री को आर्थिक समृद्धि व आत्म निर्भरता का सपना दिखाकर, उसे देह के रूप में प्रस्तुत कर उसका शोषण कर रहा है और स्त्री इस षडयंत्र को समझे बिना बाजार द्वारा इस बनाए हुए जाल में उलझती ही जा रही है। गीताश्री की "आवाजों के पीछे-पीछे" कहानी की नायिका "निशा" को जब एक लिफाफा गार्ड द्वारा थमाया जाता है, जिस पर लिखा था "हस्बैंड ऑन रेंट" तो वह असमंजस में पड़ जाती है कि वह यह काम करें या ना करें। आर्थिक हालात निशा को अपनी सुरीली आवाज को बेचने के लिए लालायित कर रहे हैं। गीताश्री लिखती हैं, "जब उसने लिफाफे के अंदर लिफाफा देखा तो और चौक गई। यह क्या मायाजाल है भाई। ऊपर-ऊपर कितनी राहते और अंदर लिफाफे मे जिंदगी का तिलिस्म, जिसमें घूमने पर कम जोखिम और ज्यादा पैसा दिखाई पड़ रहा है। वह लिफाफा निशा को सुनहरे सपनों की दुनिया में लेकर जाता है और वह अपने भीतर के द्वंद्व को अनेक तर्कों द्वारा शांत करती है। अपनी कमाई! भिखारियों की तरह हाथ फैलाने से मुक्ति! छोटी-छोटी ख्वाहिशें पूरी कर सकूंगी! और बिना खर्च के काम! घर बैठे, कहीं आना ना जाना गोपनीयता की गारंटी तो है ही। इसमें क्या बुराई है, न हम खर्च होंगे, ना वह खर्च होंगे। बस एक आवाज का जाया होना है।"[9]

दूसरी तरफ ऐसा ही लिफाफा निशा के पति सुनील को मिलता है,जिसे वह निशा से छुपा कर रखता है। जब सुनील उस लिफाफे को खोलता है तो उसमें ब्लैक एंड व्हाइट दो पेपर थे, जिस पर अनेक फोन नंबरों के साथ रोमन में लिखा था- "हेलो दोस्त। मेरा नाम वसुंधरा है। मैं एक कॉल सेंटर में एजेंट हूँ। मेरा सपना है कि अपनी जिंदगी में मुकाम हासिल करूँ। मुझे पसंद है, लोगों से उनके जीवन के बारे में जानना। अपनी जिंदगी के अनुभव के बारे में बताना। नए लोगों से मिलना और उनसे बहुत सारी बातें करना मुझे अच्छा लगता है...आपकी कॉल का इंतजार करूँगी।"[10] लिफाफे के साथ में सुंदर युवा उत्तेजक भंगिमा वाली लड़कियों की फोटो डाली गई थी। बाजार ने स्त्रियों के अपने मानसिक नियंत्रण को समाप्त कर उनकी स्वतंत्र अस्मिता व पहचान को अपनी चकाचौंध में गुम कर दिया है।

लोकतंत्र का चौथा स्तंभ कहे जाने वाला मीडिया भी बाजार के प्रकोप से अछूता नहीं रह सका है। एक तरफ मीडिया ने स्त्री अभिव्यक्ति को स्वतंत्रता के लिए एक नया मंच प्रदान किया है तो वहीं दूसरी तरफ समकालीन दौर की स्त्री मीडिया में अपने वस्तु के समान हो रहे प्रयोग से अनभिज्ञ दिखाई देती है। मीडिया में स्त्री की जो छवि उभर कर सामने आई है, वह बाजार की चालाकी का परिणाम है। वह नारी की मोहक छवि का आदि हो चुका है ताकि उस छवि को बेचकर अधिक से अधिक मुनाफा कमा सके। विज्ञापनों, फिल्म इंडस्ट्री में छोटे पर्दे की अतिरिक्त आज न्यूज चैनल भी यह विशेष ध्यान रखते हैं कि उनकी खबरों को प्रसारण करने वाली एंकर लोगों को कितना प्रभावित कर पाती है। उसकी छवि वर्तमान मांगे अनुसार हो। "छबीला रंगबाज

शहर" कहानी में अरुप और ऋषभ आपस में बहस कर रहे थे। ऋषभ स्कूल के प्रिंसिपल के बारे में कहता है, प्रिंसिपल कहते हैं कि "मीडिया में समस्या नहीं अब आनंद है। आभासी यथार्थ के मायने भी मुझे बताएं और यह भी कहा कि अनुभव और स्वार्थ हस्तांतरित हो रहे हैं। यह खतरनाक दौर है।"[11]

इसी कहानी की स्त्री पात्र तन्वी अपनी सूझबूझ व मीडिया के इशारे पर चलते भुजंगनाथ के झूठे फुटेज के बल पर एक ब्रांड के रूप में प्रतिष्ठित हो जाती है और बरखा दत्त सम्मान से नवाजी जाती है। न्यूज चैनलों में एंकर की खूबसूरती के साथ-साथ उसके कपड़े वह बोलचाल के ढंग भी विशेष मायने रखते हैं। प्रवीण कुमार तन्वी एंकर के बारे में लिखते हैं, "तन्वी का शरीर कुछ भर आया था। आँखों में मोटा-मोटा काजल था और आँखें चमक रही थीं। चपटे गाल अब हल्की आँच में पके हुए पुए की तरह चिकने होकर फूल गए थे और लिबास में स्थनिक लुक था। यह राज्य का सबसे नामी न्यूज चैनल था। आखिरकार वह वहाँ पहुँच गई, जहाँ जाना चाहती थी। उसके पतले पतले होंठो से एक-एक शब्द मोतियों के समान टपक रहा था।"[12] तो सच्चाई यह है कि मीडिया वाले अपने व्यावसायिक हितों की पूर्ति के लिए व अपनी टीआरपी बढ़ाने के लिए केवल स्त्री के शरीर के प्रदर्शन पर जोर देते हैं। बहुत सारे विज्ञापनों में जहाँ स्त्री की कोई आवश्यकता नहीं होती उन विज्ञापनों में भी उन्हें एक देह के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। पैरों में पहनने वाले जूतों या कलाई पर बाँधी जाने वाली घड़ी के विज्ञापनों को प्रस्तुत करने वाली सुंदरी कम से कम कपड़ों में दिखाई जाती है, जिसका उद्देश्य केवल स्त्री-देह को परोस कर अपने माल को अधिक से अधिक खपत करना है। बाजार की इस मायाजाल ने सौंदर्य की दूसरी परिभाषा को अनावृत शरीर व देह प्रदर्शन की परिभाषा में तब्दील कर दिया गया है।

समकालीन दौर में बाजार ने स्त्री को स्त्री का प्रतिद्वंदी बना दिया है। वे एक-दूसरे से आगे निकलने की चाह में किसी भी सीमा को पार करने के लिए बेचैन है। अत्यधिक सुंदर आकर्षक व स्लीम दिखने के लिए खाने के स्थान पर सप्लीमेंट लेती है। यहाँ तक कि नशे की आदी हो चुकी है। वे अपने सौन्दर्य व आकर्षण के कारण भी मीडिया पर छाई रहती हैं और मीडिया को इनसे अपनी खुराक मिलती रहती है, लेकिन मीडिया हाथी की तरह है। उसकी खुराक बड़ी है। थोड़े में उसका पेट नहीं भरता। वह खबरों को सनसनीखेज बनाने के लिए निरंतर नया मसला ढूँढता रहता है, जिसके लिए उसकी नजरें स्त्री पर छाई रहती हैं और मीडिया को इनसे अपनी खुराक मिलती रहती है। इस बात में नहीं है कि सोशल मीडिया ने स्त्री को एक नया मंच प्रदान किया है था उसे अपने अनुभव को प्रकट करने का साहस भी दिया है लेकिन फिर भी मीडिया द्वारा स्त्री का एक वस्तु की तरह ही प्रयोग होता है।

संदर्भ :

1. पुरुषोत्तम अग्रवाल, संस्कृति वर्चस्व और प्रतिरोध(भूमिका), राजकमल प्रकाशन, दूसरा संस्करण, 2008.
2. वंदना राग, हिजरत से पहले, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015, पृ. 128
3. किरण सिह, यीशू की कीलें, आधार प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2016, पृ. 179
4. वही, पृ. 196
5. वही, पृ. 197
6. अखिलेश, यक्षगान, सम्पूर्ण कहानियाँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2021, पृ. 111.
7. वही, पृ. 119
8. अरविंद जैन, औरत होने की सजा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृ. 141
9. गीता श्री, स्वप्न, साजिश और स्त्री, सामयिक प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2012, पृ. 107

10. वही, पृ. 109
11. वही, पृ. 114
12. प्रवीण कुमार, छबीला रंगबाज का शहर, राजपाल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2017, पृ. 63.

❖❖❖

आलेख

दिनकर की दृष्टि में आधुनिकता

❍ आरती कुमारी✡

भारतीय साहित्य में अपनी विशिष्ट पहचान के कारण जन-जन की मानस पटल पर अपनी अमिट छाप छोड़ने वाले प्रतिभा सम्पन्न रचनाकारों में श्रेष्ठ हैं- रामधारी सिंह 'दिनकर'। दिनकर ने भारतीय साहित्य के साथ-साथ संस्कृति, समाज, अध्यात्म, विज्ञान, काम, प्रेम, राजनीति, भाषा, विवाह, संस्कार, संस्कृति और आधुनिकता प्रभृति विषय विमर्श का क्षेत्र रहा है। हिन्दी साहित्याकाश में सूर्य के समान तेजस्वी एवं विलक्षण साहित्यकार हैं। उन्होंने अपनी लेखनी के माध्यम से मनुष्य की सुसुप्तावस्था को जागृत करने का बखूबी प्रयास किया है।

दिनकर संघर्षकाल के संक्रमणकालीन सर्जक हैं। उनका साहित्य उनके विचारक एवं चिन्तक व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब है। उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से परंपरा का पुनरावलोकन किया है तो इतिहास का अनुशीलन भी। जब भी कोई काल करवटें लेता है और नयी चेतना से युग उद्धेलित होता है, तो अतीत और वर्तमान में, परंपरा और प्रगति में, भावना और बुद्धि में, धर्म और अध्यात्म में, साहित्य और विज्ञान में टकराहटें होती है। ऐसे संकटग्रस्त समय में दिनकर जैसी प्रतिभाएँ प्रादुर्भूत होती है, जिससे वैचारिक बोध और सृजनकर्म से युग को दृष्टि मिलती है।

दिनकर की दृष्टि में आधुनिकता का व्यापक अर्थ है। उनकी दृष्टि में आधुनिकता कई विचारधाराओं का सम्मिलित रूप है। आधुनिकता में हृदय नहीं बुद्धि की सत्ता काम करती है। उनकी दृष्टि में भावुकता की बजाए बौद्धिकता का प्राबल्य होता है। उन्होंने औद्योगीकरण को आधुनिकता की पहचान माना है। उन्होंनें लिखा है-

"जिसे हम आधुनिकता कहते हैं वह कई बातों का एक सम्मिलित नाम है, औद्योगीकरण आधुनिकता की पहचान है। साक्षरता का सर्वव्यापी प्रसार आधुनिकता की सूचना देता है। नगर-सभ्यता का प्राधान्य आधुनिकता का गुण है। ... आधुनिक समाज में उन्मुक्तता होती है, उस समाज के लोग अन्य समाजों से मिलने-जुलने से नहीं घबराते, न वे उन्नति का मार्ग खास-खास गोत्रों के लिए ही सीमित रखते हैं। आधुनिक समाज का एक लक्षण यह भी है कि उसकी हर आदमी के पीछे होने वाली आय अधिक होती है, हर आदमी के पास कोई धंधा या काम होता है और अवकाश की शिकायत प्रायः हर एक को रहती है।"[1]

दिनकर ने भारत में आधुनिकता के प्रभावों से होने वाले परिवर्तनों के दुष्प्रभावों का उल्लेख किया है। विज्ञान के प्रभावों के कारण भारत में हो रहे परिवर्तन को आधुनिकता की दृष्टि से उसके दुष्परिणामों को

✡ *बरकतउल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल*

व्याख्यायित किया है। आधुनिकता के कारण मनुष्य के जीवन में पड़ने वाले प्रभावों के बारे में दिनकर ने लिखा है – "आधुनिकता से मनुष्य का सुख तो बढ़ा है, लेकिन उसकी शांति घट गयी है, बल, बुद्धि और अहंकार तो बढ़ा है, मगर करूणा और विनम्रता घट गई है।"[2]

दिनकर आधुनिकता के महत्त्व को रेखांकित करते हुए, उसे एक प्रक्रिया मात्र मानते हैं कि यह अंधविश्वास से निकलने की प्रक्रिया है, नैतिकता और वर्णभेद को मिटाने का साधन मात्र है। जाति गोत्र के आधार पर नहीं बल्कि कर्म के आधार पर या मनुष्य की ऊँचाई और उसकी बुद्धि को मापा जाता है।

"जिसे हम आधुनिकता कहते हैं, वह एक प्रक्रिया का नाम है। यह प्रक्रिया अंधविश्वास से निकलने की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया नैतिकता में उदारता बरतने की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया बुद्धिवादी बनने की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया धर्म के सही रूप पर पहुँचने की प्रक्रिया है। आधुनिक वह है, जो मनुष्य की ऊँचाई, उसकी जाति या गोत्र से नहीं, बल्कि उसके कर्म से नापता है। आधुनिक वह है, जो मनुष्य-मनुष्य को समान समझता है।"[3]

विदेशी सभ्यता और संस्कृति का वरण करने वालों के प्रति दिनकर ने रोष प्रकट किया है। उन्होंने कहा है कि आधुनिकता का वरण अति आवश्यक है, भारत के विकास के लिए साथ ही इस बात पर भी जोर दिया है कि भारतीय एकमात्र इस कारण से आधुनिकता का वरण न करें कि विदेशों में किया जा रहा है बल्कि अपनी बुद्धि और भारत की अवस्था को परखते हुए इसका वरण करें। उन्होंने लिखा है –

"आधुनिकता का वरण किए बिना भारत का कोई भविष्य नहीं है, यह बात मैं जोर देकर कहना चाहता हूँ। किन्तु आधुनिकता के प्रचार के लिए बेचैन रहनेवालों से मेरा यह भी निवेदन है कि कोई खेल इसलिए मत खेलिए कि वह विदेशों में कहीं खेला जा रहा है, कोई काम इसलिए मत कीजिए कि वह विदेशों में किया जा रहा है, बल्कि अपनी आधुनिक बुद्धि का प्रयोग भारत की अवस्था पर कीजिए और तब देखिए की आधुनिक बनने का भारत का स्वाभाविक मार्ग क्या है। इस प्रयोग से आधुनिकता का जो रूप निखरेगा वह भारत के परम अनुकूल होगा। तभी भारत आधुनिक भी होगा और वह भारत भी रहेगा।"[4]

भारत के अस्तित्व को उजागर करते हुए यहाँ दिनकर ने आधुनिकता को दर्शाने का प्रयास किया है। वे कहना चाहते हैं कि आधुनिकता को अपनाना चाहिए लेकिन उसके साथ ही भारतीय जनता की परिस्थिति और बुद्धि के अनुकूल कार्य करना चाहिए। तभी भारत आधुनिकता के साथ-साथ अपनी मूल स्थिति में रह सकता है। पाश्चात्य सभ्यता से सीख लेनी चाहिए न कि उस सभ्यता को अपना कर अपनी मूल सभ्यता और संस्कृति को नजरअंदाज कर देनी चाहिए।

दिनकर की दृष्टि में आधुनिकता शाश्वत मूल्य नहीं है। यह सतत् प्रवहमान चेतना है। यह भारतीय संस्कृति की रक्षणीय तत्वों का नवीन चिंतन है। प्राचीनता और परंपरा का खण्डन नहीं है, बल्कि आधुनिकता के साथ-साथ परंपरा का रक्षण है। आधुनिकता पर विचार करते हुए कार्य-कारण संबंध में दिनकर ने उल्लिखित किया है –

"संसार में जब भी कोई नया युग आरंभ होता है, वह युद्ध के कारण आरंभ नहीं होता, पराजय या विजय के कारण आरंभ नहीं होता, क्रांति के कारण आरंभ नहीं होता, न देश का नक्शा बदलने से आरंभ होता है। नयायुग बराबर नए प्रयोग के लोगों के जन्म के साथ उदित होता है। वैसे जिसे हम आधुनिकता कहते हैं, वह कई बातों का एक सम्मिलित नाम है। औद्योगिकीकरण आधुनिकता की पहचान है। साक्षरता का सर्वव्यापी प्रसार आधुनिकता की सूचना देता है। नगर-सभ्यता का प्राधान्य आधुनिकता का गुण है। सीधी-सादी अर्थव्यवस्था मध्यकालीनता का लक्षण है। आधुनिक देश वह देश है, जिसकी अर्थव्यवस्था जटिल और स्वभावतः ही प्रसरणशील हो, जो 'टेक ऑफ' की स्थिति को पार कर चुकी है।"[5]

दिनकर ने बुद्धिवादी और वैज्ञानिक दृष्टि की उपयोगिता को रेखांकित किया है। उन्होंने एक नए विश्व की कल्पना की है, जो केवल सुख, सुविधा या स्वतंत्रता की दृष्टि से ही नहीं बल्कि शांति और संतोष की दृष्टि से भी परिपूर्ण हो। उन्होंने इसका उल्लेख करते हुए लिखा है –

"आधुनिकता के जो औद्योगिक और सामाजिक पक्ष हैं, प्रवृत्तिमूलक और पुरुषार्थबोधक पक्ष हैं, उन्हें हम स्वीकार करेंगे और सर्वत्र स्वीकार करेंगे। जहाँ तक बुद्धिवाद और वैज्ञानिक दृष्टि का प्रश्न है, हम उनकी उपयोगिता स्वीकार करते हैं, किन्तु इन बातों को स्वीकार करते समय हमें इसका भी ध्यान रखना है कि हम जो नया विश्व बनाएँ, वह प्राचीन और मध्यकालीन विश्व से, सचमुच ही श्रेष्ठ हो, केवल सुख, सुविधा, स्वतंत्रता और भोग की दृष्टि से ही श्रेष्ठ नहीं हो, बल्कि उसमें शांति और संतोष का भी प्राचुर्य हो।"[6]

दिनकर आधुनिकता के संदर्भ में वैश्विक भावना को रेखांकित करते हैं, साथ ही समाज में व्याप्त संकीर्णता को भी मिटाने की चेष्टा करते हैं। दिनकर की दृष्टि में आधुनिकता जातिवाद, गोत्रवाद जैसी अवधारणा से उन्मुक्त समाज की स्थापना करना है। प्रस्तुत उद्धरण के माध्यम से दिनकर रूढ़िवादी समाज को सचेत करने की चेष्ट करते हैं। "बंद समाज वह है, जो अन्य समाजों से प्रभाव ग्रहण नहीं करता, जो अपने सदस्यों को भी धन या संस्कृति की दीर्घा में ऊपर उठने की खुली छूट नहीं देता, जो जाति-प्रथा और गोत्रवाद से पीड़ित है, जो अंधविश्वासी, गतानुगतिक और संकीर्ण है। बन्द समाज मध्यकालीनता का समाज होता है। आधुनिक समाज में उन्मुक्तता होती है, उस समाज के लोग अन्य समाजों में मिलने-जुलने में नहीं घबराते, न वे उन्नति का मार्ग खास जातियों और खास गोत्रों के लिए ही सीमित रखते हैं। आधुनिक समाज का एक लक्षण यह भी है कि उसकी हर आदमी के पीछे होनेवाली आय अधिक होती है, हर आदमी के पास कोई धंधा या काम होता है और अवकाश की शिकायत प्रायः हर एक को रहती है।"[7]

आधुनिकता और आधुनिकीकरण में अंतर मानते हुए दिनकर ने कहा है- 'मॉर्डर्निटी' आधुनिकता है तो 'मॉडनाईजेशन' आधुनिकीकरण। इसमें ठीक वैसा ही भेद माना है- जैसा सभ्यता और संस्कृति में। विज्ञान के विकास के साथ-साथ सुख सुविधाओं में वृद्धि हुई है। अनेक ऐसी वस्तुओं का आविष्कार हुआ है, जिसे हम सभ्यता की श्रेणी में मानते हैं लेकिन सुख के संसाधन और आधुनिक वस्तुएँ जो हमारे पास है वह सभ्यता कहलाती है, लेकिन संस्कृति वह है जो हम स्वयं हैं। 'मॉडर्निटी' और 'मॉडर्नाइजेशन' को स्पष्ट करते हुए दिनकर ने आधुनिकता की असली बारीकियों को रेखांकित किया है।

"आधुनिकता और आधुनिकीकरण- मॉडर्निटी और मॉडर्नाइजेशन- में भेद है और यह भेद लगभग वैसा ही है, जैसा भेद हम संस्कृति और सभ्यता में मानते हैं। मोटर, महल, हवाई जहाज और कल-कारखाने- ये सभ्यता के उपकरण हैं। संस्कृति इनसे कहीं बारीक चीज का नाम है। सभ्यता वह है जो हमारे पास है, संस्कृति वह है जो हम खुद हैं। मॉर्डनाइजेशन सभ्यता है, मॉर्डनिटी संस्कृति है। जहाँ तक मॉर्डनाइजेशन का प्रश्न है, भारत को आधुनिक बनना ही पड़ेगा और इस क्षेत्र में भारत के आधुनिक होने से भारतीयता नष्ट ही हो जाएगी, ऐसा मेरा विचार नहीं है। गरचे धोती, कुर्ता, अचकन और चादर को हम भारतीयता से संबद्ध मानते आए हैं, किन्तु भारत की जो आत्मा है, भारत का जो असली धर्म है, वह पोशाकों में नहीं बसता, उसका निवास भारतीयों के मन में है, चिन्तन की पद्धति में हैं, सृष्टि को देखने वाली दृष्टि में है।"[8]

आधुनिकता के स्वीकार-नकार संबंधी मत को भारतीय संदर्भ में इसकी वास्तविकता और ऐतिहासिक अवध ारणा के सूत्रों को सुलझाने पर दिनकर ने बल दिया है। रोमानियता और आस्तिकता को यूरोपीय जीवन-दर्शन समझकर इसका विरोध करना संकीर्णता का सूचक है। दिनकर ने इसका उल्लेख किया है –

"जिसे हम आधुनिकता कहते हैं, वह एक प्रक्रिया का नाम है। यह प्रक्रिया अंधविश्वास से निकलने की

प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया नैतिकता में उदारता बरतने की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया बुद्धिवादी बनने की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया धर्म के सही रूप पर पहुँचने की प्रक्रिया है। आधुनिक वह है, जो मनुष्य की ऊँचाई, उसकी जाति या गोत्र से नहीं, बल्कि उसके कर्म से नापता है। आधुनिक वह है जो मनुष्य-मनुष्य को समान समझता है। इस अर्थ में आधुनिकता का आरम्भ भारत में बुद्ध के समय हुआ था और वह धारा तब से भारत में बराबर बहती आ रही है। सरहपा, नहपा आदि सिद्ध साधुओं ने जिस धर्म का आख्यान किया, वह पारंपरिक धर्म की अपेक्षा अधिक बुद्धिसंगत और नवीन है। कबीरदास, तुलसीदास के पूर्व हुए थे, किन्तु वे तुलसी की अपेक्षा आज के चिन्तन के अधिक समीप है।"[9]

दिनकर ने आधुनिकता के प्रभाव के कारण हमारे समाज और परिवार पर पड़ने वाले दुष्परिणामों का भी उल्लेख किया है। मनुष्य इस प्रकार आधुनिकता के वशीभूत हो गया है कि वह परिवार, समाज के साथ-साथ अपने नैतिक मूल्यों का भी परिष्कार करता जा रहा है। प्रेम जैसे पवित्र शब्द के भी मतलब बदल चुके हैं। विवाह का आधार अब प्रेम नहीं बल्कि आपसी सहमति मात्र बन गई है। आधुनिकता के इस दुष्परिणामों का रेखांकन दिनकर ने किया है।

"दुनिया का जो भाग आधुनिकता के आलोक से सबसे अधिक आलोकित है, वहाँ परिवार समाज की सबसे पवित्र इकाई नहीं है। विवाह का आधार दम्पति का व्रत नहीं, आपसी रजामंदी है। नारियाँ विशेष रूप से रक्षणीय नहीं है, इसीलिए, वे पूजा की भी अधिकारिणी नहीं है। धर्म के व्यर्थ हो जाने से मूल्यों की दीर्घा में जो जगह खाली हुई, उस सौन्दर्यबोध ने आसन जमा लिया और सौन्दर्यबोध का मुखौटा पहनकर दुनिया के मन पर शासन असल में, कामदेव कर रहा है। व्यावहारिक मनुष्य के लिए ईमानदारी कोई अनिवार्य गुण नहीं है। प्रेम भावुक लोगों की बीमारी का नाम है। सिधाई, सच्चाई, वीरता और बलिदान उतने अच्छे नहीं हैं, जितनी अच्छी चालाकी हो सकती है और जब सभी लोग चालाकी से ही जीते हैं, तब वीरता और बलिदान बेवकूफी की बातें नहीं, तो और क्या है? मूल्यों का पचड़ा बेकार है। सबसे बड़ा मूल्य वह है, जिसके सहारे गाड़ी चलती रहती है।"[10]

दिनकर आधुनिक साहित्य की आधुनिकता के पीछे नवीन मनोवृत्तियों और स्वच्छंद मनोदशा का उल्लेख किया है। किसी भी साहित्यकार का साहित्य नवीन विषयों के काराण आधुनिक नहीं होता है बल्कि उसी मानसिकता में नवीनता होनी चाहिए।

"आधुनिक साहित्य आधुनिक इसलिए नहीं है कि उसके सारे विषय नवीन है। आधुनिक वह इसलिए है कि उसके पीछे काम करनेवाली मनोवृत्ति नवीन है, मनोदशा, मानसिकता और दृष्टि नवीन है। लेखक की दिलचस्पी विषय में न होकर उसे देखनेवाली नई दृष्टि में है और पाठक भी उसी नवीन दृष्टि का प्रेमी होने के कारण इस साहित्य की ओर उन्मुख होता है।"[11]

आधुनिकता के कारण साहित्य पर विज्ञान का प्रभाव पड़ा। वैज्ञानिक युग का साहित्य प्राचीन एवं मध्यकाल के साहित्य से पूर्णत: भिन्न है। विज्ञान और टेक्नोलॉजी के प्रचार से साहित्य का परिवेश परिवर्तित हो गया। विज्ञान के प्रभाव से साहित्य का रूपक, बिम्ब, प्रतीक आदि ही नहीं बदले बल्कि उसकी शैली में भी परिवर्तन हुआ है। विज्ञान ने सारी सृष्टि को एक यंत्र के रूप में स्वीकृत किया है। ईश्वर की कल्पना मिथ्या मानी जाने लगी। डारविन का 'जीवों की उत्पत्ति' नामक ग्रंथ में मनुष्य को ईश्वर की संतति नहीं मानकर बंदर से विकसित होना घोषित किया। तब मार्क्स आए उन्होंने धर्म, नैतिकता, कला और अध्यात्म आदि मूल्यों को समाप्त कर, स्थापना दी कि मूल्यों का विकास समाज की अर्थ-व्यवस्था के अनुसार हुआ। उनके बाद फ्रायड का मनोविज्ञान आया। उन्होंने यह सिद्ध किया कि मनुष्य प्रत्येक कार्य अचेतन में दबी अगणित अदम्य वासनाओं की प्रेरणा के कारण सम्पादित करता है। इसको रेखांकित करते हुए दिनकर ने विवेचन किया है।

"डारविन ने मनुष्य से उसका देवत्व छीन लिया था। मार्क्स ने उसकी सदाशयता की जड़ खोद डाली थी और फ्रायड ने यह सिद्ध कर दिखाया था कि आदमी का अपने को बुद्धिवादी समझना बिल्कुल फालतू बात है।"[12]

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में आधुनिकता का परिदृश्य बदला। कवियों का दृष्टिकोण बदलने लगा। उनकी रचनाओं की शैली में बदलाव आने लगा। यूरोपीय आधुनिकता की प्रवृत्ति के अनुसार भारत में भी बदलाव आया।

अत: दिनकर आधुनिकता को गुण मानते हैं, दोष नहीं। उन्होंने भारत में इसकी अनिवार्यता को अपने विचारों के माध्यम से रेखांकित किया है। उन्होंने आधुनिकता, साक्षरता, समानता, नारी-सशक्तिकरण, आर्थिक समानता और वैज्ञानिक विकास पर बल दिया है तथा अंधविश्वास, पाखण्ड, जातिवाद, गोत्रवाद, रूढ़िवादिता, अनुशासनहीनता, उच्छृंखलता आदि पर चोट किया है। दिनकर के आधुनिक भारत की कल्पना समन्वयशील एवं विकासशील है, जो "राममोहन राय से लेकर महात्मा गाँधी तक भारत के जो भी महान विचारक हुए हैं, उनकी कल्पना यह थी कि भारत को अपनी संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ अंश को भी बचाना है और पाश्चात्य संस्कृति के भी सर्वोत्तम भाग को स्वीकार करना है। भारत की विशेषता अध्यात्म और पाश्चात्य जगत् की विशेषता विज्ञान है। हम इन्हीं दो तत्वों का समन्वय करना चाहते हैं।

"एक हाथ में कलम, एक में धर्मदीप्त विज्ञान
लेकर उठनेवाले हैं धरती का हिन्दुस्तान।।"[13]

सन्दर्भ :

1. दिनकर रचनावली (खण्ड-8), (सं.) नंदकिशोर नवल और तरुण कुमार, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, (उ.प्र.), 2011, पृ. 196
2. वही, पृ. 205
3. दिनकर रचनावली (खण्ड-6), (सं.) नंदकिशोर नवल और तरुण कुमार, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, (उ.प्र.), 2011,, पृ. 82
4. दिनकर रचनावली (खण्ड-8), पृ. 190-190
5. वही, पृ. 195-196
6. वही, पृ. 203
7. वही, पृ. 196
8. वही, पृ. 198
9. दिनकर रचनावली (खण्ड-6), पृ. 82-83
10. वही, पृ. 86-87
11. वही, पृ. 105
12. वही, पृ. 87
13. दिनकर रचनावली (खण्ड-8), पृ. 208-09

❖❖❖

आलेख

पालि धम्मपदट्ठकथा का कबीर पर प्रभाव

❍ कृष्ण कुमार साह✡

भारतीय वाङ्मय आरंभिक काल से ही अत्यंत विस्तृत एवं समृद्ध रहा है। इसके अंतर्गत मौखिक एवं लिखित साहित्य वैदिक युग से ही प्राप्त होते हैं। साहित्य का आरंभिक स्वरूप धार्मिक रूप में विकसित हुआ। धर्म से प्रेरित यह धार्मिक साहित्य आस्था एवं विश्वासों पर आधारित रहा। कालांतर में विकृत होकर इसमें अंधविश्वास, बाह्याडंबर, कर्मकांड आदि को स्थान मिला। आचार, नैतिकता आदि का समावेश भी इसमें था परंतु इसी से वर्ण व्यवस्था, जाति व्यवस्था जैसी सामाजिक विषमता का भी जन्म हुआ। इसी धार्मिक अंधविश्वास, कर्मकांड, बाह्याडम्बर और सामाजिक विषमताओं के विरुद्ध बौद्ध धर्म का उदय हुआ। बुद्ध ने इन धार्मिक एवं सामाजिक बुराइयों का न केवल विरोध किया बल्कि उससे निवारण के मार्ग भी बताए। उन्होंने अपने उपदेशों में मानव मूल्य, जीवन मूल्य, नैतिक मूल्यों की शिक्षा दी और मानवता को श्रेष्ठ धर्म बताया। उनके उपदेशों से अधिक संख्या में लोग प्रभावित हुए एवं उनके अनुयायी भी बने। उनके उपदेश इतने प्रभावशाली थे कि कालांतर में उनका प्रभाव भारत सहित एशिया के विभिन्न देशों के लोगों पर पड़ा और बौद्ध धर्म एशिया के विभिन्न देशों तक फैल गया। बुद्ध के अनुयायियों ने उनके उपदेशों को संग्रहित करने हेतु धार्मिक साहित्य लिखे। बौद्ध धार्मिक साहित्य का प्रभाव परवर्ती भारतीय साहित्य पर पड़ा। बौद्ध धर्म के विचारों ने पालि, संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश से होते हुए हिंदी साहित्य को भी प्रभावित किया। आरंभिक हिंदी साहित्य जिनमें सिद्धों और नाथों के साहित्य में बौद्ध धर्म का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। सरहपा, शबरपा, गोरखनाथ आदि आदिकालीन कवियों से होते हुए कबीर आदि संत कवियों पर भी बौद्ध विचारों का प्रभाव पड़ा।

संत साहित्य में बौद्ध साहित्य का जो प्रभाव प्राप्त होता है, वह सीधा न आकर सिद्धों नाथों से होता हुआ कबीर आदि संत कवियों के यहाँ आया है। महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन भोटिया साहित्य के अनुशीलन के आधार पर सिद्धों की काव्याधारा का प्रवाह 12वीं शताब्दी तक ही ला सके। उन्हें कबीर का सिद्धों से संबंध स्थापित करने में कठिनाई का सामना करना पड़ा। वहीं अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने सिद्धों के पश्चात् नाथ-संप्रदाय के साहित्य को विकास की कड़ी मानकर सिद्ध काव्यधारा को कबीर से विश्वासपूर्वक जोड़ा और राहुल सांस्कृत्यायन पर टिप्पणी की कि 'इस बहुत ही स्पष्ट विकास की ओर राहुल जी की दृष्टि क्यों नहीं

✡ *शोधार्थी, हिंदी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय शिलांग; पिन : 793022*
मो. 7908492732, 8967445302; ईमेल- sahkrishna075@gmail.com

गयी ?' इस संबंध में डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने गोरखबानी की भूमिका में लिखा है– "जो बात राहुल जी को कठिन जान पड़ी वही उपाध्याय जी को इसलिए सरल लगी कि उनके सामने 'हिन्दी काव्य में योग प्रवाह' शीर्षक से मेरा निबंध था जो राहुल जी के सामने नहीं था। इस संक्षिप्त परिचय से विद्वानों ने मान लिया कि नाथ-योगियों की 'बानियाँ' हमारे साहित्यिक विकास की लड़ी में एक महत्वपूर्ण कड़ी है।"[1] सुप्रसिद्ध बौद्ध ग्रंथ धम्मपद एवं उस पर लिखित अट्ठकथा 'धम्मपदट्ठकथा' का प्रभाव कबीर आदि संत कवियों में इसी साहित्य के विकास की एक कड़ी के रूप में देखा जा सकता है।

बौद्धधर्म मूलतः आचरण की शिक्षा देने वाला धर्म है। इस धर्म में सदाचार और नैतिकता का विशेष महत्त्व है। धम्मपदट्ठकथा में मुख्य रूप से आचार, सदाचार और नैतिकता की शिक्षा दी गई है। मृदुभाषी होकर मनुष्य अहंकार एवं बैर जैसे अवगुणों से बच सकता है। धम्मपदट्ठकथा के उपदेशों में बुद्ध ने भी मृदुभाषी बनने का उपदेश दिया। भिक्खु वग्ग की गाथा में कहा गया है–

"यो मुखसंयतो भिक्खु, मन्तभाणी अनुद्धतो।
अत्थं धम्मं च दीपेति, मधुरं तस्स भासितं ।। ति ।।"[2]

(अर्थात् जो भिक्षु मुख से संयत है, मृदुल भाषी एवं विनयशील है, वही अर्थ और धन का सम्यक्तया विवेचन कर सकता है। उसकी भाषा मधुर होती है।) देवावरोहण की कथा में कण्हउसभजातकं को उद्धृत करते हुए मधुर वाणी बोलने के लाभ को दर्शाया गया है। ब्राह्मण का नन्दि नामक विशाल बैल उसकी मधुर वाणी के कारण अत्यधिक भार ढोता है और इससे ब्राह्मण को अधिक धन मिलता है। कथा में उल्लेख है कि,

"मनुञ्जमेव भासेत, नामनुयं कुदाचनं ।
मनुञ्जं भासमानस्स गरुं भारं उदम्भरि ।।
धनं च नं अलाभेसि, तेन चत्तमनो अहू ।। ति ।।"[3]

(अर्थात् जब भी कुछ बोलें तो दूसरों के चित्त को प्रिय लगने वाली वाणी ही बोलें। कभी भी अप्रिय लगने वाली वाणी न बोलें। प्रिय वाणी बोलने के कारण नन्दि बैल ने इतना भारी भार ढो दिया। इससे धन तो लाभ मिलेगा ही चित्त भी शान्त एवं संतुष्ट होगा।) बुद्ध यहाँ अपने भिक्षुओं को सभी के साथ नम्रता पूर्वक व्यवहार करने का उपदेश देते हैं।

संयमित वाणी बोलना अर्थात् मृदुभाषी होने का उपदेश भक्तिकालीन संत कवियों ने भी दिया। संत कबीर दास संयमित वाणी के महत्व को जानते थे। उन्होंने लोगों से ऐसी मृदुल वाणी बोलने के लिए कहा जिससे सामने वाले को शीतलता मिले, वह प्रसन्न रहे साथ ही ऐसी वाणी बोलने से स्वयं का हृदय भी आह्लादित रहता है,

ऐसी बाँणी बोलिये, मन का आपा खोइ।
अपना तन सीतल करै, औरन कौं सुख होइ।"[4]

यहाँ यह स्पष्ट है कि वाणी को संयमित करने की नैतिक शिक्षा बौद्ध धर्म में प्रचलित थी या यूँ कहें लोक में प्रचलित थी, धम्मपदट्ठकथा में इसका वर्णन मिलता है, साथ ही यह परंपरा सिद्धों-नाथों से होते हुए गोरखनाथ, कबीरदास आदि कवियों में भी दिखाई पड़ती है।

मानवीय प्रवृत्ति है कि वह अपने दोष की अपेक्षा दूसरों का दोष अधिक देखती है। धम्मपदट्ठकथा में स्वयं को सुधारने पर जोर दिया गया है। दूसरों में बुराइयाँ ढूंढने से पहले स्वयं के अंदर झाँकना आवश्यक है। धम्मपदट्ठकथा में कहा गया है,

"सुदस्सं वज्जमञ्जसं, अत्तनो पन दुद्दसं ।
जीना पतिं च जारं च मञ्जे त्वं येव झायसि!"[5]

(अर्थात् दूसरों में छिद्र (दोष) देखना सरल होता है, परंतु अपना दोष देखना कठिन होता है।)

कबीर भी इसी तरह अपने को ही श्रेष्ठ समझने वाले तथा दूसरों के दोषों पर दृष्टिपात करने की प्रवृत्ति पर बार-बार आघात करते हैं। व्यक्ति ही अनेकता के भाव को जन्म देता है अगर व्यक्ति अपने में सुधार कर ले तो समाज से बुराइयाँ स्वतः ही समाप्त हो जाएंगी। कबीर कहते हैं,

"बुरा जो देखन मैं चला बुरा न मिलिया कोय।
जो दिल खोजों आपना मुझसा बुरा न होय।"[6]

दूसरों में बुराई देखना बड़ा सरल होता है। दूसरों की बुराई देखने से पहले स्वयं हृदय में झाँकना चाहिए क्यों जब हम स्वयं की बुराई खोजेंगे तो पायेंगे कि हम से अधिक बुरा कोई नहीं है। मनुष्य आत्मालोचना द्वारा स्वयं के अवगुण से परिचित हो सकता है। आचरण की शुद्धता प्रमुख मानव जीवन मूल्य है। बुद्ध और कबीर दोनों ने इसके महत्व को स्वीकार किया है।

भक्ति कालीन संत साहित्य में सज्जन या सद्पुरुष की संगति करने का उपदेश दिया गया है। सत्संगति से सुख की उत्पत्ति होती है और कुसंगति से दुःख की उत्पति होती है। धम्मपदट्ठकथा में शास्ता भिक्षुओं को उपदेश देते हुए कहते हैं कि,

बालसङ्गतचारी हि, दीघमद्धान सोचति।
दुक्खो बाले हि संवासो, अमित्तेनेव सब्बदा।।
धीरो च सुखसंवासो ञातीनं व समागमो ।।[7]

(अर्थात् मूर्खों की संगति में रहकर आचरण करने वाले पुरुष मार्ग में नाना प्रकार के कष्ट ही पाता है तथा मूर्खों का साथ अत्यंत कष्टदायक होता है जैसे शत्रु के साथ रहना। धैर्यशाली सत्पुरुष के साथ रहना उतना ही सुखप्रद होता है जैसे किसी प्रिय संबंधी के समागम में रहना।)

कबीर दास ने भी सज्जनों की संगति को कल्याणकारी माना क्योंकि ऐसे जन की संगति से जन्म-जन्मार्जित पापादि रूप व्याधि का नाश होता है तथा मानव सन्मार्ग पर आरूढ़ होता है। दुष्टों की संगति से आठों पहर उपद्रव एवं कष्ट ही कष्ट होता रहता है। कबीर कहते हैं,

"संगति कीजौ साधु की, हरै और की व्याधि।
ओछी संगति कूर की, आठौ पहर उपाधि।"[8]

बुद्ध ने बाह्यचारों पर अघात किया है। बाह्याडम्बर एवं धार्मिक कर्मकाण्ड का खंडन बौद्ध साहित्य में देखा जा सकता। बुद्ध द्वारा बाह्याचारों का खण्डन भावुकता पर टिका न होकर बुद्धि की ठोस आधार-भूमि पर टिका था। उन्होंने वेश-भूषा के बाह्य दिखावे को निरर्थक बताया। केवल गेरुवा वस्त्र धारण कर लेने से, जटा बढ़ा लेने से, तिलक लगा लेने कोई योगी नहीं बन जाता। इस प्रकार के बाह्य रूप परिवर्तन से कोई भिक्षु या सन्यासी नहीं बन जाता। धम्मपदट्ठकथा की 'दुच्चरितफलपीळितवत्थु' में कहा गया है,

"कासावकण्ठा बहवो, पापधम्मा असञ्ञता ।
पापा पापेहि कम्मेहि, निरयं ते उपपज्जरे" ।। ति ।।[9]

(अर्थात् बहुत से भिक्षु काषाय वस्त्र गले में डाले हुए पापकर्म में निरत रहते हैं तथा उनका अपनी इन्द्रियों तथा काया पर कोई संयम नहीं होता। ऐसे पापी, अपने पापकर्मों के कारण, यहाँ से देहपात के पश्चात् सीधे

नरक में जा गिरता है।) यहाँ वस्त्रों को केवल धारण कर लेने मात्र से किसी को भिक्षु मानने को उचित नहीं माना गया है।

इस प्रकार वेश के बाह्य दिखावे का खंडन सभी संत कवियों ने किया है। 'भेष को अंग' वाणी में कबीरदास ने इसी प्रकार के बाह्याचारों का खंडन किया है। भेष बनाने के कई साधन प्रचलित थे जो आज भी हैं जिनमें छापा-तिलक, माला, जटा, जनेऊ आदि मुख्य हैं। कबीर कहते हैं कि मन को स्वच्छ करने की आवश्यकता है। योगी लोग अपने मन को स्वच्छ किये बिना कपड़े को रंग कर धारण कर लेते हैं। आसन लगाकर मंदिर में बैठते हैं और पत्थर को पूजने लगते हैं। कान छिदवाकर, जटा-दाढ़ी बढ़ा कर लोग बकरे की तरह बन जाते हैं।

"मन न रँगाए रँगाए जोगी कपरा।
आसन मारि मँदिर में बैठे नाम छाँड़ि पूजन लगै पथरा।
कनवा फड़ाय जोगी जटवा बढ़ौ दाढ़ी बढ़ाय जोगी होइ गैलैं बकरा।"[10]

स्पष्ट है बाह्यचारों-आडम्बरों का खण्डन बौद्ध साहित्य में पूर्व से ही परंपरा रूप में विकसित हो रहा था कबीर इससे अवश्य परिचित रहे होंगे। यह अवश्य कहा जा सकता है कि बाह्यचारों एवं बाह्याडम्बरों के खंडन में कबीर अत्यधिक मुखर और प्रखर दिखायी पड़ते हैं। धम्मपदट्ठकथा में बुद्ध जन्म आधार पर किसी को भी ब्राह्मण मानने का खंडन करते हैं। बुद्ध कहते हैं,

"न जटाहि न गोत्तेन, न जच्चा होति ब्राह्मणो ।
यम्हि सच्चं च धम्मो च, सो सुचि सो च ब्राह्मणो"।[11]

(अर्थात् न जटा बढ़ा लेने से, ब्राह्मणों के गोत्र या जाति से कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता, परंतु जिसने सत्य एवं धर्म का साक्षात्कार कर लिया है, मैं तो उसे ही ब्राह्मण कहता हूँ।) संत मत एवं कबीर पर पूर्ववर्ती साहित्य के प्रभाव के संबंध में डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि "कबीर आदि निर्गुण मतवादी संतों की वाणियों की बाहरी रूप-रेखा पर विचार किया जाय तो मालूम होगा कि यह सम्पूर्णतः भारतीय है और बौद्ध-धर्म के अंतिम सिद्धों और नाथपंथी योगियों के पदादि से उसका सीधा सम्बन्ध है। वे ही पद, वे ही राग-रागिनियाँ, वे ही दोहे, वे ही चौपाइयाँ कबीर आदि ने व्यवहार की हैं जो उक्त मत के मानने वाले उनके पूर्ववर्ती संतों ने की थीं। क्या भाव, क्या भाषा, क्या अलंकार, क्या छंद, क्या पारिभाषिक शब्द सर्वत्र वे ही कबीर दास के मार्ग दर्शक हैं।"[12]

बौद्ध दर्शन में क्षणवाद का सिद्धांत महत्वपूर्ण हैं। संसार के समस्त सत् कहे जाने वाले पदार्थ, भाव, विषय, वस्तु सब क्षणिक और क्षण-क्षण परिवर्तनशील हैं। यह दो प्रकार में अभिव्यक्त होती है। पहला क्षणभंगवाद (क्षण-क्षण परिवर्तनशीलता, जिसे क्षणों में खंडित करके ही देखा जा सकता है। दीपक और उसके दीपशिखा के उदाहरण के माध्यम से इसे समझा जा सकता है। दीपशिखा के लौ में) सिद्धांत द्वारा जो परिवर्तनाश्रित सत्य का उद्घाटन है। दूसरा क्षणिकत्व नाश का द्योतक है जिसमें समस्त प्राकृतिक पदार्थों को क्षणभंगुर या नाशवान कहा जाता है। क्षणभंगुरता को दर्शाने हेतु 'पानी के बुलबुले' का प्रतीक रूप उपयोग धम्मपदट्ठकथा में मिलता है। शास्ता कहते हैं,

यथा बुब्बुळकं पस्ते, यथा पस्से मरीचिकं ।
एवं लोकं अवेक्खन्तं, मच्चुराजा न पस्सती ।। ति ।।[13]

(अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य जल में उठे बुलबुलों को या मृगमरीचिका को देखता है, संसार को उसी प्रकार देखने वाले साधक को यमराज नहीं देख पता है।) यहाँ संसार को क्षण भंगुर एवं माया से परिपूर्ण माना गया

है। माया के भ्रम के कारण मृगमरीचिका अर्थात् बालू रेत के स्थान में सूर्य की किरणों के कारण जल की सत्ता दिखाई पड़ती है परंतु वास्तव में वह होती नहीं है। जैसे बुलबुले उत्पन्न होकर विनष्ट होते रहते हैं जिस कारण उनका अभाव मात्र ही व्यवहार में दिखाई देता है यहाँ बुलबुले तथा मृगमरीचिक से माया की तुलना की गई है। कबीर आदि संत कवि इस क्षणभंगुरता की चर्चा बार-बार करते हैं। कबीरदास पानी के बुलबुले के माध्यम से जीवन की क्षण भंगुरता को दर्शाते हैं। कबीर कहते हैं कि मनुष्य का यह शरीर पानी के बुलबुले के समान क्षणभंगुर है, जैसे प्रभात होते ही तारे छिप जाते हैं वैसे ही यह शरीर भी विनष्ट हो जाएगा।

पाँणी केरा बुदबुदा इसी हमारी जाति ।
एक दिनाँ छिप जाँहिगे, तारे ज्यूँ परभाति ।[14]

बौद्धों में जगत को पारमार्थिक सत्ता नहीं माना गया है। जगत की सत्ता व्यावहारिक है। वह शाश्वत नहीं है क्योंकि वह परिवर्तनशील और विनाशशील है। संसार में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। सांसारिक पदार्थ अत्यंत ही आकर्षक एवं मनमोहक हैं। इसी आस्वादन में लिप्त मनुष्य सत्य से दूर हो जाता है। धम्मपदट्ठकथा के सामावती की कथा में शास्ता भिक्षुओं से कहते हैं,

"मोहसम्बन्धनो लोको, भब्बरूपो व दिस्सति ।
उपधीबन्धनो बालो, तमसा परिवारितो ।
सस्सतोरिव खायति, पस्सतो नत्थि किञ्चनं" ।। ति ।।[15]

(अर्थात् मोह में आबद्ध यह समस्त संसार भव्य (सुंदर) दिखायी देता है। मूर्ख जन इन मानसिक बन्धनों, असत्य विचारों तथा इस तमोगुण को शाश्वत मान लेते हैं। वे इसके दुष्परिणामों को नहीं देखते हैं।)

कबीरदास ने संसार को सेमल के फूल के समान सुंदर आकर्षक एवं विनाशकारी माना है। उसके भीतर कोई तत्त्व नहीं है वह सेमल के फूल के समान ऊपर से सुंदर अंदर से खाली है और शीघ्र नष्ट होने वाला भी है। मनुष्य को थोड़े दिन के इस जीवन में झूठे दिखावे करना असत्य को सत्य मानना वास्तविकता को विस्मृत करना है। कबीर कहते हैं,

यहु ऐसा संसार है, जैसे सैंबल फूल ।
दिन दस के व्यौहार कौं, झूठै रंगि न भूलि ।।[16]

कमल का उपयोग विभिन्न प्रतीकों के रूप में किया जाता रहा है। यह परम्परा बौद्धों में आरंभ से ही दिखाई पड़ती है। जीवन एवं मृत्यु के प्रतीक के रूप इसका प्रयोग धम्मपदट्ठकथा में दिखाई पड़ता है। 'सुवण्णकारथेरवत्थु' की कथा में जीवन की अनित्यता को समझाते हुए कहा गया है- तस्मिं खणे तस्स अविदूरे कुमारका एकं सरं ओतरित्वा, कुमुदानि भजित्वा, थले रासिं करोन्ति। सो जले च थले च कुमुदानि ओलोकेसि। अथस्स जले कुमुदानि अभिरूपानि उदकपग्घरन्तानि विय उपट्ठहिंसु। इतरानि अग्गग्गेसु परिमिलातानि।[17] (अर्थात् सुवर्णकार को कुछ बालकों द्वारा पुष्प तोड़कर फेंके हुए दिखाई दिये। उसने जल तथा स्थल पर पड़े उन दोनों प्रकार के कुमुद पुष्पों को देखा। जल वाले कुमुद सुन्दर नयनाभिराम लग रहे थे, परंतु तोड़कर भूमि पर फेंके गये वे ही फूल कुम्हलाये से लग रहे थे। उसने सोचा- "जब तत्काल गृहीत की यह दशा है- तो चिर काल से गृहीत इस शरीर आदि की कभी यह दशा न होगी! यों उसे धर्मों की अनित्यता स्पष्टतः समझ में आ गयी।)

वहीं कबीर द्वारा कमल के पुष्प का प्रयोग जीवात्मा के प्रतीकों में हुआ है। कमल के पुष्प के कुम्लाहने का अर्थ में कबीर ने आत्म-परमात्मा को एक मानकर उससे अभिन्न स्वीकार किया है। बौद्धों में आत्मा को भी नाशवान माना गया है, उसके अस्तित्व को नकारा गया है। कबीर दास आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते

हैं एवं उसे परमात्मा का ही अंग मानते हैं। इसे समझाने के लिए कबीर कमल के पुष्प एवं सरोवर के प्रतीकों का सहारा लेते हैं,

कहे री नलिनी तूँ कुम्हिलाँनीं
तेरे ही नालि सरोवर पाँनी।
जल मैं उतपति जल में बास,
जल में नलनी तोर निवास।।[18]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि धम्मपदट्ठकथा का प्रभाव कबीर दास पर पड़ा है, परंतु यह प्रभाव सीधे न पड़ कर साहित्य के विकास की परंपरा में सरहपा, शबरपा, गोरखनाथ आदि कवियों से विकसित होता हुआ कबीर के यहाँ आया है। इसे सिद्धों-नाथों के सांस्कृतिक प्रभाव की परवर्ती और पूर्ववर्ती कड़ियों के रूप में अवश्य देखा जा सकता है। बुद्ध और कबीर दोनों ही अलग-अलग युगों के एवं जीवन की गतिशील चेतना के साक्षी रहे हैं। बौद्ध धार्मिक साहित्य का आधार बुद्ध के विचार रहे हैं। धम्मपदट्ठकथा में अभिव्यक्त विचार व्यवहारिकता पर आधारित हैं। कबीरदास में भी यही व्यावहारिकता दिखाई पड़ती है। आचरण की शुद्धता, सामाजिक कुरीतियों और बाह्याडम्बरों से मुक्ति आदि संबंधों में कबीर के विचार धम्मपदट्ठकथा में अभिव्यक्त विचारों से मेल खाते हैं। कहने के ढंग में अंतर अवश्य दिखायी पड़ता है। कबीर बड़े बेबाक अक्कड़-फक्कड़ तरीके से इन कुरीतियों पर चोट करते हैं, वहीं धम्मपदट्ठकथा में थोड़ी शालीनता दिखाई पड़ती है। धम्मपदट्ठकथा में अभिव्यक्त दु:ख, अहिंसा और आचरण आदि संबंधित अवधारणा संत कबीरदास में देखी जा सकती है। यहाँ जीवात्मा-परमात्मा से संबंधित दार्शनिक अवधारणा में अंतर अवश्य देखा जा सकता है।

संदर्भ :

1. डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, गोरखबानी, भूमिका, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संस्करण 1994 : 11
2. परमानंद सिंह, (संपा.) अनु. स्वामी द्वारिका प्रसाद शास्त्री, धम्मपदट्ठकथा, तृतीय भाग, बौद्ध आकर ग्रंथमाला, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी, 2000 : 1868
3. वही : 1294
4. डॉ. श्यामसुन्दर दास, कबीर ग्रन्थावली, उपदेश कौ अंग, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, संस्करण 1985 : 44
5. परमानंद सिंह, (संपा.) अनु. स्वामी द्वारिकाप्रसादशास्त्री, धम्मपदट्ठकथा-तृतीय भाग, बौद्ध आकर ग्रंथमाला, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी, संस्करण 2000 : 1826
6. अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', कबीर वचनावली, नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस, संस्करण 1996 : 145
7. परमानंद सिंह, (संपा.) अनु. स्वामी द्वारिका प्रसाद शास्त्री, धम्मपदट्ठकथा, तृतीय भाग, बौद्ध आकर ग्रंथमाला, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी, संस्करण 2000 : 1388
8. अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', कबीर वचनावली, नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस, संस्करण 1996 : 230
9. परमानंद सिंह, (संपा.) अनु. स्वामी द्वारिका प्रसाद शास्त्री, धम्मपदट्ठकथा, तृतीय भाग, बौद्ध आकर ग्रंथमाला, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी, संस्करण 2000 : 1706
10. अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', कबीर वचनावली, नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस, संस्करण 1996 : 243
11. परमानंद सिंह, (संपा.) अनु. स्वामी द्वारिका प्रसाद शास्त्री, धम्मपदट्ठकथा, तृतीय भाग, बौद्ध आकर ग्रंथमाला, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी, संस्करण 2000 : 1962
12. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2019 : 31
13. परमानंद सिंह, (संपा.) अनु. स्वामी द्वारिकाप्रसादशास्त्री, धम्मपदट्ठकथा-तृतीय भाग, बौद्ध आकर ग्रंथमाला,

महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी, संस्करण 2000 : 1226

14. डॉ. श्यामसुन्दर दास, कबीर ग्रन्थावली, काल कौ अंग, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, संस्करण 1985 : 57
15. परमानंद सिंह, (संपा.) अनु. स्वामी द्वारिकाप्रसादशास्त्री, धम्मपदट्ठकथा, तृतीय भाग, बौद्ध आकर ग्रंथमाला, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी, संस्करण 2000 : 306
16. डॉ. श्यामसुन्दर दास, कबीर ग्रन्थावली, चिताबाणी कौ अंग, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, संस्करण 1985 : 16
17. परमानंद सिंह, (संपा.) अनु. स्वामी द्वारिका प्रसाद शास्त्री, धम्मपदट्ठकथा, तृतीय भाग, बौद्ध आकर ग्रंथमाला, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी, संस्करण 2000 : 1624–26
18. डॉ, श्यामसुन्दर सिंह, कबीर ग्रन्थावली, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, संस्करण 1985 : 84

❖❖❖

आलेख

दिव्यांगता आधारित हिंदी सिनेमा में संगीत का जादू

❍ सरिता कुमारी[1]
❍ डॉ. कुमारी विभा[2]

हिंदी सिनेमा और संगीत का गहरा सम्बन्ध रहा है। कोई भी सिनेमा संगीत के बिना अधूरा ही माना जाता है क्योंकि हम देखते हैं कि कई फिल्मों की सफलता में संगीत का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। चाहे वह समकालीन सिनेमा हो, पौराणिक सिनेमा या सामाजिक सिनेमा, हर जगह संगीत का अपना महत्व रहा है। हिंदी सिनेमा के गीत के सन्दर्भ में शशांक दूबे लिखते हैं कि "हिंदी सिनेमा की आत्मा गीतों में ही बसी है। जब दर्शक सिनेमा हॉल से फिल्म देखकर बाहर निकलता है, तब न तो उसे कहानी याद रहती है, न संवाद। याद रह जाता है तो फिल्म का गीत-संगीत।"[1] मनुष्य का जीवन गीत संगीत के बिना अधूरा है, खुशी के क्षणों में भी मनुष्य गीत गुनगुनाता है और दु:ख के क्षणों में भी संगीत उसका मन बहलाता है।

"जिस तरह साहित्य-सिनेमा द्वारा लेखक और निर्देशक पात्रों एवं चरित्रों का गठन कर व्यक्ति के मनोभावों को हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है उसी तरह गीतकार एवं संगीतकार, गीत-संगीत के माध्यम से व्यक्ति, समाज और देश आदि के मनोभावों को अपने गीतों और लोकगीतों में प्रकट करता है।"[2] हिंदी सिनेमा में गीतों की शुरुआत 1931 में आई प्रथम बोलती फिल्म 'आलम आरा' से होती है जिसमें कुल सात गाने थे। पहला गाना था, "दे दे खुदा के नाम पे प्यारे, ताकत है अगर देने की" जिसे वजीर मोहम्मद खान ने गाया था और फिरोजशाह मिस्त्री ने संगीतबद्ध किया था। हिंदी सिनेमा के गीतों में जीवन के विविध रूपों का सुन्दर चित्रण किया गया है, जिसके कई स्वरूप हैं- प्रेम-घृणा, सुख-दु:ख, संस्कृति, व्रत-त्योहार, खान-पान, रहन-सहन, विवाह, रस्म आदि। इस तरह देखा जाए तो हिंदी सिनेमा का गीत वैविध्यपूर्ण रहा है, जिसमें जीवन के विविध पक्षों को इन गीत-संगीतों के माध्यम से उभारने का प्रयास गीतकारों एवं संगीतकारों ने किया है।

गीतों को सामाजिक-राजनीतिक धरातल देने का प्रथम प्रयास संगीतकार अनिल-विश्वास ने किया। फिल्मी गीत-संगीत को नए प्रयोगों से भी जोड़ा। इस सन्दर्भ में फिल्म समीक्षक पंकज राग जी ने लिखा है "अनिल विश्वास पहले फिल्म संगीत निर्देशक थे जिन्होंने सामाजिक-राजनीतिक जागरूकता से प्रेरित गीतों को फिल्मों में स्थान दिया।"[3] मोहम्मद रफी, तलत महमूद जैसे गायकों को भी इन्होंने ही प्रकाश में लाया। पचास और साठ का दशक फिल्म संगीत का स्वर्णकाल था। सन पचास के बाद हिंदी सिनेमा आधुनिक दुनिया की

---

1. शोधार्थी, हिंदी विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना
2. एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना

नवीन तकनीक से रूबरू होता है। देश के कोने-कोने से कलाकार, गीतकार, संगीतकार, लेखक, निर्देशक, निर्माता, जूनियर कलाकार फिल्मों की मायानगरी में कदम रखते हैं। आजादी का नवोल्लास नवीनता की बयार भी लाता है। अब व्यापक परिवर्तन की गूँज भी गीतों से सुनाई देती है। पंकज राग जी लिखते हैं कि "1947 की आजादी अपने साथ ढेरों आशाएँ, सपने और विजयोल्लास लेकर आई। इस नवजात आजादी को नए संगीत की जरूरत थी, मानो संगीत भी अपनी गुलामी की जंजीरें तोड़ रहा हो और एक नए व्यक्तित्व के साथ उभर रहा हो।"[4]

1964 में प्रदर्शित फिल्म 'दोस्ती' से दिव्यांगता आधारित सशक्त फिल्मों की शुरुआत होती है। जितनी भी दिव्यांगता आधारित फिल्में हैं उनके सफल होने में संगीत का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। संगीत लोगों की भावनाओं को, उनकी संवेदनाओं को बहुत हद तक व्यक्त करने में सहायक होता है और इस तरह संगीत लोगों के दिलों को छू जाता है। यदि हम दोस्ती फिल्म की बात करें तो इस फिल्म में जितने भी गीत हैं सभी का पूरी फिल्म की सफलता में विशेष महत्व है। उदाहरणार्थ, फिल्म का पहला गीत -

"जाने वालों जरा मुड़कर देखो मुझे
एक इंसान हूँ मैं तुम्हारी तरह .....
जिसने सबको रचा, अपने ही रूप से
उसकी पहचान हूँ मैं तुम्हारी तरह"......,[5]

इस गीत के बोल अनायास ही लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हैं जिससे हम सहज ही जुड़कर भावुक हो जाते हैं। इसी फिल्म का दूसरा गीत -

राही मनवा दुख की चिंता क्यों सताती है
दु:ख तो अपना साथी है ...
सुख है एक छाँव ढलती, आती है जाती है,[6]

यह गीत प्रत्येक व्यक्ति को अपने दुख-सुख से रूबरू करवाता है एवं दुख में भी सकारात्मक दृष्टिकोण रखने की प्रेरणा देता है। इसी प्रकार इस फिल्म के सभी गाने आज भी लोगों के दिलों में बसे हैं। दोस्ती फिल्म ने लगभग 6 फिल्मफेयर पुरस्कार हासिल किए थे और इसके संगीत के लिए सबसे ज्यादा पुरस्कार इस फिल्म को मिले थे।

अगर हम अन्य फिल्मों की बात करें, मुख्य रूप से ऐसी फिल्में जिसका मुख्य किरदार दिव्यांग हो। उन फिल्मों के गीतों का प्रभाव दर्शकों के दिलों पर अपनी छाप छोड़ने में सक्षम रहा है। गुलजार द्वारा निर्देशित फिल्म 'कोशिश' (1972) में मुख्य नायक एवं नायिका सुन, बोल नहीं सकते एवं उनका मित्र देख नहीं सकता, फिर भी तीनों एक दूसरे के मनोभावों को समझते हैं। ओम शिवपुरी (नारायण) के द्वारा फिल्म में गाया गया गीत लोगों को अनायास ही अपनी ओर आकर्षित करता है। गीत के बोल दर्शक की मनोस्थिति को भावविभोर कर देते हैं। संगीत निर्देशक मदन मोहन कोहली एवं संगीतकार मोहम्मद रफी द्वारा गाई गयी लोरी-

सो जा बाबा मेरे सोजा...
नन्हें बाबा मेरे सो जा ...
होंठ सूनी है बेचारी माँ की
उसकी आँखों में बातें भरी है
मेरी आँखों से ले ले तू निंदीया
मेरी आँखों में रातें भरी हैं ....[7]

इस गीत में एक दृष्टि बाधित दिव्यांग व्यक्ति का अपने मित्र के पुत्र के प्रति प्रेम को चित्रित किया गया है, जिसमें वह नायिका की विवशता को भी बतला रहा है, जो बोल नहीं सकती मगर कहना बहुत कुछ चाहती है, जिससे दर्शक सहज ही जुड़कर भावुक हो जाते हैं।

"अनुराग" (1972) में एक दृष्टिबाधित लड़की की कहानी है जो बिना आँखों के भी सुन्दर मूर्तियाँ बनाती है। इस फिल्म के सभी गीत काफी प्रसिद्ध हुए जिसमें लता मंगेशकर और मोहम्मद रफी द्वारा गाया गया गीत "ओ तेरे नैनों के मैं दीप जलाऊंगा" काफी प्रसिद्ध हुआ। पूरे गीत में नायक, नायिका को अपनी नजरों से दुनिया दिखाना चाहता है परन्तु नायिका स्वयं भी सभी चीजों को महसूस कर पहचान सकती है। जो गीत के अंतिम अंतरे में चित्रित किया गया है-

"ऐसी भी अनजान नहीं मैं अब सजना
बिन देखे मुझको दीखता है सब सजना
अच्छा ?
तो वो क्या है, वो सागर है
उस सागर में, इक नैया है
अरे तूने कैसे जान लिया
मन की आँखों से नाम लिया"[8]

इस प्रकार बिना देखे भी नायिका सागर की गहराई को मन की आँखों से पहचान कर महसूस कर सकती है। इस गीत का सुन्दर दृश्य लोगों को बांधकर रखता है। वहीं इसी फिल्म का दूसरा गीत 'सुन री पवन' में नायिका प्रकृति को अपनी साथी बनाकर हवा से अपनी साथी बनाने की इच्छा व्यक्त करती है -

"कोई तो हो ऐसे पूछे बात जो, गिरू तो पकड़ लेवे हाथ जो
हँसे रोये सदा मेरे साथ जो, सोए जागे संग दिन रात जो
ऐसे हो मिलन, जैसे धुप छाया
मैं हूँ अकेली अलबेली, तू सहेली बन जा साथिया
सुन री पवन, पवन पुरवैया"[9]

इसी प्रकार इस फिल्म के सभी गाने काफी चर्चित हुए और 1973 का फिल्मफेयर, सर्वश्रेठ फिल्म पुरस्कार इस फिल्म को मिला।

कभी-कभी फिल्मों में गीतों का संयोजन कथा-विस्तार के लिए किया जाता है परन्तु ये संयोजन कैसे हमारे जीवन के साथ जुड़ जाता है ये हम खुद नहीं समझ पाते। 'नाचे मयूरी'(1986) फिल्म का संगीत एक तरफ मयूरी की विवशता को दर्शाता है तो दूसरी तरफ उसकी दृढ़ इच्छाशक्ति एवं नृत्य के प्रति समर्पण को दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत करता है। लता मंगेशकर जी की आवाज में यह गाना न सिर्फ एक कहानी बताता है बल्कि जीवन की सच्चायिओं को भी सामने लाता है,

"साधना आराधना मेरी रह गई अधूरी ....

....

तन घायल मन मेरा घायल
तूने तोड़ी मेरी पायल
फिर भी जीवन भर नाचूंगी,
छम-छम रो-रो नाचूंगी

गिर जाऊँगी पर नाचूँगी
मर जाऊँगी पर नाचूँगी
मैं एक पांव पर नाचूँगी"[10]

दुर्घटना में एक पैर गंवाने के बाद भी नायिका का अपने लक्ष्य के प्रति एकनिष्ठ भाव एक सक्षम व्यक्ति को भी प्रेरित करता है जो अपने जीवन की छोटी-छोटी बाधाओं से भी हार मान लेते हैं। यह गीत दर्शकों की भावनाओं की गहराई तक पहुँचता है।

इस प्रकार हिंदी सिनेमा के अंतर्गत जितनी भी फिल्में बनी हैं उनमें संगीत का जादू चलता रहा है। नयी फिल्में जो दिव्यांगता आधारित हैं उनमे 'ब्लैक'(2005) की एक अलग पहचान है। यह फिल्म 2005 की सफलतम फिल्मों में से एक थी। इसकी कहानी प्रसिद्ध लेखिका 'हेलेन केलर' की सच्ची कहानी पर आधारित है। नायिका श्रवण बाधित, दृष्टिबाधित एवं बोलने में अक्षम है। पूरी फिल्म की कहानी को एक सूत्र में बाँधने एवं भावनाओं को दर्शकों तक पहुँचाने के लिए फिल्म में कुल 23 'साउंडट्रैक' हैं परन्तु गीत केवल एक ही है, "हाँ मैंने छूकर देखा है"। यह नायिका की भावना है जो अलग-अलग चीजों को छूकर महसूस करती है, जैसे बहता पानी, मौसम में हवा आदि को लेकर संगीतबद्ध किया गया है। संगीतकार 'मोंटी शर्मा' ने नायिका के भीतर की भावनाओं को पहचान कर उन भावनाओं को 'वाद्य संगीत' के माध्यम से भावनात्मक सच्चाई को दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। 'प्लेनेट बॉलीवुड' की समीक्षक 'श्रुति भसीन' ने भी संगीत की प्रशंसा की और कहा कि "फिल्म में संगीत कथा के साथ इतनी सहजता से विलीन हो गया कि यहाँ ठोस सामग्री के बीच किसी का ध्यान नहीं गया।"[11]

'तारे जमीन पर' (2007) की सफलता से हर कोई परिचित है। यह फिल्म मनोवैज्ञानिक ड्रामा फिल्म है जिसमें ऐसे बच्चे की कहानी बयां की गई है जो 'डिस्लेक्सिया' से पीड़ित है। यह मुख्य रूप से 'विशिष्ट अधिगम अक्षमता' से सम्बंधित है जिसमें बच्चे को पढ़ने और लिखने में दिक्कत होती है, वह नए शब्द धीरे-धीरे सीखता और बोलता है। विद्यालय के नए कला शिक्षक के द्वारा 'ईशान' को संगीत के माध्यम से चीजों को समझाने का प्रयास किया जाता है। गीत के बोल हैं,

"देखो-देखो, क्या वो पेड़ है ?
चादर ओढ़े या खड़ा कोई ?
बारिश है या आसमान ने
छोड़ दिए हैं नल खुले कहीं
हो, हम जैसे देखें, ये जहाँ है वैसा ही
जैसी नजर अपनी
खुल के सोचें आओ
पंख जरा फैलाओ, रंग नए विखराओ"[12]

इस गीत के माध्यम से बच्चों की सोचने की क्षमता को बंधन मुक्त कर नए आयाम विकसित करने की बात की गई है। इसी प्रकार इस फिल्म के अन्य गीत जैसे 'जमे रहो' 'भेजा कुम' 'खोलो खोलो' आदि गीत एक विशेष बच्चे की मनोभावना को ध्यान में रखकर संगीतबद्ध किए गये हैं जिसमें बच्चे की समस्या का सरल समाधान करने की कोशिश की गई है। 'माँ' गीत के लिए शंकर महादेवन को सर्वश्रेष्ठ पुरुष पार्श्वगायक का राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार मिला। यह गीत उन बच्चों के लिए है जो अपने आप को अकेला महसूस करते हैं। हर बच्चा अलग होता है, उनकी क्षमताओं को समझकर उनका समर्थन करना जरूरी है क्योंकि प्यार और समर्थन

से हर मुश्किल आसन हो सकती है। गाने में माँ का प्यार और समर्थन दिखाया गया है, जो बच्चों को अकेलेपन से बाहर निकालने में मदद करता है। फिल्म का संगीत दर्शकों को भावनात्मक रूप से बाँध कर रखता है।

दिव्यांगता आधारित फिल्मों में 'अनुराग बसु' द्वारा निर्देशित 'बर्फी' (2012) का भी विशिष्ठ स्थान है। यह फिल्म मूक-बधिर व्यक्ति मर्फी (बर्फी) एवं औटिस्म से पीड़ित महिला के संबंधों पर आधारित है। बर्फी एक अतरंगी नायक है जो अपनी खुराफातियों से हर किसी के दिल में उतरने की क्षमता रखता है। इस फिल्म के सभी गीत बर्फी के किरदार को समझने में दर्शकों की सहायता करते हैं। सभी गीत हर परिस्थिती में बर्फी की सकारात्मक सोच को चित्रित करते हैं। 'कोइमोई' ने एल्बम के बारे में लिखा है, "सरल शब्दों में बर्फी! का सबसे उत्कृष्ट संगीत है। बहुत कम ही ऐसा एल्बम होता है जहाँ आप बिना किसी गाने को छोड़े एल्बम के सारे गाने सुन सकते हैं। अतः बस सुनते जाओ और संगीत का आनंद ले बर्फी! की दुनिया जीते जाओ।"[13] 58वें फिल्मफेयर पुरस्कारों में इस फिल्म के लिए प्रीतम को सर्वश्रेष्ठ संगीत निर्देशक का पुरस्कार मिला। प्रीतम का संगीत इस फिल्म की जान है जो कहानी के जज्बात को और गहरा बनाता है। 'आला बर्फो' एक अनोखा ट्रैक है जिसमें गाने की शुरुआत और अंत एक खूबसूरत सीटी के साथ होता है। इस गाने का दूसरा अंतरा बेहतरीन है जो दर्शकों को बर्फी की दिव्यांगता से सहजता से परिचित करवाता है,

बाबा ने सिलोन वाला स्टेशन लगाया
रेडिओ ऑन हुआ, अम्मा ऑफ हुई
टूटा हर सपना,
ओह, ये मुन्ना म्यूट ही आँसू बहाए
मुन्ना झुनझुना सुन भी न पाए ।

....
रातों का है ये उजाला बर्फी
गुमसुम गुमसुम ही मचाये ये तो उत्पात .....[14]

इस फिल्म के सभी गीत आनंददायक, बेहद मधुर एवं दिल को छू लेने वाला है। यह फिल्म आपको ध्वनियों और मौन की अपनी दुनिया में डुबो देता है और बिना शर्त प्यार की जादुई दुनिया को संवेदनशीलता से बुनता है। फिल्म का संगीत खामोशियों को सहारा देता है।

विकलांगता अधिनियम में बदलाव के बाद दिव्यांगजन अधिकार अधिनियम 2016 के अनुसार 21 प्रकार की दिव्यांगताओं को विनिर्दिष्ट किया गया है, जिसके अंतर्गत 'एसिड हमले से पीड़ित व्यक्ति' को भी दिव्यांग की श्रेणी में रखा गया है। हिंदी सिनेमा ने इस व्यापकता को स्वीकार करते हुए एसिड हमले से पीड़ित महिला 'लक्ष्मी अग्रवाल' की जीवनी पर आधारित फिल्म 'छपाक' (2020) बनाई जो इस दिव्यांगता की गहराई से पहचान कराती है। इस फिल्म का शीर्षक गीत दर्शकों को संवेदना के साथ जोड़ता है एवं एक झटके से किसी की पहचान क्यों छीन ली जाती है ? इस पर प्रश्न चिह्न लगाता नजर आता है। गाने का अंतिम अंतरा पीड़ित की बेबशी एवं एसिड अटैक उसके जीवन को किस गहराई तक प्रभावित करता है यह दर्शाता है-

एक चेहरा गिरा, जैसे मोहरा गिरा
जैसे धूप को ग्रहण लग गया
छपाक से पहचान ले गया
आरजू थी, शौक थे वो सारे हट गए
कितने सारे जीने के तागे कट गए

सब झुलस गया ....[15]

इस गाने में एसिड हमलों के क्रूर परिणामों का यथार्थवादी चित्रण किया गया है। यह गीत पीड़ित के दर्द और संघर्ष को बयां करता है। पूरा गीत इसी पर आधारित है कि किस तरह एक पल में, एक छीटें में जीवन हमेशा के लिए बदल जाता है। इस गाने के लिए गुलजार को सर्वश्रेष्ठ गीतकार का फिल्मफेयर पुरस्कार भी मिला।

इस तरह हिंदी सिनेमा में गीतों की अहम भूमिका थी, है और हमेशा रहेगी। चाहे पूरा संगीत हो या भावनाओं को व्यक्त करने के लिए वाद्य-संगीत का प्रयोग या दर्शकों को भावनाओं से अवगत कराने के लिए बैकग्राउंड संगीत, किसी न किसी तरह से संगीत सिनेमा का अभिन्न अंग बना रहा है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि संगीत सिनेमा की जान होती है। संगीत के बिना फिल्में बन तो जाती हैं मगर कुछ फिल्मों का महत्व गीतों के कारण होता है। इस प्रकार इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि गीतों का भी अपना अलग महत्व होता है एवं दिव्यांगता आधारित फिल्मों में गीत ही दिव्यांग व्यक्ति की संवेदनाओं को सशक्त रूप से व्यक्त करने का माध्यम बनते हैं और दर्शकों को चित्रित पात्र की संवेदना एवं जज्बात से जोड़ पाते हैं।

सन्दर्भ :

1. महेश सिंह (संपा.), "हिंदी सिनेमा के गीतों के मूल्यांकन का प्रश्न", परिवर्तन, वर्ष 1, अंक 3, (जुलाई-सितम्बर-2016), पृ. 58
2. ज्ञानबती कुमारी साह, "हिंदी सिनेमा के गीतीं में जीवन के विविध रूप", पूर्वोत्तर प्रभा, वर्ष-2, अंक 1, (जनवरी-जून 2022), पृ. 66
3. पंकज राग, "हिंदी समाज और फिल्म संगीत", हंस (सिनेमा विशेषांक), फरवरी 2013, पृ. 185
4. वही, पृ. 189
5. दोस्ती, निर्देशक : सत्येन बोस, 1964.
6. दोस्ती, निर्देशक : सत्येन बोस, 1964.
7. कोशिश, निर्देशक : गुलजार, 1972.
8. अनुराग, निर्देशक : शक्ति सामंत, 1972.
9. अनुराग, निर्देशक : शक्ति सामंत, 1972.
10. नाचे मयूरी, निर्देशक : टी रमा राव, 1986.
11. https://en.m.wikipedia.org/wiki/Black_(2005_film)
12. तारे जमीन पर, निर्देशक : आमीर खान, 2007.
13. https://www.koimoi.com/bollywood-movies/music-reviews/barfi-music-review/
14. बर्फी, निर्देशक : अनुराग बासु, 2012.
15. छपाक, निर्देशक : मेघना गुलजार, 2020.

❖❖❖

आलेख

भारतीय स्त्री और उसकी शिक्षा

❍ के. शक्तिराज*

"विद्या बिना मति गयी, मति बिना नीति गयी।
नीति बिना गति गयी, गति बिना वित्त गया।
वित्त बिना शूद्र गये, इतने सभी अनर्थ एक अविद्या ने किये।।"[1]

प्राचीन भारतीय समाज संकुचित दायरे वाला बंद समाज था। वह घोर अंधविश्वासों, परंपराओं, रूढ़ियों, जाती-पाँति व छुआछूत के भेद-भाव से बुरी तरह से ग्रस्त था। इस समाज में स्त्रियों की दशा पशुओं से भी बदतर थी। ज्ञान-विज्ञान और तर्क-वितर्क की चेतनामय रोशनी से यह समाज कोसों दूर था। चूँकि समय और समाज गतिशील होते हैं इसलिए उसमें विस्फोटक परिवर्तन होना सहज है। आवश्यकता और आविष्कार दोनों एक दूसरे के पूरक होते हैं। अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप आविष्कार करते हुए समाज परिवर्तन की मशाल अपने हाथों में लिए अंधकार से उजाले की ओर चल पड़ता है। परिवर्तन के इस उजाले में उस समाज को अच्छे और बुरे का सम्यक ज्ञान मिलने लगता है। यह परिवर्तन शिक्षा के कारण ही संभव होता है। शिक्षा के द्वारा ज्ञान-विज्ञान की बातों को आत्मसात कर मनुष्य समाज में बदलाव ला रहा है। ऐसे में धार्मिक कठमुल्लापन और तथाकथित 'देव वाणियों' ने चेतनामय समाज में रोड़े अड़ाये नजर आते हैं। शायद इसीलिए आज का यह विकसित समाज अविकसित-सा नजर आता है।

भारतीय समाज व्यवस्था में शिक्षा प्राप्त करने व कराने का अधिकार उन्हीं तथाकथित भद्र लोगों को था जिनका जन्म हिन्दू पुराणों के एक कल्पित पात्र 'ब्रह्मा' के मुख से हुआ ऐसा माना जाता है। (विज्ञान ने एवं तर्क-वितर्क ने इस बात को पूरी तरह जड़ से खारिज करते हुए स्पष्ट कर दिया कि मनुष्य का जन्म न तो किसी के आशीर्वाद से होता है और न ही किसी के मुख से या पैर से।) ऐसे समाज में स्त्री का स्थान न के बराबर था। उसे तो केवल 'ताड़न का अधिकारी' मात्र माना जाता रहा। ऐसे कई भयंकर व घृणास्पद सामाजिक, धार्मिक प्रथाओं के चलते भारतीय स्त्री सदैव अपमानित होती रही। लेकिन स्त्री-पुरुष समानता के विचार रखने वाले कई समाजसुधारकों एवं महानुभावों द्वारा चलाये गए सुधारवादी आंदोलनों के फलस्वरूप स्त्री में चेतना आने लगी।

अध्यापक, टी. जी. टी. हिंदी, तेलंगाना स्टेट मॉडेल स्कूल - जूनियर कॉलेज, येल्लारेड्डी (मंडल), कामारेड्डी (जिला), 503122. तेलंगाना राज्य। मो. 8978793338.

शिक्षा के महत्व को वह भी पहचानने लगी। इस सुधार को भारतीय समाज के विशेषकर स्त्री के नव-निर्माण का काल कहा जाना चाहिए। 19वीं शताब्दी में भारतीय समाज के पुनर्जागरण के तहत यहाँ के सड़े-गले धार्मिक विचारों के स्थान पर तार्किक विचारों को अपनाया जाने लगा। स्त्री को पढ़ाने-लिखाने से समाज का हित ही होगा अहित नहीं, इस तथ्य को लोग समझने लगे। स्त्री-शिक्षा और उसके महत्व की ओर संकेत करते हुए महात्मा जोतिराव फुले ने कहा है- "मुझे ऐसा लगता है कि बच्चे में जो संस्कार माता की वजह से आता है वह बहुत ही महत्वपूर्ण और अच्छा होता है। इसलिए जो लोग देश की सुख-समृद्धि के लिए चिंतित हैं, उन्हें महिलाओं की दशा पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए और यदि वे वास्तव में चाहते हैं कि देश प्रगति करे तो उन्हें महिलाओं को ज्ञान प्रदान कराने का हर संभव प्रयास करना चाहिए।"[2]

भारत जैसे पुरुष प्रधान समाज में स्त्री शिक्षा को लेकर बहुत सी चर्चा-परिचर्चाएँ समय समय पर होती रहती हैं। पर धार्मिकता की आड़ लेकर उसे (स्त्री को) चार दीवारों में ही कैद कर रखने का प्रयास किया गया। ऐसा अधिकतर शिक्षित समाज के लोगों द्वारा ही किया जाता रहा। ऐसे घिनौने प्रयास वर्तमान समय में ही नहीं बल्कि स्त्री की शिक्षा के प्रति इस तरह की संकुचित धारणा बहुत पहले से मौजूद थी। इस बात को महावीर प्रसाद द्विवेदी जी का कथन और पुख्ता बना देता है। वे 'स्त्री-शिक्षा के विरोधी कुतर्कों का खंडन' नामक लेख में लिखते हैं- "बड़े शोक की बात है, आजकल भी ऐसे लोग विद्यमान हैं जो स्त्रियों को पढ़ाना उनके और गृह-सुख के नाश का कारण समझते हैं। और, लोग भी ऐसे-वैसे नहीं, सुशिक्षित लोग- ऐसे लोग जिन्होंने बड़े-बड़े स्कूलों और शायद कालेजों में भी शिक्षा पाई है, जो धर्म-शास्त्र और संस्कृत के ग्रन्थ साहित्य से परिचय रखते हैं, और जिनका पेशा कुशिक्षितों को सुशिक्षित करना, कुमार्गगामियों को सुमार्गगामी बनाना और अधार्मिकों को धर्मतत्व समझाना है।"[3] एक ओर कर्तव्यदक्ष स्त्री के करुणामयी रूप की चर्चा की जाती रही, उसे दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती आदि संज्ञाओं से संबोधित कर पूजनीय माना जाता रहा तो दूसरी ओर उसे "स्त्रियों के लिए कर्तव्यशिक्षा"[4] जैसे फतवे जारी किये जाते रहे।

स्त्रियों की शिक्षा के विरोध में कई प्रकार की बाधाओं को देखा गया। फिर भी परिवर्तन की लहर को कोई रोक नहीं पाया। आज स्त्री के जिस स्वरूप को संसार देख रहा है वह रातों-रात उमड़ी कोई 'आकस्मिक बिजली की कौंध नहीं' बल्कि इस स्वरूप को प्राप्त करने में स्त्री को कई पड़ावों से गुजरना पड़ा है। कई महान समाजसुधारकों के आदर्शों को अपने सामने रखकर वह अपनी राह खुद बनाती गयी। वैसे तो "उपनिषद् काल से ही गार्गी, मैत्रेयी जैसे स्वतंत्र चेता स्त्रियों का हमें परिचय मिलता है।"[5] इसी क्रम में आंडाल, अक्कमहादेवी, मुक्ताबाई, अहल्याबाई होळकर और मीराबाई जैसे अनेक नामों को लिया जा सकता है जिन्होंने तत्कालीन स्त्री अस्मिता से संबंधित अवर्णनीय तथा दयनीय परिस्थितियों से जूझते हुए स्त्रियों की दिशा व दशा में ऐतिहासिक एवं मौलिक परिवर्तन लाने में नींव का पत्थर बनीं।

भारत में स्त्री की दयनीय परिस्थितियों पर वास्तविक रूप से विचार 19 वीं शताब्दी से शुरू होता है। इस काल को 'सुधारवादी जीवन-दर्शन काल' और 'नवजागरण काल' के नाम से संबोधित किया जाता रहा। इस काल में राजा राममोहन राय का नाम विशेष रूप से लिया जाता रहा है। इन्होंने विधवाओं की स्थिति पर आवाज बुलंद की थी। इस प्रकार देखा जाय तो स्त्री के सन्दर्भ में भारतीय समाज में बहुत पहले से चेतना निर्मित हो रही थी। आज स्त्री चिंतन का जो रूप उभरा है वह ष्भारत की प्रबुद्ध नारियों और विचारकों के चिंतन की उपज है...।"[6]

भारत में स्त्री चिंतन पर बात करते समय जॉन स्टुवर्ट मिल की चर्चा बड़े आदर से की जाती है। 'स्त्री पराधीनता' के माध्यम से उन्होंने स्त्री के सन्दर्भ में अपनी बात रखने का प्रयास किया था। मिल ने भारतीय

स्त्री विमर्शकों से जितनी प्रशंसा पायी है शायद ही वे अन्य किसी देशवासियों से पायी होगी। आज मिल भारतीय स्त्री विमर्श के केंद्रबिंदु-से बन गए हैं। संभवत: यही कारण रहा होगा कि स्त्री विमर्श को पश्चिम से आयातित माना जाता है। लेकिन उक्त तर्क को बहुत ही सरल रूप से खारिज कर दिया गया है। श्री आर.एन. समद्दन के अनुसार, "जिस समय 'स्त्री पराधीनता' के लेखक जे.एस. मिल अपनी बाल्यावस्था में थे उस समय समाज में नारी की भूमिका के विषय में अधुनातन विचार भारत में राममोहन राय ने प्रस्तुत किया था।"[7]

19वीं सदी में स्त्री शिक्षा की आवश्यकता को समाज के सभी तबकों के लोगों ने विशेष कर स्त्रियों ने पहचान लिया। फलत: अमीर-गरीब, ऊंच-नीच आदि का भेदभाव मिटाकर स्त्रियाँ शिक्षित होने की आस लगा बैठीं। लेकिन स्त्रियों की शिक्षा के कार्य को भारतीय समाज में सरलता से पूर्णरूप नहीं दिया जा सका। पग पग पर इसका विरोध किया जाने लगा। जो लोग स्त्रियों के लिए शिक्षा प्रदान करने की सोच रखकर कार्य कर रहे थे उन्हें उन्हीं के घर से बेदखल कर दिया जाता। फिर भी कुछ महान हस्तियाँ अपने जीवन के लक्ष्य के प्रति इतने कर्मठ होते हैं कि उन्हें संसार की कोई भी ताकत नहीं रोक सकती। ऐसे ही एक महान समाजसुधारक भारतीय समाज में हुए हैं। वास्तव में देखा जाय तो स्त्री संबंधी किसी भी पहलू पर बात करते समय, विशेषकर स्त्रियों की शिक्षा के सन्दर्भ में बात करते समय, उनका स्मरण किया जाना चाहिए। पर शोकांतिका यह कि उन्हें भी अछूत ही समझकर हाशिये पर छोड़ दिया जाता है। वे हैं- महात्मा जोतिबा फुले और उनकी पत्नी सावित्री बाई फुले। इन्होंने अपने घर परिवार की चिंता छोड़ समाज में व्याप्त अन्धविश्वास, स्त्री-पुरुष असमानता, स्त्री शिक्षा, विधवा पुनर्विवाह, छुआछूत, किसानों की समस्याएँ ऐसी कई बुराईयों के खिलाफ जंग छेड़ दिया। क्रांतिसूर्य जोतिबा फुले और सावित्रीबाई फुले ने "3 जुलाई, 1847 में बुधवार पेठ में रहनेवाले अण्णासाहेब चिपलूणकर के विशाल भवन में केवल लड़कियों के लिए एक स्कूल खोल दिया। जोतिबा ऐसे पहले भारतीय थे जिन्होंने केवल लड़कियों की पढाई के लिए स्वतंत्र स्कूल खोलने की दूरदर्शिता दिखायी।"[8] स्त्रियों की पढाई-लिखाई के लिए योजनाएँ तो कइयों ने बनाईं, नियम आदि भी कइयों ने बनाये, लंबी-चौड़ी रचनाएँ भी लिखे पर क्रियान्वयन बहुत कम लोगों ने किया। जिन्होंने भी इस महान कार्य को कई कठिनाईयों के बावजूद भी सफलतापूर्वक संपन्न किया आज उनका आदर्श लेना तो बहुत दूर उनका स्मरण तक नहीं किया जाता। इसे भारतीय समाज की विडम्बना ही कही जा सकती है। भारतीय बुद्धिजीवियों में कई लोग पहले तो अपने आपको स्त्रियों के पक्ष में खड़े करते हैं। बाद में अपना सुर उसके विरोध में सुनाने लगते हैं। उदहारण स्वरूप महावीर प्रसाद द्विवेदी को ही लें। पहले वे स्त्रियों को शिक्षित करने से रोकनेवालों को फटकार लगाते हैं। (जैसे कि इसी लेख के सन्दर्भ 3 में उल्लेख किया गया है) लेकिन 'मनु महाराज' की देववाणी के खिलाफ जाने की द्विवेदी जी में उतनी हिम्मत ही कहाँ? अत: वे बड़ी चतुराई से अपनी बात को बदलकर दूसरी पद्धति से प्रस्तुत करते हैं। वे 'स्त्रियों का सामाजिक जीवन' नामक लेख में लिखते हैं- "स्त्रियाँ स्वभाव ही से सुकुमार होती हैं। वे स्वभाव ही से दुर्बल होती हैं। उनकी शारीरिक शक्ति पुरुषों की अपेक्षा बहुत कम होती है। वे अपनी रक्षा आप नहीं कर सकतीं। इस दशा में यदि धर्मशास्त्र ने उन्हें पिता, पुत्र या पति के वश में रहने का नियम कर दिया तो क्या गजब किया?"[9] जहाँ स्त्री को अपने पैरों पर खड़े होकर स्वावलंबी व शक्तिशाली बनाने की पहल की जा रही थी वहीं द्विवेदी जी स्त्री को दुर्बल एवं शक्तिहीन होने का भोंडा तर्क देते हैं। लेकिन अब परिस्थितियाँ बदल रही हैं। स्त्रियाँ शिक्षित होने के कारण अब वे सवाल करने लगी हैं। अपने स्वतंत्र होने की बात व अपने अधिकारों की बात भी करने लगी हैं। किसीने बिल्कुल ठीक ही कहा है कि 'शिक्षा शेरनी के दूध के समान है, जो इसे पियेगा वह दहाड़े बिना नहीं रह सकता।' स्त्री चिंतन का वर्तमान परिदृश्य इसका जीता-जागता उदाहरण है। ऐसा केवल स्त्रियों के शिक्षित होने के कारण संभव हुआ है इसमें दो राय नहीं।

संवैधानिक प्रावधानों ने भी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है इस बात को नकारा नहीं जा सकता।

भारत में बहुत पहले से सामंती व्यवस्था अपने चरम सीमा पर रही। आज वैश्वीकरण के दौर में भी इसी तरह के व्यवस्था को देखा जा सकता है। उसका स्वरूप बदला हुआ है। आज उसे 'पूँजीवाद' के नामसे पहचाना जा रहा है। "पूँजी के नग्नतम और क्रूर हाथों से जिन दो समूहों को सबसे ज्यादा तबाही का सामना करना पड़ रहा है उनमें पहले स्त्रियाँ हैं और दूसरे नंबर पर मजदूर वर्ग हैं।"[10] इससे यह अंदाजा लगाया जा सकता है कि स्त्री की हालत भी कुछ दलितों जैसे ही या दलितों से भी खराब है। सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक अंधविश्वासों वाले भारतीय समाज मे रातों-रात बदलाव लाना आसान काम नहीं था। शायद इसीलिए रामविलास शर्मा जी लिखते हैं कि "सामंती समाज-व्यवस्था को बदलना सबसे मुश्किल काम है, सामाजिक कुरीतियों को मिटाना बहुत कठिन है, धार्मिक अंधविश्वासों का निर्मूलन करना दुष्कर है। भारत में सामंती व्यवस्था बहुत पुरानी है, शायद दुनिया में सबसे ज्यादा पुरानी है, उतना ही भारतीय जनता के मन में उसकी जड़ें गहरी हैं।"[11] उक्त कथन में रामविलास शर्मा जी सामंती समाज-व्यवस्था को खत्म करने की चिंता प्रकट करते नजर आते हैं। वे समाज-व्यवस्था में उपस्थित उन अमानवीय मूल्यों और रूढ़ियों की अपने अंतर्विरोधों के चलते आलोचना भी करते हैं, जो स्त्री-पुरुषों के बीच भेदभाव की दीवार खड़ी करते हैं।

पंडिता रमाबाई, श्रीनारायण गुरु, पेरियार रामस्वामी नायकर, डॉ. भीमराव अंबेडकर आदि ने स्त्री शिक्षा के सन्दर्भ में बहुत बड़ा योगदान दिया। वैसे देखा जाय तो ष्भारत मैं स्त्री-आंदोलन की वास्तविक शुरुआत 19 वीं सदी के आखिरी दशकों में हुई, जब पंडिता रमाबाई, रमाबाई रानाडे, आनंदीबाई जोशी, फानना सारोबजी और रुक्मा बाई जैसी स्त्रियाँ अपने घरों में पुरुष-प्रधान समाज द्वारा थोपे गए बंधनों को तोड़कर उच्च शिक्षा के लिए विदेश गई।"[12]

यह सच है कि प्राचीन काल से ही स्त्रियों को शिक्षा के क्षेत्र से बेदखल करने की कूटनीति शुरू हुई थी। इसमें धार्मिक ग्रंथों ने बड़ी अहम भूमिका निभाई। फिर भी इस कूटनीति को धत्ता बताते हुए आंडाल एवं मीराबाई जैसी साहसी साध्वी स्त्रियों ने न केवल पुरुषवादी मानसिकता पर प्रहार किया बल्कि अपनी निजता के अनुरूप जीवनयापन कर स्त्री-चेतना की जागृति की पहल की। ऐसे ही कई महानुभावों के नक्शे कदम पर चलते हुए स्त्री ने अपने स्वतंत्र अस्तित्व को मनचाहा रूप प्रदान किया। इससे भी आगे बढ़कर बदलते सामाजिक परिवेश में शिक्षा के महत्त्व को पहचाना। आज वह कई चुनौतियों का सामना दृढ़तापूर्वक करते हुए अपने जीवन की भाग्यविधाता स्वत: को मान रही है। ऐसा केवल शिक्षा प्राप्त करने व सुशिक्षित होने के चलते ही संभव हो पाया है। अत: भारतीय समाज के लोगों को चाहिए कि वे स्त्रियों की शिक्षा के सन्दर्भ में किसी भी प्रकार के बंधनों को न लगाएँ। जिस प्रकार लड़कों पर विश्वास कर के उन्हें शिक्षित किया जाता है उसी प्रकार लड़कियों पर भी विश्वास कर के उन्हें भी अच्छी शिक्षा प्रदान करानी चाहिए जिससे वे चेतनावान व आत्मनिर्भर बन सकें। अन्यथा जैसे कि इस लेख के शुरुआत में ही कहा गया है - 'बिना विद्या के मति, गति, वित्त, सब कुछ चला जाता है', ऐसा कभी होने नहीं देना चाहिए। क्योंकि आज जिस सम्यक ज्ञान के आधार पर समाज उन्नति कर रहा है उस ज्ञान को समाज के सभी तबकों के लोगों तक, खास कर स्त्रियों तक, पहुँचाना चाहिए। ऐसा न होने के पक्ष में उस ज्ञान का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। इसीलिए शायद राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने कहा भी है कि- "विद्या हमारी भी न तब तक/ काम में कुछ आएगी/ अर्धांगिनियों को भी सुशिक्षा/ दी न जब तक जायेगी।"[13]

सन्दर्भ :

1. धनंजय कीर, महात्मा जोतीराव फुले आमच्या समाजक्रांती चे जनक (मराठी), पॉप्युलर प्रकाशन प्रा. लि. मुंबई,

तीसरा पुनर्मुद्रण-2008, पृ. 206 पर उद्धृत
2. प्रो. हरी नारके, ज्ञानज्योति सावित्रीबाई फुले-भाग एक अंतरजाल hindiroundtableindia.co.in से उद्धृत
3. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-अस्मिता साहित्य और विचारधारा, आनंद प्रकाशन, कोलकाता, प्रथम संस्करण सन 2004, पृ. 42 से उद्धृत
4. जयदयाल गोयंदका द्वारा लिखित 'स्त्रियों के लिए कर्तव्यशिक्षा' नामक पुस्तक गीता प्रेस गोरखपुर (यू.पी.) से प्रकाशित है। इस पुस्तक को अपने एक लेख में क्षमा शर्मा 'मनुवादी तालिबानों का घोषणा-पत्र' संबोधित करती हैं।
5. डॉ. के. यम. मालती, स्त्री विमर्श: भारतीय परिप्रेक्ष्य, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, आवृत्ति-2012, पृ. 9
6. वही, भूमिका से
7. वही, पृ. 27 से उद्धृत
8. वही, पृ. 34
9. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-अस्मिता साहित्य और विचारधारा, आनंद प्रकाशन, कोलकाता, प्रथम संस्करण सन 2004, पृ. 48 से उद्धृत
10. वही, भूमिका से, पृ. 7
11. नैना, हिंदी नवजागरण और स्त्री-लेखन, वागर्थ, भारतीय भाषा परिषद, कोलकाता, नवंबर 2012, अंक 208, पृ. 70 से उद्धृत
12. वही, पृ. 63
13. डॉ. भारती स्मित, स्त्री विमर्श और प्रेमचंद, गगनांचल, प्रेमचंद विशेषांक, भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद, नयी दिल्ली, सितंबर-अक्तूबर 2014, पृ. क्र. 18 से उद्धृत

❑❑❑

आलेख

नदी घाटी के किनारे सभ्यताओं का उदय और विकास

○ राजेश कुमार यादव*

मनुष्य पहले जंगलों में रहता था। वह असभ्य जैसा जीवन व्यतीत करता था। उसकी आवश्यकताएँ अत्यन्त सीमित थीं, वह स्वयं उनकी पूर्ति कर लेता था। पशुओं से उसका साहचर्य था। उसके पास जीवन से सम्बन्धित समस्याएँ नहीं थीं। जैसे-जैसे जनसंख्या का विकास हुआ, सामाजीकरण बढ़ा एवं आवश्यकताएँ बढ़ीं। उसे विकसित साधनों की आवश्यकता हुई। वह जंगलों से चला, पहाड़ों से नीचे उतरा गाँवों में, फिर नगरों में रहने लगा। यहाँ वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में नयी-नयी खोजों की ओर अग्रसर हुआ, इसलिए उसे विकास के लिए भटकना पड़ा। इसी भूल तथा सुधार में वह क्रमशः विकास करता रहा और नदियों के किनारों को अपना आधार बनाया जो आगे चलकर वह सभ्य मानव के साथ विकसित सभ्यता के निर्माण का जनक बना।

ऐसा भी नहीं है कि सभी लोग नदी घटियों के किनारे ही बसे हों, और जो नदी घाटी-में नहीं बसे वे असभ्य ही रहे हो, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है। एक लम्बे समय तक मिश्र में सभ्यता का अस्तित्व पाते हैं। इसी प्रकार मेसोपोटामियाँ की, भारत में सिन्धु सभ्यता तथा चीन में चीनी सभ्यता। इतना लम्बा काल दूसरी समकालीन सभ्यताओं का नहीं है। इसके बारे में कहा जाता है कि उपर्युक्त वातावरण और समुचित साधन क्यों सुलभ हो सका, बाकी को क्यों नहीं। इसके उत्तर में यह भी कहा जाता है कि यहाँ नील, दजला, फरात, सिन्धु, ह्वाँगहों एवं यांग-टीसी-क्यांग का किनारा। तब एक प्रश्न यह भी उभरता है कि इन विकसित नदी घाटियों में क्या विशेषताएँ थीं कि एशिया की सारी प्राचीन सभ्यताएँ यहीं बसी थीं; जबकि विस्तृत मैदान, समुद्र का किनारा, पर्वत घाटियाँ आदि सभी स्थान उपलब्ध थे, फिर भी उन सभी तथ्यों पर विचार करना होगा जो नदी घाटी में सभ्यताओं के उदय और विकास के लिए महत्वपूर्ण थे। वही दूसरी तरफ विश्व को अन्य सभ्यताएँ जैसे हिट्टाइट, हिब्रू, एजियन, फिनीशियन आदि सभ्यताओं का एकांगी विकास हुआ, जबकि नील घाटी, सिन्धुघाटी तथा दजलफरात घाटी का सम्पूर्ण विकास संभव हुआ।

इस प्रकार एशिया की सभी पुरातन सभ्यताएँ नदी घाटियों की ही देन है। यदि नदी घाटी न होती तो सम्भवतः इन सभ्यताओं का यह रूप नहीं दिखायी पड़ता। मिस्र की सभ्यता के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह नील नदी की देन हैं। इस सम्बन्ध में कई तथ्य सामने आते हैं-

मानव की सबसे बड़ी विशेषता उसकी बढ़ती जनसंखा है। जनसंख्या मानव सभ्यता को हमेशा प्रभावित

✡ *असिस्टेंट प्रोफेसर (प्राचीन इतिहास), राजकीय महाविद्यालय, हसौर, बाराबंकी (उ.प्र.)*

किया है। हमारी धरती में बढ़ती जनसंख्या को धारण करने की शक्ति है पर हमको उसके लिए साधन ढूंढ़ना पड़ता है। इसी की खोज में मानव ने शिकारों से पेट भरना शुरू किया, जिसे 'आखेट युग' कहते हैं। आगे चलकर जनसंख्या के बढ़ने से चारागाहों की खोज हुई और पशुपालन का भी व्यवसाय प्रारम्भ हुआ। इसे 'चारागाह युग' भी कहा जाता है। तब चारागाहों की संख्या इतनी अधिक नहीं थी जो निरंतर बढ़ते हुए जनसंख्या का बोझ रोक सके, तो आगे चलकर 'कृषि' की ओर जाना पड़ा। इसके लिए नदियों का किनारा ही वह स्थान था, जहाँ कृषि हो सकती थी और बढ़ती जनसंख्या का भरण-पोषण किया जा सकता था। यही विस्तृत उपजाऊ मैदान नदियों के किनारे-विद्यमान थे, जो नदियों की बाढ़ से प्रति वर्ष- और उपजाऊ हो जाते थे। जहाँ पर उपजाऊ भूमि तथा नम जमीन है जिससे चारे की समस्या का भी समाधान होता रहे। दूसरी आवश्यकता जल की थी जो नदियों तथा झरनों से प्राप्त किया जा सकता था। बाहर से पानी लाकर इनका निर्वाह करना बड़ा कठिन था। अत: कृषि करने करना तथा समान ढोने के लिए पशुओं का ही उपयोग किया जाता था। अत: इसके लिए नदी की घाटियों में ही संभव था।

सुरक्षा सभी खोजते हैं। उस समय संसार का अधिकांश भाग जंगलों और पर्वतों से अच्छादित था। वन्य पशुओं के कारण यहाँ पर रहना असुरक्षित था। अत: ऐसे स्थान की आवश्यकता महसूस हुई जो सुरक्षा की दृष्टि से उत्तम हो। सुरक्षा दो रूपों में करना था- प्रथम पशुओं से सुरक्षा तो दूसरा बाहरी जातियों के प्रवेश से सुरक्षा। ऐसा स्थान नदी का किनारा ही हो सकता था जहाँ एक ओर जल तथा दूसरी ओर 'वन' हो।

पहले मानव कन्दराओं एवं जंगलों में रहता था, उसे न शान्ति थी, न निश्चिन्तता। फिर परिवार की भावना आयी, स्त्री एवं बच्चे हुए जिसके लिए सुरक्षित आवास की आवश्यकता पड़ी, जिसके लिए लकड़ी एवं ईंट के भवन बनने लगे। आगे चलकर 'संचय' की भावना का भी विकास हुआ जिसका कारण था उपज का अधिक होना। स्त्रियाँ खेती करती थीं तो पुरुष शिकार करते थे। यह स्थिति जंगलों और पर्वत की घाटियों में रहने के समय को भी जहाँ भूमि की उर्वरा शक्ति बहुत कम थी इसीलिए स्थायी निवास की खोजने के लिए नदी घाटियों की ओर आर्कषित हुए जहाँ उर्वर भूमि ने उनके भोजन एवं आवास की समस्या का समाधान करके उन्हें स्थायित्व प्रदान किया।

आज की तरह सिंचायी के विकसित साधन तब नहीं थे। नदियों का जल ही इस कार्य में प्रयोग किया जाता था। इसका स्पष्ट प्रमाण मिश्र की सभ्यता में दिखायी देता हैं जहाँ नील नदी से नहरे निकाल कर मिश्र के राजाओं ने सिंचाई की व्यवस्था की थी। सिंचाई न होती तो कृषि की स्थिति बिगड़ जाती साथ ही साथ बढ़ती जनसंख्या भी निराधार हो जाती। अत: नदी घाटियाँ ही इसके लिए सर्वथा उपयुक्त थी। मनुष्य के रहने के लिए नम जलवायु की आवश्यक थी। मानव के लिए अधिक गर्मी एवं अधिक सर्दी दोनों की आवश्यकता नहीं थी। इसके लिए नदियों का किनारा ही उपुयक्त स्थान था जहाँ प्रत्येक ऋतु सुहावनी होती थी, जहाँ मनुष्य की अपनी कार्य क्षमता बढ़ाने का अवसर प्राप्त होता था। इसीलिए मानव को नदी घाटियाँ अधिक उपयोगी होने लगी। मानव की आवश्यकताएँ अनन्त हैं। जीवित रहने के लिए वायु एवं जल परम आवश्यक है। अत: पर्याप्त जल नदियों से ही मिलता था। साथ ही नदियों के किनारे खानों की प्राप्ति भी बहुतायत से होती थी, उनसे कच्चा माल निकाल कर सुन्दर सामाकीय तैयार की जाती थी। यह उस समय के लोगों के कलात्मक रुचि के अभिव्यक्तीकरण का माध्यम था। इसी के द्वारा सभ्यता के गौरव का भी मूल्यांकन किया जाता था। अत: सभ्यता के विकास में धातुओं का महत्वपूर्ण स्थान है। इसीलिए प्रारम्भिक सभ्यताएँ नदियों के किनारे ही उदित हुई।

देश के अन्दर यातायात में अनेक कठिनाइयाँ थी जंगली पशुओं का भय बना रहता था, सुरक्षित रास्तों का

अभाव था। ऐसी स्थिति में आन्तरिक सम्पर्क तथा व्यापारिक यात्राएँ असम्भव होने लगी। जिसके लिए उपयुक्त माध्यम नदियों का किनारा ही या जिससे होकर देश के अन्दर आ-जा सकते थे साथ ही प्रशासनिक व्यवस्था एवं व्यापारिक सम्पर्क भी स्थापित किये जा सकते थे। साथ ही सागर पर्वत रेगिस्तान उस परिवर्तन के काल में बढ़ते जा रहे थे, जिसके लिए भी नदियों का किनारा ही अधिक उपयुक्त था।

मानव एक सामाजिक प्राणी है वह किसी न किसी प्रकार का संगठित जीवन व्यतीत करने का अभिलाषी रहता था। शुरू में जब वह समाज की व्यवस्था से अलग था तब भी शिकार खेलने जाते समय वह 'झुण्ड' के साथ जाता था जिससे बड़े पशुओं का शिकार वह आसानी से कर लेता था। यही सामूहिक भावना आगे चलकर सामाजीकरण की जन्मदात्री बनी। उसने अपने पास-पड़ोस के लोगों से भी सम्पर्क बनाने का भी प्रयास किया। यह प्रयास पहले आर्थिक स्तर तक सीमित थ जो बाद में चलकर सांस्कृतिक बन गया।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सभ्यताओं के उदय के बाद इनका अन्त भी हुआ। फिर भी ये लम्बे समय तक फलती-फूलती रहीं। इनकी कहानी एक लम्बे विकास की गाया है। उदाहरण स्वरूप मिश्र की सभ्यता ने पिरामिड काल में कला, लेखन-सामग्री, ज्योतिष, विज्ञान, सिंचाई प्रणाली धर्म आदि के क्षेत्र में बहुत प्रगति किया तो वहीं आसीरिया की सभ्यता अपने युद्ध कौशल के लिए आज भी विकसित मानी जाती है तो वहीं बेबोलोनियाँ के निवासियों ने ही विकसित न्याय प्रणाली तथा सामाजिक व्यवस्था को जन्म दिया। चौल्डियन लोगों ने विज्ञान के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति किया। इसी प्रकार भारत में सिन्धुघाटी के लोग नगर-नियोजन व्यवस्था में अभूतपूर्व कार्य किए। इस प्रकार विश्व की सभी सभ्यताएँ जो नदी घटियों में बसी थीं, अधिक विकसित थीं। नदियों के किनारे सभ्यताएँ विकसित हुईं, जहाँ आविष्कार के लिए उपयुक्त साधन उपलब्ध थे, आविष्कार विकास के लिए आवश्यक था।

अतः जो सभ्यताएँ नदी घाटियों में उत्पन्न हुई वे दूसरी सभ्यताओं की अपेक्षा काफी विकसित थीं। उदाहरण स्वरूप हिट्टाइट, फोइनीशियुन आदि सभ्यताओं की अपेक्षा मिस्र बाबुलोनियाँ, सिन्धु आदि सभ्यताएँ अधिक विकसित थी। इसका कारण है नदी की घाटियों में इनकी स्थित का होना। इसी लिए नील नदी के सम्बन्ध में कहा जाता है कि "मिस्र नील नदी की देन है एवं नील का गौरव मिश्र के कारण है।"

सन्दर्भ:

1. विश्व की प्राचीन सभ्यताएँ, डॉ. शिवस्वरूप सहाय-स्टूडेण्ट्स फ्रेण्ड्स 2004-5 इलाहाबाद।
2. विश्व की प्राचीन सभ्यताओं का इतिहास संभू कुमार महतो, खामा पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 2019.
3. प्राचीन विश्व का उदय एवं विकास, ओम प्रकाश प्रसाद, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011.
4. प्राचीन भारतीय सभ्यताओं का इतिहास, रामेश चन्द्र दत्त, (अनु. बाबू गोपालदास) प्रकाशन संस्था, नई दिल्ली, 2017.
5. प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास-भारती भवन प्रकाशन, पटना।
6. विश्व की प्राचीन सभ्यताएँ, श्री राम गोयल, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2020.
7. सिन्धू सभ्यता, डॉ. किरण कुमार थपल्याल, डॉ. संकटा प्रसाद शुक्ल, उत्तर प्रदेश, हिन्दी संस्थान, 2014.

❑❑❑

आलेख

हिंदी कोश निर्माण पर पुनर्विचार एवं संभावनाएँ

○ रानी सिंह✡

सूचना विस्फोट के इस वैज्ञानिक और तकनीकी युग में हिंदी भाषा ने राष्ट्रीय ही नहीं बल्कि अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर अपनी पहचान बना ली है; अर्थात् वह गाँव से ग्लोब की भाषा बनती जा रही है। उपभोक्तावादी संस्कृति में भाषाओं की आपसी होड़ के बीच आज हिंदी ने विश्वबाजार में अपनी मजबूत पकड़ बना ली है। ऐसी स्थिति में यह अतिआवश्यक है कि विश्व की अन्य सम्पन्न भाषाओं की तरह हिंदी में भी कोश निर्माण कार्य हो। कोश किसी भी भाषा की संपन्नता, समृद्धि एवं शक्ति का परिचायक ही नहीं, बल्कि किसी भी भाषा को शुद्ध और परिष्कृत रूप देने में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। भारतीय वाङ्मय में 'कोश' शब्द का प्रयोग बहुत पहले से होता आ रहा है। संस्कृत साहित्य में 'कोश' शब्द का प्रयोग कटोरा, बाल्टी, म्यान, सन्दूक, ढक्कन आदि के अर्थ में होता रहा है। संस्कृत में शब्दकोश के लिए निघंटु, नाममाला, शब्दार्णव, अभिधान आदि शब्द प्रचलन में रहे हैं। हिंदी में कोश शब्द खजाना के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। हिंदी एक जीवंत भाषा है। जीवंतता के कारण ही जन्मकाल से लेकर अबतक हिंदी का स्वरूप समयानुसार परिवर्तित हो रहा है। ज्ञान-विज्ञान, सूचना प्रौधोगिकी, मनोरंजन, विज्ञापन, जनसंचार आदि के सार्थक एवं सशक्त अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में हिंदी भाषा विकसित हो रही है। स्पष्ट है कि हिंदी भाषा की शब्दावली में तेजी से वृद्धि हो रही है, परंतु अफसोस यह है कि शब्दकोशों के निर्माण की प्रक्रिया उतनी तेजी पर नहीं है। सतत विकासशील हिंदी भाषा के विरासत को सुरक्षित रखने के लिए भी कोश निर्माण जरूरी है।

वैसे तो हिंदी में कोश परंपरा का प्रारंभ 19वीं शताब्दी से माना जाता है, परंतु सामान्यत: अमीर खुसरो कृत 'खलिकबारी(1340)' को हिंदी का पहला कोश माना जाता है। इस कोश में हिंदी फारसी तथा अरबी शब्दों के अर्थ बतलाए गए हैं। 'खलिकबारी' के बाद सही अर्थों में भारतीय भाषा में कोश निर्माण का कार्य अंग्रेजों के आने के बाद प्रारंभ हुआ। अंग्रेज भारत में अपना शासन कायम रखने के लिए यहाँ की भाषाएँ जानने के लिए देश की भाषाओं के कोश का निर्माण करने लगे। हिंदी भाषा की देवनागरी लिपि में पहला शब्द कोश पादरी एम.टी. एडम ने 'हिंदी कोश(1829 ई.)' में कलकत्ते से प्रकाशित किया। यह हिंदी का पहला कोश था जिसमें पहली बार हिंदी शब्दों के अर्थ हिंदी में ही दिए गए थे। इसके बाद श्रीधर त्रिपाठी ने 'श्रीधर कोश(1894)' में प्रकाशित किया जो कि पहली बार किसी हिंदी भाषी भारतीय द्वारा तैयार किया गया प्रथम हिंदी कोश था। हिंदी में सर्वांगपूर्ण और बृहत कोश के निर्माण का सराहनीय प्रथम प्रयास नागरी प्रचारणी सभा

✡ *सहायक प्राध्यापिका, डिग्री कॉलेज, टुंडी।*

ने किया। सभा द्वारा 1910 से 1945 तक अर्थात् 35 वर्षों के अथक परिश्रम से हिंदी का पहला प्रमाणिक शब्दकोश 'हिंदी शब्द सागर' का निर्माण किया गया। जिसके मूल संपादक डॉ. श्यामसुंदर दास तथा सहायक संपादक बालकृष्ण भट्ट, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, अमीर सिंह, जगमोहन वर्मा, भगवान दीन तथा आचार्य रामचन्द्र वर्मा एवं संपादक मण्डल में 12 तथा सहायक संपादक मण्डल में 2 सदस्य थे। सभा ने 1924 ई. में 'हिंदी शब्द सागर' का पहला संस्करण ग्यारह खंडों में प्रकाशित किया। इस कोश की विशेषता थी कि यह आकार क्रम में था। इसमें शब्द का अर्थ उसकी व्युत्पत्ति भी एक या दो वाक्यों में दिए गए थे एवं एक ही तरह के अर्थ देने वाले दो शब्दों का अंतर भी आवश्यकतानुसार स्पष्ट कर दिया गया था। इस कोश में दर्शन, ज्योतिष, वैधक, वस्तुविधा आदि अनेक विषयों के पारिभाषिक शब्दों का भी विवरण दिया गया है। प्राचीन हिंदी काव्यों में मिलने वाले बहुत से शब्दों का अर्थ भी दिया गया है, इस कोश में कुल 93115 शब्दों के अर्थ विवरण के साथ दिए गए हैं, एवं आरंभ में हिंदी भाषा और साहित्य के विकास का इतिहास भी दिया गया है, कोश विज्ञान की दृष्टि से निर्मित यह प्रथम हिंदी कोश था। संपादक श्यामसुंदर दास ने मुक्त कंठ से हिंदी साहित्य के पहले प्रमाणिक इतिहासकार पंडित रामचन्द्र शुक्ल के कोश निर्माण कार्य में परिश्रम की प्रशंसा करते हुए कहा है– "यदि यह कहा जाय की शब्द सागर की उपयोगिता और सर्वांगपूर्णता का अधिकांश श्रेय पंडित रामचन्द्र शुक्ल को प्राप्त है तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। एक प्रकार से यह उन्हीं के परिश्रम विद्वता और विचारशीलता का फल है।"[1] इस कोश का संक्षिप्त एवं परिवर्धित संस्करण 'संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर(1935 ई.)' में प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात हिंदी कोश निर्माण में रामचन्द्र वर्मा के संपादकत्व में 'प्रामाणिक हिंदी कोश' का प्रकाशन 1944 ई. में किया गया जिसमें 31597 शब्द संकलित थे। इस कोश की विशेषता है कि इसमें शब्दों के साथ ही भाववाचक संज्ञा, विशेषण, क्रिया आदि भी कोष्ठक में दिए गए थे। इसमें यौगिक शब्दों को लिया गया तथा हिंदी में जो शब्द अशुद्ध रूप एवं अशुद्ध अर्थ के साथ प्रयुक्त होने लगे थे उनकी अशुद्धता का निर्देश भी कोष्ठक में किया गया था। इसमें 'हिंदी शब्द सागर' में हुई त्रुटियों को सुधारने का प्रयत्न संपादक के द्वारा किया गया। इसमें निवेदन स्वरूप संपादक रमंचन्द्र वर्मा ने स्पष्ट कर दिया है कि यद्यपि कोश में प्रामाणिकता के लिए अथक परिश्रम किया है। उनके शब्दों में "मैंने इसे वस्तुतः प्रामाणिक बनाने में पूर्ण अपनी ओर से कोई बात उठा नहीं रखी है, और हजारों शब्दों तथा अर्थों के लिए बहुत छान-बीन की है। इस संस्करण में जो दोष और त्रुटियाँ रह गई हैं, उनके सुधार और पूर्ति का अगले संस्करण में प्रयत्न किया जाएगा।"[2] इसके बाद हिंदी कोश निर्माण का सराहनीय कार्य ज्ञान मण्डल लिमिटेड वाराणसी द्वारा किया। ज्ञान मण्डल के पंडित वाराणसी से कालिका प्रसाद, राधावल्लभ सहाय तथा मुकुंदीलाल श्रीवास्तव के संपादकत्व में वृहद हिंदी कोश का प्रकाशन 1952 में हुआ। इसमें हिंदी में प्रचलित अरबी, फारसी,अंग्रेजी आदि भाषाओं से आगत शब्दों को हिंदी का अंग मानकर शामिल किया गया। शब्दसागर में शब्दों की व्युत्पति के संबंध में हुई त्रुटियों को सुधारने का प्रयत्न इस कोश में किया गया है। हिंदी में कुछ शब्द ऐसे है, जो स्त्रीलिंग और पुलिंग दोनों रूप में प्रचलित है, इस कोश में प्रयोग के अनुसार दोनों रूप दिए गए है और कहीं कहीं स्वतंत्र विचार से काम किया गया है। हिंदी शब्द सागर के प्रकाशन के बाद बहुत नये-नये शब्दों को समाविष्ट कर लिया गया। इस कोश के प्रथम संस्करण की भूमिका में संपादकों ने स्पष्ट कर दिया है कि "आकार-प्रकार में 'शब्द सागर' जैसा भारी भरकम ना होते हुए भी अपने आप में परिपूर्ण एवं सर्वोपयोगी है। जिसमें हिंदी में प्रयुक्त किये गये या प्रयुक्त हो सकने वाले प्रायः शब्द और उनसे बने मुहवारें आदि आ गये हो, फिर भी जो यथासंभव एक ही जिल्द में समाप्त हो सके। बृहद हिंदी कोश का प्रकाशन इसी परिकल्पना का परिणाम है।"[3]

तत्पश्चात हिंदी कोश निर्माण में महत्वपूर्ण कार्य दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा मद्रास संप्रति (चेन्नई) दक्षिण

भारत हिंदी प्रचार सभा 'भारतीय हिंदी कोश (1956)' का प्रकाशन किया। इस कोश की यह विशेषता है, कि इसमें हिंदी में प्रयुक्त होने वाले सभी प्रकार के शब्दों को शामिल किया गया, तथा कुछ ऐसे भी शब्द आए है, जिसका प्रयोग सभी भाषाओं में किया जाता है। अप्रचलित संस्कृत और अरबी फारसी के शब्दों की भरमार इस कोश में नहीं है। कोश के अर्थ में संविधान तथा भारत सरकार तैयार अन्य आवश्यक शब्दों का अर्थ भी दिया गया है। शब्दों का अर्थ लिखते समय पर्यायवाची शब्दों का कम प्रयोग करते हुए आसान तरीके से शब्दों के अर्थ को समझाने का यत्न किया गया है।

हिंदी शब्द सागर और प्रमाणिक हिंदी कोश के निर्माण के पश्चात भी रामचन्द्र वर्मा हिंदी कोश निर्माण में किए गए कार्यों से पूर्ण संतुष्ट नहीं थे। उनके विचार में, "हम हिंदी भाषियों का भी यह कर्तव्य होना चाहिए कि हम हिंदी शब्दों का ठीक और पूरा अर्थ विवेचन करके उसे भी ऐसे उच्च स्तर तक पहुँचाने का प्रयत्न करें कि वह भी उन्नत भाषाओं के वर्ग में गिनी जाने लगे।"[4] हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की सहायता से रामचन्द्र वर्मा ने अपने संपादक मण्डल के साथ मिलकर 'मानक हिंदी कोश (1962 ई.)' का निर्माण किया। इस शब्द कोश में भाषा के प्रत्येक शब्द का अर्थ आशय तथा भावपूर्ण रूप से निश्चित निरूपित तथा मर्यादित करने का प्रयास करते हुए शब्द के मानक तथा शिष्ट सम्मत रूपों के साथ ही अर्थ उदाहरण, मुहावरे, व्याख्या आदि दी गई। शब्द की व्युत्पत्ति के साथ इस कोश में अन्य भाषा के शब्दों का मूल उच्चारण भी कोष्ठक में दिया गया है। शब्दों के अर्थ विवेचना पर ध्यान देते हुए छोटे-छोटे एवं साधारण-साधारण शब्दों का भी सर्वांगपूर्ण विवेचन किया गया है। बहुत से शब्दों को व्यस्थित क्रम में रखने के प्रयास के साथ महत्वपूर्ण शब्दों का बिल्कुल नए ढंग से वर्गीकरण किया गया है। शब्दों के पारस्परिक सूक्ष्म अंतर को भी स्पष्ट किया गया है। इस कोश में मुहवारों को पद शीर्षक से अलग वर्ग में रखा गया है। शब्द सागर में जो उदाहरण गलत अर्थों के साथ गलत जगहों पर दिए गए थे उसे भी सुधारा गया है। पहले के कोशों में क्रियाओं, संज्ञाओं तथा स्त्रीलिंग तथा पुलिंग संबंधी जो त्रुटियाँ हुई थीं, उन्हें भी सुधारा गया है। यहीं तक रामचन्द्र वर्मा जी ने कोश निर्माण को अंतिम रूप नहीं दिया बल्कि आगे भी 'शब्द सार्थक ज्ञान कोश' तथा 'शब्दार्थ दर्शन कोश' का निर्माण 1968 ई. में किया। ज्ञान मण्डल लिमिटेड वाराणसी द्वारा हिंदी साहित्य कोश का निर्माण डा. धीरेन्द्र वर्मा, (प्रधान), डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा, डॉ. धर्मवीर भारती, श्री रामस्वरुप चतुर्वेदी, तथा डॉ. (रघुवंश) (संयोजक) के संपादकत्व में संवत 2015 को प्रकाशित किया गया। यह 'हिंदी साहित्य कोश' लेखन का प्रथम प्रयास था। इस कोश में प्राचीन साहित्य शास्त्र, रीति पाश्चात्य साहित्य शास्त्र, साहित्य के विविध वाद तथा प्रवृत्तियाँ, साहित्य के विविध रूप, हिंदी साहित्य के इतिहास के विभिन्न काल युग तथा धाराएँ, साहित्य संदर्भ में प्रयुक्त दार्शनिक मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक तथा समाजशास्त्रीय, सिद्धांत तथा संस्कृत फारसी अंग्रेजी साहित्य के इतिहास तथा हिंदी भाषा की जनपदीय बोलियों, प्राचीन तथा आर्य भाषाओं और सम्बद्ध आर्य भाषाओं की पारिभाषिक शब्दावली को सम्मिलित किया गया है। इस कोश के निर्माण के संबंध में धीरेन्द्र वर्मा ने कहा, "इसकी योजना बनाते समय हमारे सामने हिंदी के संदर्भ ग्रंथ का आदर्श नहीं था। भाषाओं के संदर्भ ग्रंथों का अनुकरण भी हमारे लिए अधिक उपयोगी नहीं हो सकता था, क्योंकि हमारे साहित्य की प्रकृति, परंपरा और आवश्यकताएँ भिन्न हैं।"[5] अत: स्पष्ट है कि हिंदी साहित्य कोश निर्माण में यह पहला प्रयास था। इसके अलावा केन्द्रीय हिंदी निदेशालय ने भी कोश निर्माण के कार्य में रुचि ली और 'बृहद हिंदी कोश' का निर्माण किया। इस कोश में हिंदी के पारंपारिक प्राणवान शब्दों के साथ विभिन्न विद्या शाखाओं से नवनिर्मित हिंदी शब्दों को शामिल किया गया एवं कोश के प्रविष्टि चयन का आधार वर्तमान शिक्षण सामग्री, पाठ्य पुस्तकें, अद्यतन ज्ञान साहित्य का विकास, वैज्ञानिक राजनैतिक विमर्श से जुड़े शब्दों, इतिहास अर्थशास्त्र, राजनीतिक शास्त्र तथा प्रौद्योगिकी से संबंधित साहित्य को बनाया गया।

शब्दों की व्युत्पति का उल्लेख करते हुए आवश्यकतानुसार शब्दों को परिभाषित भी किया गया एवं मानक वर्तनी संबंधी नियमों का भी पालन किया गया।

1960 में धीरेन्द्र वर्मा के प्रधान संपादकत्व में नागरी प्रचारणी सभा वाराणसी ने 'हिंदी विश्व कोश' का प्रथम खंड प्रकाशित किया। हिंदी विश्वकोश का सग्रंथन हिंदी वर्णमाला के अक्षरों के क्रम में हुआ है। विदेशी नामों में जहाँ भ्रम की संभावना थी उन्हें कोष्ठक में रोमन लिपि में दे दिया गया है। वर्तनी नागरी प्रचारणी सभा की स्वीकृति वर्तनी के अनुकूल रखा गया है। इस विश्वकोश का आदर्श एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका का आदर्श रहा है।

इसके बाद हिंदी में थिसारस निर्माण का स्वप्न, दंपति अरविन्द कुमार और कुसुम कुमार ने सामान्तर कोश(1996 ई.)' का निर्माण कर साकार किया। यह हिंदी का पहला थिसारस था। जिसमें 1,60,850 प्रविष्टियाँ थीं। जिन्हें 1100 शीर्षको के अंतर्गत 23,759 उपशीर्षकों के अंतर्गत रखा गया। महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय वर्धा ने हिंदी कोश निर्माण में महत्वपूर्ण कार्य किया, रामप्रकाश सक्सेना के प्रधान संपादकत्व में 'वर्धा हिंदी शब्द कोश' का प्रकाशन 2013 में किया गया है। इस शब्दकोश के निर्माण में महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के मुख्य मंतव्य को स्पष्ट करते हुए विश्वविद्यालय के कुलपति विभूति नारायण राय ने स्पष्ट कहा है कि 'वर्धा हिंदी शब्दकोश परियोजना के पीछे महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की यह सोच काम कर रही है कि हिंदी में भी ऐसा शब्दकोश बने जो नियमित अंतराल पर संशोधित, परिवर्धित होता रहे और जिसका हर संस्करण अपने समय की भाषा में हो रहे परिवर्तनों को पकड़ने का नए सिरे से प्रयास करे।'[6] इस कोश का निर्माण वैज्ञानिक ढंग से वर्णक्रमानुसार किया गया। इस कोश में पहली बार इंग्लिश शब्दों को हिंदी में लिखने में वैज्ञानिकता बरती गई है तथा 'अ' शब्दांत में व्याकरणिक कोटि में अव्यय को कई विभागों में बाँट दिया गया है; यथा- क्रिया विशेषण, निपात, परसर्ग, पूर्व प्रत्यय, परप्रत्यय आदि। इस कोश का उस समय की समावेशी हिंदी के अधिकांश प्रचलित शब्दों को स्थान देने का प्रयत्न किया गया है। इसके अलावा भोलानाथ तिवारी ने 'व्यावहारिक हिंदी कोश 1982' ,'संक्षिप्त हिंदी कोश' की रचना की तथा हि.सा. सम्मेलन, प्रयाग द्वारा 'शासन शब्दकोश', 'प्रत्यक्ष शरीर कोश', 'भूतत्व विज्ञान कोश', 'जीव रसायन कोश', तथा 'चिकित्सा कोश' का प्रकाशन किया। केन्द्रीय हिंदी निर्देशालय दिल्ली द्वारा 'अभिनव हिंदी कोश', 'हिंदी पारिभाषिक लघुकोश', तथा 'हिंदी व्युत्पति कोश' का निर्माण किया गया तथा महत्वपूर्ण प्रमाणिक संदर्भ कोश बनाया गया है। केंद्रीय हिंदी संस्थान आगरा ने 50 अध्येता कोश बनाया है जिसमें भारतीय भाषाओं और जनजातीय भाषाओं और जनजातीय बोलियों के कोश हैं। केंद्रीय हिंदी संस्थान के द्वारा 22 भाषाओं में कोश निर्माण किया है। केंद्रीय हिंदी संस्थान द्वारा हिंदीतर भाषा-भाषी हिंदी शिक्षकों के लिए उचारण कोश का भी निर्माण किया है। नागालैंड भाषा परिषद् कोहिमा ने भी लगभग पूर्वोत्तर की समस्त भाषाओं में कोश निर्माण किया है।

हिंदी में प्रकाशित शब्दकोशों की सूची वास्तव में इतनी ही नहीं है, परंतु हिंदी में कोशों की संख्या उंगलियों पर गिनने लायक है। वैज्ञानिकता की कसौटी पर हिंदी का एक-आध कोश ही ठहरता है। हिंदी के अच्छे शब्दकोश भी त्रुटियों से पूर्णतः मुक्त नहीं हैं। हिंदी शब्द सागर में हिंदी की व्युत्पति के संबंध में किया गया काम बहुत कुछ त्रुटिपूर्ण था। हिंदी शब्द सागर का समय-समय पर परिशोधन परिवर्धन नहीं किया गया। इस शब्दकोश में ब्रजभाषा के शब्दों का बहुलता से प्रयोग हुआ है, जिसमें से अधिकांश का प्रयोग अब बोलचाल में नहीं होता है। वर्धा हिंदी कोश की आलोचना कुछ आलोचको ने यह कहकर की कि इस कोश के द्वारा हिंदी भाषा को इंग्लिश बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। हिंदी भाषा कोश निर्माण कार्य में बहुत से क्षेत्र अभी भी अछूते रह गए है, जिन क्षेत्रों में कोश निर्माण कार्य होना चाहिए। अभी तक हिंदी साहित्य की अनुक्रमणिकाएँ

नहीं प्रस्तुत की गई हैं, जिससे शब्दकोशों को पूर्ण रूप दिया जा सके। हिंदी में पृथक रूप से ऐतिहासिक कोश का भी निर्माण नहीं किया गया है, यद्यपि हिंदी शब्दसागर और मानक हिंदी कोश कुछ सीमा तक इसकी पूर्ति का प्रयास करती है। अंग्रेजी भाषा से आगत वर्ण 'ऑं' जिसका व्यवहार हिंदी में किया जाता है, उसके लिए हिंदी के वर्णक्रम में कोई स्थान निर्धारित नहीं किया गया है। हिंदी में अन्य भाषाओं के शब्द कोशों की बेहद कमी है।

हिंदी का शब्दकोश अंग्रेजी और फ्रांसीसी के कोश की तरह मानक कोश नहीं बन पाया है। अगर कोई हिंदी माध्यम से देशी-विदेशी भाषा का ज्ञान प्राप्त करना चाहे तो ऐसे कोश की भी कमी है। सभी विदेशी भाषाओं के कोशों का अभाव देवनागरी में है। भारत में ही बोली जाने वाली सभी भाषाओं के कोश देवनागरी में भी नहीं। चिकित्सा के क्षेत्र के लिए भी हिंदी में कोश का निर्माण अंग्रेजी की तरह नहीं हो पाया है। वर्तमान समय में साहित्यकार साहित्य निर्माण में ही संलग्न है, कोश निर्माण की ओर उनकी रुचि कम है।

भारत में दुर्भाग्य से कोश-विज्ञान पर अध्ययन अध्यापन नहीं हो रहा है। हिंदी में कोश निर्माण की प्रक्रिया और प्रविधि अत्यंत कमजोर है। अभी तक केंद्रीय विश्वविद्यालयों में भी कोश विज्ञान का पाठ्यक्रम संचालित नहीं हो पाया है। आज आवश्यकता है कि कोश विज्ञान पर सुयोग्य कोश निर्माताओं पर व्याख्यान भी विश्वविद्यालयों में आयोजित किया जाए। समस्त भारतीय भाषाओं एवं भारतीय भाषाओं की जनपदीय बोलियों में प्रयुक्त होने वाले शब्दों के संरक्षण हेतु समय रहते प्रामाणिक शब्द कोशों का निर्माण अत्यंत आवश्यक है, अन्यथा आने वाले समय में जीवित शब्दावली मृत शब्दावली में परिवर्तित हो जाएगी। शब्द संपदा का तीव्र गति से क्षरण हो रहा है। नवीन संस्कृति, नया भाषायी वातारण शब्दों को खाता जा रहा है। ऐसे में आवश्यकता है कि कोश निर्माण पर ध्यान दिया जाए।

संदर्भ :

1. श्यामसुंदर दास (सं.), 'हिंदी शब्द सागर', प्रथम भाग, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, 1986 ई., पृ. 7
2. रामचन्द्र वर्मा (सं.), प्रमाणिक हिंदी कोश, हिंदी साहित्य कुटीर बनारस, पहला सं., 2006 वि.सं., पृ. 12
3. सं. कालिका प्रसाद, राजवल्लभ सहाय, मुकुंदीलाल श्रीवास्तव, बृहद हिंदी कोश, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 221001, पुनर्मुद्रण : जुलाई 2014, प्रथम संस्करण की भूमिका से।
4. रामचन्द्र वर्मा (प्रधाान संपादक), मानक हिंदी कोश, प्रथम खंड (अ-क) हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, 1962 ई., पृ. 5
5. संपादक मंडल, डॉ. धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान संपादक), डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा, डॉ. धर्मवीर भारती, श्री रामस्वरुप चतुर्वेदी, डॉ. रघुवंश (संयोजक), ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी। प्रथम संस्करण, 2015, पृ. 1

❑❑❑

आलेख

डॉ. भीमराव अम्बेडकर के सामाजिक न्याय दर्शन का विश्लेषणात्मक अध्ययन

❍ अनुभा श्रीवास्तव*

डॉ. अम्बेडकर एक विचारक, समाज सुधारक, संविधान के प्रमुख शिल्पकार दलितों एवं शोषितों के मातहत, प्रख्यात अर्थ-दृष्टा, कुशाग्र विधिवेत्ता, प्रतिष्ठित समाजशास्त्री और एक अतुलनीय युग दृष्टा के रूप में अनुपम हैं। इतने आमुख व्यक्ति होने के साथ ही वे सामाजिक न्याय के लिए सबसे ज्यादा जाने जाते हैं। दलितो और वंचितों को समाज में उनका सही स्थान दिलाने वाले डॉ. भीमराव अंबेडकर ही थे। यद्यपि संकुचित अर्थों में कुछ विद्वान उन्हें एक वर्ग विशेष का मसीहा मानते हैं, जबकि ऐसा सोचना डॉ अंबेडकर जैसे महान व्यक्तित्व के लिए कतई उचित नहीं है। उन्हें समाज के किसी एक वर्ग विशेष के साथ जोड़कर देखना उनके व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों का अवमूल्यन करना है। वास्तविकता तो यह है कि डॉ. अंबेडकर ने भारतीय समाज की संरचना को सर्वाधिक सही तरीके से समझा था और नितांत व्यावहारिक और वैज्ञानिक प्रणाली का अनुसरण करते हुए भारतीय समाज की स्थिति की संकल्पना प्रस्तुत की थी। उन्होंने इस तथ्य को खोज निकाला कि शोषणवादी भारतीय सामाजिक संरचना की अपरिवर्तनशीलता का एकमात्र कारण इसकी संरचना में अंतर्हित श्रेणीबद्ध असमानता एवं धर्म शास्त्रीय नियमों के प्रति लोगों में अंधविश्वास जनित गहरी आस्था है। उन्होंने तार्किक आधार पर सामाजिक न्याय की एक रूपरेखा तैयार की। उन्होंने यह बताया कि भारतीय समाज एक विषमतामूलक समाज है जिसमें समाज का एक बड़ा वर्ग अपने समस्त प्रकार के अधिकारों सुविधाओं और प्रगति से कोसों दूर है और समाज में जब तक यह वर्ग उस स्थित से बाहर नहीं आ जाता तब तक सामाजिक न्याय जैसी बात करना निराधार है और सामाजिक न्याय की स्थिरता के बिना किसी भी समाज की प्रगति की कल्पना नहीं की जा सकती है।

भारत में प्रजातांत्रिक व्यवस्था की सफलता को सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक है कि सामाजिक न्याय की स्थापना की जाए। डॉ. अंबेडकर यह मानते थे कि वह प्रजातंत्र असफल हो जाएगा जो सामाजिक न्याय पर आधारित नहीं होगा। महात्मा बुद्ध से लेकर स्वतंत्रता की प्राप्ति तक भारत में अनेक समाज सुधार और धर्म सुधार संबंधी आंदोलन हुए किंतु उनमें से किसी का भी प्रभाव स्थायित्व ग्रहण नहीं कर सका तथा भारतीय सामाजिक संरचना एवं धार्मिक संरचना सदैव शोषणवादी बनी रही। दलित वर्ग एवं वंचित वर्ग अनवरत शोषित एवं प्रताड़ित होता रहा। इसी दलित वर्ग से अंबेडकर भी रहे जो उन सभी उपेक्षाओं एवं पीड़ाओं को अपने जीवन

* *असि. प्रो, राजनीति विज्ञान, हेमवती नंदन बहुगुणा राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, नैनी, प्रयागराज।*

में भोगते रहे जिसे सभी दलित एवं निम्न वर्ग भोक्ता आ रहा था।

भारतीय समाज विगत कई हजार वर्षों से वर्ग तथा जाति की कठोर व्यवस्था पर आधारित और संचालित है। वर्ण व्यवस्था के आधार पर समाज के एक बहुत बड़े भाग को उसके जीवन जीने के अधिकार से वंचित रखा गया। शुरू में यह व्यवस्था कार्यगत विशेषीकरण के वैज्ञानिक सिद्धांत पर तथा व्यक्तिगत नैतिक गुणों पर आधारित थी किंतु कालांतर में कठोरता और अपरिवर्तनीय जन्मगत जाति मूलक मान्यताओं पर केंद्रित हो गई जिसके दुष्परिणामस्वरूप सामाजिक गतिशीलता पूर्णतया अवरुद्ध हो गई। उन्नति के सभी रास्ते बंद हो गए और समाज में उच्च तथा निम्न जातियों के बीच एक कभी न पट पाने वाली खाई पैदा हो गई। परिणामत: एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था अस्तित्व में आई जो पूर्णत: भेदभाव, अन्याय, शोषण दमन और जुल्म पर आधारित थी, जिसमें मानवीय संवेदनाओं का कोई स्थान नहीं था। इसलिए सामाजिक न्याय जैसी किसी भी बात को करना निरर्थक था। व्यक्ति को उसके जन्म के आधार पर ही विभाजित कर दिया जाता था, कर्म का स्थान समाप्त हो गया था और समाज में समाज को जोड़ने वाली कोई भी स्थिति नहीं थी। अत: सामाजिक न्याय पूर्णत: विलुप्त हो चुका था। डॉ. अंबेडकर के चिंतन का दायरा बहुत व्यापक है। मानवीय समाज के विविध पहलुओं पर समग्रता, व्यापकता, अगाध गहराई, औचित्य तथा समाधान की अन्वेषकता उनके चिंतन की विशेषताएं हैं।

एक समतामूलक समाज की स्थापना के बिना अछूत उद्धार का अंबेडकर का मिशन अधूरा रह जाता है और ऐसे समाज की स्थापना के लिए अंबेडकर को कांग्रेस पार्टी तथा गांधी के निजी जीवन एवं व्यक्तित्व से काफी उम्मीद थी, इसी नाते वे गांधी और कांग्रेस दोनों के निकट आ गए परंतु यह नजदीकी भी बहुत दिनों तक कायम नहीं रह सकी। सहमति, असहमति मतभेद और किसी हद तक टकराव की मन: स्थितियों के बीच मौन समझौते की प्रवृत्ति भी अंबेडकर के व्यक्तित्व व विचारों में देखी जा सकती है खास तौर पर हरिजन उद्धार के गांधीवादी दर्शन की समीक्षा के मुद्दे पर गांधी जनभावनाओं को नैतिकता और करुणा जैसी मानवीय संवेदनाओं को जागृत करके छुआछूत का उन्मूलन तथा हरिजन उद्धार करने में विश्वास करते थे, जबकि इसके लिए लंबे समय की दरकार थी और अंबेडकर इस पर लंबा समय न देकर कानूनी, राजनीतिक शक्ति के माध्यम से अछूत उद्धार में विश्वास रखते थे। उनकी मान्यता थी कि शासन के सभी अंगों और निकायों में निष्ठापूर्ण शूद्रों को आरक्षण दिए बिना अछूतों का उद्धार केवल कल्पना व सिद्धांत के रूप में ही रह जाएगा। डॉ. अंबेडकर न्यायपालिका समेत शासन के विभिन्न अंगों तथा सार्वजनिक एवं अन्य निकायों उपक्रमों में आरक्षण के प्रबल समर्थक थे क्योंकि उनका विश्वास था कि लगातार सदियों से अकारण वंश और जन्म को आधार मानकर वंचित किए गए लोगों को समानता बिना आरक्षण के उपलब्ध नहीं कराई जा सकती और जब तक समानता नहीं आएगी तब तक सामाजिक न्याय कैसे संभव होगा। साथ ही साथ सामाजिक सुधार और शूद्रों का उद्धार भी अर्थहीन होगा। अत: उन्होंने शिक्षित संगठित और संघर्षशील होने का नारा दिया। डॉ. अंबेडकर ने दलितों के वास्तविक उत्थान के लिए कार्य किया।

आधुनिक भारत में भारतीय पुनर्जागरण के काल से लेकर स्वतंत्रता प्राप्ति तक राष्ट्रीय आंदोलन में अनेक समाज सुधारक एवं राष्ट्रीय नेताओं ने सामाजिक न्याय के लिए आवाज उठाई तथा सामाजिक न्याय को दिलवाने का पूर्ण प्रयास भी किया इन समाज सुधारकों में राजा राममोहन राय, स्वामी दयानंद सरस्वती, विवेकानंद जोतिबा फुले, रामास्वामी पेरियार, महात्मा गांधी आदि हैं जिन्होंने सामाजिक समता लाने के लिए अथक प्रयास भी किया किंतु इन सभी विद्वानों में डॉ. भीमराव अंबेडकर सामाजिक न्याय की दिशा में इन सबसे आगे निकल गए, सब से अलग हटकर उन्होंने यह सोचा कि समाज में सुधार केवल संघर्ष एवं जन आंदोलन से ही संभव नहीं है जब तक कि इसे कानूनी, राजनीतिक और राजसत्ता का नहीं मिलता है। शायद यही कारण था कि जब प्रारूप

समिति के अध्यक्ष के रूप में डॉ. भीमराव अंबेडकर को भारतीय संविधान के निर्माण का अवसर मिला तो उन्होंने सामाजिक न्याय तथा समरूपता लाने के लिए भारतीय संविधान में तमाम ऐसे प्रावधान किए; जैसे, भारतीय संविधान के भाग 3 में मानव अधिकारों की विस्तृत व्यवस्था में अस्पृश्यता की समाप्ति एक अत्यंत महत्वपूर्ण विषय है क्योंकि सामाजिक समता के मार्ग की यह सबसे बड़ी बाधा थी और अस्पृश्यता का दंश प्राचीन काल से ही भारतीय समाज की जड़ों को खोखला करता आया था समाज में दूरी बढ़ाने तथा लोगों के बीच के भाईचारे की भावना को खत्म करने का यह एक बहुत बड़ा कारण था, क्योंकि मानवीय सभ्यता एवं समानता का वास्तविक आधार समस्त मानवों का गरिमा और सम्मान के साथ जीवन जीने का अधिकार ही है। सामाजिक न्याय के लिए संविधान में यह सबसे बड़ा काम किया गया इसी प्रकार नीति निर्देशक तत्वों में भी इसकी पुष्टि होती है। प्रारूप समिति के अध्यक्ष के रूप में डॉ. अंबेडकर ने कहा, "भारत के संविधान को केवल एक विधिक दस्तावेज के रूप में परिकल्पित नहीं किया जाना चाहिए वरन उसकी सामाजिक क्रांति एवं जनकल्याण तथा राष्ट्रीय उत्थान के ध्येय से भी पूरा अनुनयन होना चाहिए।"

वस्तुत: वर्ण व्यवस्था के दृढ़ स्वरूप,जातिवाद ,जड़ नैतिकता तथा धर्मांधता के विरुद्ध उन्होंने संघर्ष किया क्योंकि सामाजिक न्याय के लिए वो इन सबको बाधक मानते थे । समाज की खेद जनक स्थिति से मुक्ति पाने के लिए सरकार द्वारा एक विशेष व्यवस्था बनाए जाने पर बल देते हुए उन्होंने कहा कि आप जो व्यवस्था बनाई जाए उसमें इसकी रियायत होनी चाहिए जिससे दलित शोषित और प्रवंचित मानवता सामाजिक न्याय अवस्था पर आ सके । उसे नागरिकता के संपूर्ण अधिकार प्राप्त हो सके और उसके पतन का अन्त हो सके। वह जानते थे की कुछ लोग अछूत वर्ग की समस्या को समाप्त नहीं होने देना चाहते क्योंकि वह इस समस्या को अपने समाज की आंतरिक समस्या समझते हैं जिसका कि मूल कारण वह हिंदू धर्म में प्रचलित सामाजिक और धार्मिक मान्यताओं को मानते थे जो इतनी शक्तिशाली थी कि उन्हें अंग्रेजी शासन सत्ता भी खत्म नहीं कर सकी। यह डॉ अंबेडकर की बुद्धिमत्ता ,कार्यकुशलता और उनके नेतृत्व की अद्‌भुत क्षमता ही थी कि उन्होंने सवर्ण वर्ग के शोषण का शिकार अस्पृश्य समाज की समस्या को देश का एक प्रमुख मुद्दा बना दिया।

डॉ. अंबेडकर ने अपनी चर्चित पुस्तक एनीहिलेशन ऑफ कास्ट (जाति प्रथा का उन्मूलन) के अंतर्गत हिंदू वर्ग व्यवस्था का विस्तार से वर्णन किया और छुआछूत तथा अस्पृश्यता की प्रथा में निहित अन्याय पर प्रकाश डाला। उन्होंने यह अनुभव भी किया कि उच्च जातियों के कुछ संत महात्मा और समाज सुधारक दलित वर्गों के प्रति सहानुभूति तो रखते हैं और उनकी समानता पर बल भी देते परंतु वे सामाजिक न्याय की दिशा में कोई ठोस योगदान नहीं दे पाए। अछूतों के आत्म विकास के लिए स्वयं अछूतों को ही आगे आना पड़ा। डॉ. अंबेडकर ने दलित वर्ग की जातियों को आत्म सुधार के साथ-साथ उनके आचरण व्यवहार को भी सुधारा। उन्होंने इन जातियों को मदिरापान तथा गोमांस भक्षण जैसी आदत छोड़ने की सलाह दी क्योंकि यह आदतें उनकी स्थिति के साथ-साथ जुड़े हुए कलंक का भी मूल स्रोत थीं। उन्होंने दलितों के आत्म विकास व आत्म सुधार के लिए दलितों में शिक्षा पर विशेष जोर दिया क्योंकि किसी भी समाज में चेतना तब तक नहीं आ सकती जब तक वहाँ शिक्षा का स्तर ऊँचा ना हो इसलिए दलित व शोषित वर्ग के उद्धार के लिए डॉ. अंबेडकर ने उनकी शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया।

इसके अतिरिक्त उन्होंने शासन के संस्थानों में दलित वर्गों के उचित और पर्याप्त प्रतिनिधित्व पर बल देते हुए उनको अपने अधिकारों की रक्षा हेतु न्यायालय का सहारा लेने का संदेश दिया साथ ही उन्होंने हिंदू धर्म के भीतर सवर्ण हिंदुओं व निम्न जातियों के बीच समानता का आंदोलन चलाया जिससे दलित वर्ग उच्च वर्ग के बराबर आ सके और अपने अधिकारों को प्राप्त कर सके। उन्होंने 'अंत्यज संघ' की भी स्थापना की, जिसका

उद्देश्य अछूतों की सेवा करना था। संघ चंदा लेकर अछूत विद्यार्थियों को वजीफा देकर उच्च शिक्षा के लिए प्रोत्साहित करता था। संघ ने विद्यार्थियों के लिए वाचनालय ,छात्रावास आदि स्थापित किया ताकि ज्यादा से ज्यादा अछूत विद्यार्थी इसका प्रयोग कर सकें। डॉ. अंबेडकर के अछूत सुधार के कार्य देश के सभी प्रान्तों मे फैल चुके थे।

डॉ. अंबेडकर दलितों के लिए जंजीर बनी वर्ण व्यवस्था के समूल विनाश के पक्ष में थे, क्योंकि जब तक यह व्यवस्था समाज में रहेगी तब तक सामाजिक न्याय को प्राप्त करना सपने देखने के बराबर होगा इसलिए उन्होंने भारतीय संविधान के अनुच्छेद 17 में इस वर्ण व्यवस्था पर कठोर प्रहार करते हुए छुआछूत उन्मूलन का प्रावधान किया जो डॉ. अंबेडकर के सामाजिक न्याय की प्रासंगिकता को सदियों तक बनाए रखेगा। गांधी जी ने एक बार कहा था कि सामाजिक समानता वर्ण व्यवस्था रहते हुए भी आ सकती है जिसका डॉ. अंबेडकर ने कड़े शब्दों में विरोध किया तथा सदैव वर्ण व्यवस्था को समाप्त करने का प्रयास किया।

डॉ. अंबेडकर ने दलितों की समस्याओं को प्रशासन व जनता तक पहुंचाने के लिए सन 1920 में मूकनायक साप्ताहिक पत्रिका शुरू किया। यही पत्रिका उनकी वाणी एवं विचारों का प्रमुख माध्यम बनी। मूकनायक के प्रथम अंक के संपादकीय आलेख में उन्होंने लिखा था भारत में सभी क्षेत्रों में विषमता व्याप्त है शिक्षा के बिना दलित समाज प्रगति नहीं कर सकता दरिद्रता, दुर्बलता, अज्ञान के कारण दलित वर्ग हाथ बल हुआ है। डॉ. अंबेडकर को जो स्वयं महार जाति से आते थे। वर्ण व्यवस्था के काटी अनुभवों को झेलना पड़ा था। अतः अछूतोद्धार उनके प्रमुख मिशन बन गया था। मूकनायक में अपने लिखे के माध्यम से उन्होंने हिंदू धर्म की बुराइयों को प्रकाशित किया डॉ. अंबेडकर को जागरण विश्वास था कि जब तक अछूतों में शिक्षा का प्रसार नहीं होगा तब तक उनकी स्थिति में सुधार नहीं होने वाला है। अतः अछूतों को शिक्षा का अवसर और सुविधाएँ प्रदान करने के लिए व्यवस्था को वह परम आवश्यक मानते थे। उन्होंने कहा शिक्षा समस्त उत्थान का मूल तंत्र है। डॉ. अंबेडकर ने विद्या को अपना उपास्य देवता माना था। उनका मंतव्य था कि भारत की उन्नति जनसाधारण में शिक्षा का प्रसार करके ही हो सकती है। शिक्षा कुछ ही लोगों के हाथ में नहीं होनी चाहिए बल्कि समाज के सभी वर्गों को शिक्षा का शुभ अवसर प्राप्त होना चाहिए। डॉ अंबेडकर ने कहा कि "हिंदू समाज के निम्न तपके में से आने के कारण शिक्षा के महत्व को मैं भली-भांति जानता हूँ पर यह गलत धारणा है। दलित समाज की रोटी, कपड़ा और मकान देकर परंपरानुसार उन्हें उच्च वर्ग की सेवा करने में लगाना सच्ची उन्नति नहीं है। निम्न वर्ग की प्रगति इससे रुक जाती है। उन्हें दूसरों का गुलाम बनना पड़ता है। स्वयं और राष्ट्र की दृष्टि से किस प्रकार दलितों का महत्व है इसका एहसास करा देना यही निम्न वर्ग का प्रश्न है। उच्च शिक्षा के प्रसार के बिना या सब होने वाला नहीं है हमारे सभी नागरिक बीमारियों का मेरी दृष्टि में यही एक रामबाण उपाय है।"

1924 में बहिष्कृत हितकारिणी संघ की स्थापना करके स्थाई एवं प्रभावित तौर पर कार्य आरंभ किया। वह अछूतों की समस्याओं को इसलिए ज्यादा अच्छी तरह समझते थे क्योंकि वह अछूतों की बात सोचते थे और अनुभव करते थे। वह किसी भी स्थिति में हिंदू सुधार को पर निर्भर नहीं रहना चाहते थे। वस्तुतः इन परिस्थितियों को देखते हुए और झेलते हुए उनकी वाणी में अधिक वेदना वह तड़प पता ही आ गई थी। वह जानते थे कि यह अछूत समस्या न सिर्फ अछूत वर्ग को ही नष्ट करेंगी बल्कि संपूर्ण समाज व राष्ट्र की उन्नति में भी बाधक होगी। इस बहिष्कृत हितकारी सभा के द्वारा उन्होंने समाज में चेतना पैदा करने के लिए, समाज को जगाने के लिए तथा अपने अधिकारों के प्रति सजग करने के लिए बहिष्कृत समाज को आंदोलन किया और उसे संघर्षरत बनाया। उन्होंने समाज में यह चेतना पैदा की कि वह भारत के नागरिक हैं और उन्हें भी दूसरों की तरह जीवन

की मूल सुविधाओं को प्राप्त करने का अधिकार है जो दूसरे नागरिकों को मिल रही है। सन 1925 में उन्होंने मुंबई में बहुत से सभाओं सम्मेलनों और गोष्ठियों में भाग लिया। उन्होंने समाज को संगठित होकर अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने के लिए प्रेरित किया,उनका आंदोलन अहिंसक था।

डॉ. अंबेडकर देश की स्थिति को भली भांति समझते थे। वह यह जानते थे कि दलितों के लिए चलाए जा रहे विभिन्न प्रकार के आंदोलन से भी दलितों की स्थिति सुधरने वाली नहीं है। जब तक कि यह वर्ग स्वयं आंदोलन करने के लिए अपने आप को तैयार नहीं करता है। उन्होंने यह देखा कि अनेकों आंदोलन के बाद भी दलितों की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है तब उन्होंने आंदोलन को तेज करने का निर्णय किया। 1927 में किए गए महार सत्याग्रह ने देश को चौंका दिया। यह एक ऐतिहासिक अवसर था जब डॉ अंबेडकर ने चाऊदार टैंक का पानी पिया और मनुस्मृति को सार्वजनिक रूप से जलाया। कलाराम मंदिर के प्रवेश की घटना भारतीय सुधार आंदोलन की महत्वपूर्ण कड़ी है। अंग्रेजी सरकार ने अछूतों के मंदिर प्रवेश से संबंधित बिल पर भारत के समाज के विद्वान के मत प्राप्त किया इन मतों से यह निष्कर्ष निकलता है कि हिंदू समाज से अछूतों को अछूत पन समाप्त कर दिया गया तो हिंदू धर्म का आधार है।

डॉ. अंबेडकर का कहना था कि सामाजिक समानता की प्राप्ति लोकतंत्र में ही संभव है क्योंकि इसमें सबको समान अधिकार प्राप्त होते हैं तथा सबको आगे बढ़ने का एक समान अवसर मिलता है। अत: सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए लोकतंत्र व्यवस्था सबसे अच्छा वातावरण देती है। यह विचार डॉ अंबेडकर के विचारों के महत्व पर प्रकाश डालता है। उनके अनुसार सही लोकतंत्र वह है जिसमें सभी लोग आपस में सारे सुख-दुख बांटकर अपना जीवन यापन कर सके। वह शक्तियों के विकेंद्रीकरण पर जोर देते थे क्योंकि जब पंचायत तक शक्ति का बंटवारा रहेगा तो निम्न वर्ग के लोगों को अपनी शक्ति और अपने अधिकारों का पता चल सकेगा तथा यह व्यवस्था देश व समाज दोनों को जोड़कर रखने में अत्यधिक सहायक होती है। इसमें दलित वर्ग को भी राजनीति में आने का अवसर मिलता है जो की सामाजिक न्याय लाने के लिए जरूरी है। डॉ. अंबेडकर ने सामाजिक, राजनीतिक समानता तथा कानून के समक्ष समानता स्थापित करके सभी को उनके अधिकारों के बारे में बताया। इस प्रकार सामाजिक न्याय की प्राप्ति में डॉ. अंबेडकर का महत्वपूर्ण योगदान है जो कि सदियों तक यूं ही बना रहेगा।

डॉ. अम्बेडकर दलितों के संघर्ष और समाज के संवेदन बिंदु थे। वह अछूतों के मसीहा थे। मानव कल्याण और मानव अधिकार ही उनका उद्देश्य था। दलित दुख निवृत्ति का आवाहन करते हुए डॉ. अंबेडकर ने कहा "धन्य है वह पुरुष जो उन लोगों के जीवन स्तर को ऊँचा उठने के कर्तव्य के प्रति सचेत है जिनमें वह पैदा हुए सौभाग्यशाली हैं। वह पुरुष जो अपने दोनों एवं रातों को दस्त के प्रति विद्रोह के आंदोलन के प्रगति में निश्चयावर करते हैं। धन्य हैं वे लोग जो यह प्रतिज्ञा करते हैं कि वह उसे समय तक दम नहीं लेंगे जब तक अछूत मानवता को प्राप्त नहीं कर ले भले ही मार्ग में अच्छाई बुराई धूप तूफान सम्मान आना डर आदि आए पर वह नहीं रुकेंगे।"

संदर्भ :

1. हर्ष हरदान, डॉ. बी आर अंबेडकर, जीवन तथा दर्शन, पंचशील प्रकाशन, जयपुर सन् 1993.
2. मन, बसंत, डॉ. बी.आर. अंबेडकर, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, 1991
3. कीर, धनंजय, "डॉ आंबेडकर लाइफ एंड मिशन", पप्युलर प्रकाशन, बम्बई, तृतीय संस्करण, 1962 पृ. 8
4. सहारे, एम.एस., "डॉ भीमराव अंबेडकर है लाइफ एंड वर्क", नई दिल्ली, 1987, पृ. 29
5. गाबा, ओ.पी., "राजनीतिक चिंतन की रूपरेखा", मयूर पेपर बॉक्स, नोएडा, 2005, पृ. 339

6. अंबेडकर, बी.आर., 'एनीहिलेशन ऑफ कॉस्ट', थैकर एंड कंपनी, बॉम्बे, 1937, पृ. 48
7. सिंह, रामगोपाल, 'सामाजिक न्याय एवं दलित संघर्ष', राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर 1994, पृ. 95
8. पुजारी, विजय कुमार, 'डॉ अंबेडकर जीवन दर्शन', गौतम बुक सेंटर, शाहदरा, दिल्ली 2010, पृ. 123
9. पूरणमल, 'अस्पृश्यता एवं दलित चेतना' पोइंटर पब्लिकेशंस, जयपुर, 2007
10. भीमराव अंबेडकर, 'व्यक्तित्व एवं कृतित्व' समता प्रकाशन, जयपुर, 1991
11. अरविंद कुमार बिंदु एवं ताराचंद, 'डॉ. अंबेडकर एक क्रांतिकारी व्यक्तित्व' अंबेडकर प्रकाशन, जलालपुर, 1994

❑❑❑

आलेख

पूर्वोत्तर की लाली

अरुणाचली हिंदी कविता में बौद्ध धर्म-संस्कृति, 'स्मृति' और दोरजी लोन्पु की कविताएँ

❍ अभिषेक कुमार यादव✡

[यह लेख आईसीएसएसआर (ICSSR), नई दिल्ली द्वारा संपोषित एक मेजर प्रोजेक्ट 'अरुणाचल प्रदेश की बौद्ध जनजातियों का लोक-साहित्य : सामाजिक मूल्य-बोध, जीवन-दर्शन और सांस्कृतिक चेतना' के तहत लिखा गया है।]

यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि हिमालय के समूचे विस्तार को बौद्ध धर्म के बिना नहीं समझा जा सकता है। बौद्ध धर्म की महायान शाखा ने पूरे हिमालय में रहने वाले लोगों के भौतिक और आध्यात्मिक जीवन के आंतरिक रेशों तक को प्रभावित किया है। यह कह सकते हैं कि इस 'हिमाला' के रहने वाले लोगों और सच कहें तो यहाँ के पूरे वातावरण को ही दो हिस्सों में देखा जा सकता है- बौद्ध धर्म के पहले का काल और बौद्ध धर्म के बाद का काल। बौद्ध धर्म इस क्षेत्र में केवल एक धर्म के रूप में ही स्थापित नहीं हुआ बल्कि उसने लोगों के जीवन, रहन-सहन, खान-पान और जीवनचर्या को भी प्रभावित किया। बौद्ध धर्म के इस क्षेत्र में प्रभावी होने के पहले यहाँ की जनजातियाँ पारंपरिक लोक-विश्वासों और मान्यताओं को मानती थीं। इन विश्वासों को 'बोन' कहा जाता है। सातवीं सदी में तिब्बत के राजा श्रोङ्ग त्सान गम्पो की शादी चीन की राजकुमारी से हुई। चीन में उस समय तक बौद्ध धर्म का काफी प्रचार हो चुका था और चीन का राजपरिवार बौद्ध धर्म और दर्शन का अनुयायी था। जब इस धर्म और दर्शन को मनाने वाली राजकुमारी तिब्बत पहुंची तो उसके माध्यम से बौद्ध धर्म भी वहाँ पहुंचा। हालांकि चीन और तिब्बत के सम्बन्धों में होने वाले उतार-चढ़ाव के कारण तिब्बत के राजपरिवार ने बौद्ध धर्म और दर्शन के प्रचार के लिए चीन की बजाय बौद्ध धर्म के मूल देश भारत की ओर रुख किया।

उन दिनों तक यानी कि सातवीं सदी तक भारत में बौद्ध धर्म में दर्शन के साथ-साथ तंत्रयान-मंत्रयान का भी बोलबाला हो गया था। चीन में बौद्ध धर्म पहली-दूसरी शताब्दी में ही पहुँच चुका था। उस समय बौद्ध दर्शन का स्वर्ण-काल चल रहा था। तक्षशिला, गांधार, मथुरा आदि क्षेत्रों में कई प्रसिद्ध बौद्ध-दार्शनिक थे। इसके अतिरिक्त उस समय तक बौद्ध धर्म को कई राजाओं का समर्थन भी मिल रहा था और उसकी दार्शनिक मान्यताएँ

✡ *डॉ. अभिषेक कुमार यादव, असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, राजीव गांधी विश्वविद्यालय, अरुणाचल प्रदेश, पूर्व फेलो, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला।*

जिज्ञासुओं को अपनी तरफ आकृष्ट भी कर रही थीं। यही कारण है कि चीन में प्रचलित बौद्ध धर्म में दर्शन पर अधिक जोर है। इससे अलग तिब्बत के राजपरिवार ने सातवीं सदी में भारत से बौद्ध धर्म गुरुओं को आमंत्रित किया। यही कारण है कि तिब्बत के बौद्ध धर्म में दर्शन के साथ-साथ मंत्र-तंत्र पर अधिक जोर है[1]।

अरुणाचल प्रदेश के पश्चिमी हिस्से में रहने वाली 'मोन्पा' जनजाति के लोग भी तिब्बत में प्रचलित बौद्ध धर्म की इसी शाखा के अनुयायी हैं। इस क्षेत्र में तावांग का प्रसिद्ध गोन्पा (बौद्ध मठ) है जो इस क्षेत्र में रहने वाले लोगों के लिए एक आध्यात्मिक और प्रशासनिक केंद्र दोनों ही रहा है। तिब्बत की राजधानी ल्हासा से बौद्ध धर्म हिमालय के सीमावर्ती क्षेत्रों में फैला। कई धर्म गुरुओं ने इसमें अपना योगदान दिया। इस मामले में सबसे बड़ा योगदान गुरु पद्म संभव का माना जाता है। वे पूरे हिमालय में एक किवंदन्ती की तरह मौजूद हैं।

अरुणाचल प्रदेश के इस पश्चिमी बौद्ध क्षेत्र के निवासियों के जीवन में बौद्ध धर्म के गहरे प्रभाव को दोरजी लोन्पु[2] की कविता 'पुङतेङ' की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार इंगित करती हैं- "यहाँ के लोग बुद्ध के आदेशों का/ पालन करते हैं...... तोरग्या त्योहार में/ हर गाँव के लोग आते हैं/ छोईमू और पोस/ जलाकर बुद्ध के आदेश की रक्षा करते हैं/..... सुख और दुख/ दोनों में ही बुद्ध को याद करते हैं"[3]।

दोरजी खुद बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं और यह उनकी अपनी इच्छा या विवेक से नहीं है बल्कि यह धर्म और इसकी परम्पराएँ उन्हें विरासत में मिली हैं। दुनिया के अधिकांश लोगों के धार्मिक विश्वासों के मामले में यही बात सही है। बौद्ध धर्म, उसकी मान्यताओं, जनजातीय जीवन, उसकी परम्पराओं और संस्कृति से ही दोरजी लोन्पु के व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है और इसीलिए इन सारी चीजों का उनकी कविताओं पर बहुत गहरा प्रभाव है। यह बात इस कविता-संग्रह के प्रारम्भ में 'अपनी बात' कहते हुए दोरजी स्वयं स्वीकार करते हैं, "शब्द अर्थवान ही नहीं होते हैं- हमारी पहचान से भी ताल्लुक रखते हैं। दिशासूचक यंत्र की तरह ये शब्द मेरे मोन्पा होने की पहचान है क्योंकि बुद्ध मेरे में बसे हैं"[4]। दोरजी की कई कविताएं बुद्ध और उनके दर्शन के इर्द-गिर्द घूमती हैं। उनकी कुछ कविताओं में एक सघन करुणा महसूस होती है और यह कहना अनुचित न होगा कि इसका कारण बौद्ध धर्म का प्रभाव ही है।

दोरजी लोन्पु की कविताओं में 'स्मृति' एक प्रमुख तत्व के रूप में बार-बार प्रकट होती है। कविता या जीवन में स्मृति का बहुत महत्व है। इसके बिना मनुष्य अपने संचित अनुभवों से वंचित रह जाएगा और इस तरह वह थोड़ा कम मनुष्य रह जाएगा। कवियों और आलोचकों ने समान रूप से इसके महत्व को स्वीकार किया है। स्मृति के इस महत्व के बावजूद यदि यह स्मृति मनुष्य के जीवन को आच्छादित कर ले तो मनुष्य भविष्य की राह पर आगे बढ़ ही नहीं पाएगा। यह स्मृति जब किसी कवि के लिए व्यामोह बन जाती है तो इससे कवि और कविता दोनों का ही क्षरण होता है। दोरजी के यहाँ स्मृति बहुत प्रभावपूर्ण तरीके से अपनी उपस्थिति दर्ज कराती है किन्तु बहुत बार वह व्यामोह बनकर कवि के व्यक्तित्व और कविता के मर्म को ढँक लेती है। ऐसी स्थिति में कविता केवल एक वक्तव्य या अतीत का विवरण मात्र बनकर रह जाती है। यह कहना अन्याय होगा कि 'स्मृति' के प्रभाव में लिखी गई दोरजी की सभी कविताएं कमजोर कविताएं हैं या स्मृति के व्यामोह ने उन्हें ढँक लिया है। इस संग्रह की पहली कविता में स्मृति बहुत ही प्रभावपूर्ण रूप में प्रकट हुई है। 'मोनयुल के पेङ्गदाङ में खिले फूल' कविता में कवि मोनयुल के पहाड़ों, जंगलों, घाटी और गांवों में खिलने वाले हजारों किस्म के फूलों की विस्मित कर देने वाली स्मृति का चित्र प्रस्तुत करता है। यह कविता प्रकृति की विराटता, विविधता और वर्तमान में पड़ रहे दबाव को बहुत ही रचनात्मक तरीके से अभिव्यक्त करती है।

दोरजी के लिए परिवार बहुत महत्वपूर्ण है। यह परिवार भी स्मृतियों के सहारे उनकी कविता में आता है। उन्होंने अपनी माँ, पिता, दादा और दादी पर केन्द्रित कवितायें लिखी हैं। इसके साथ ही अन्य परिवार जन भी

छिटपुट यहाँ–वहाँ प्रकट हुए हैं। इन कविताओं में कुछ कविताएं तो बहुत ही मार्मिक बन पड़ी हैं। ऐसी ही एक कविता है जिसका शीर्षक है, 'मेरी माँ के हाथों बुना स्वेटर'। इस कविता की कुछ पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं, "मेरी माँ स्वीटर बुनती थी/ उनके हाथों में जादू था..... समय के साथ/ मेरी माँ बूढ़ी हो गई है/ ऊपर से पश्चिमी पोशाक के चलते/ अब मेरी माँ के बुने स्वेटर धरे रह गए हैं/ इन दिनों माँ की आँखों से दिखाई कम दे रहा है/ उसी तरह अब हमें उनके बनाए/ स्वेटर दिखाई नहीं दे रहे हैं...... आज भी स्वेटर को याद करता हूँ/ तब बचपन की यादें सताती हैं/ फिर अपनी माँ और उनके बुने स्वेटर/ को याद करके बेकल हो जाता हूँ/ और तब/ आगे बढ़ जाता हूँ अपने काम पर/ अपनी माँ के हाथों बुने हुए स्वेटर को/ मन ही मन पहने हुए।"[5] इस कविता के मर्म और इसमें छुपे हुए अर्थ को लक्षित करते हुए इस संग्रह की भूमिका में डॉ. राजीव रंजन प्रसाद ने लिखा है कि, "यह कविता पढ़ते हुए इसका प्रभावी अर्थ पाठक को देर तक महसूस होता है। अंधाधुंध बदलाव की चपेट में आदिवासी जनजातियाँ अपनी लोक–कलाओं और लोक–स्वभाव को भूलती जा रही हैं या कि उनको विस्मृत कर दिये जाने को बाध्य हो चुकी हैं। इस पीड़ा की गहन अनुभूति कविता में मौजूद है जिसे दोरजी लोन्पु ने बड़ी संवेदनशीलता से उद्घाटित किया है"[6]। इस कविता को दो स्तरों पर समझा जा सकता है। एक स्तर तो वही है जिसे डॉ. प्रसाद अपने कथन में लक्षित करते हैं। पूंजीवादी बाजार ने दुनिया के लगभग सभी समाजों की स्थानीय कलाओं और विशेषताओं को किसी न किसी रूप में कमजोर किया है तथा एक नितांत कृत्रिम किस्म की एकरूपता लाने की कोशिश की है। इस व्यवस्था द्वारा यदि विविधता को प्रकट भी किया जाता है तो उसमें मुनाफे की स्वार्थपूर्ण भावना इस कदर शामिल रहती है कि पूरा प्रकटीकरण भोंडे किस्म का प्रदर्शन बन जाता है। इस कविता में कवि की यह चिंता है कि उसकी माँ की स्वेटर बुनने की कला को बाजार ने खत्म कर दिया है। इस वैचारिक पक्ष के साथ ही इस कविता में एक भावपूर्ण स्मृति भी है। माँ के हाथों बने हुए रंगीन स्वेटर, दस्तानें, सुरुचिपूर्ण भोजन इन सबसे बच्चों का एक विशेष किस्म का लगाव रहता है। समय, रोजगार की चिंता और जीवन की आपाधापी इस लगाव को भी क्षीण कर रही है, इस बात को यह कविता बहुत ही मर्मपूर्ण तरीके से अभिव्यक्त करती है। इसी तरह की एक दूसरी कविता 'छूसकोर' है। पनचक्की को दोरजी के क्षेत्र में छूसकोर कहा जाता है। दादाजी इसे चलाते थे। जब बूढ़े हो गए तो परिवार और अन्य लोगों के आग्रह पर उन्हें छूसकोर छोड़ कर गाँव में आकर रहना पड़ा। यह कविता एक बार फिर नई तकनीकी के दबाव में परंपरागत तकनीकी के खत्म होने की बात को उठाती है किन्तु उससे ज्यादा यह उस मानवीय पक्ष को उठाती है जिसमें एक 'निर्जीव' छूसकोर से दादा जी का जीवंत संबंध बन गया था। अपनी शारीरिक अक्षमता के बावजूद बूढ़े दादाजी उस छूसकोर को छोड़ कर जाना नहीं चाहते हैं। जब जाना ही पड़ता है तो वे जाने से पहले 'उस छूसकोर के सामने/ माथा टेकते हुए/ कह रहे थे कि/ अब मैं नहीं लौटूँगा/ आपने मुझे खिलाया–पिलाया/ आपका ये एहसान मुझ पर/ हमेशा रहेगा"[7]। रचनाकार को पता है कि समय के साथ छूसकोर तो खत्म ही हो जाएगी लेकिन उसे डर है कि कहीं उसके मन से छूसकोर की यादें भी न मिट जाय। वह कहता है कि "पर सोचता हूँ/ छूसकोर का नाम/ किताबों में भी रहेगा/ या बचेगा कि नहीं?/ यह बात शायद/ किसी को भी नहीं पता/ मुझे डर है/ फिर मेरी यादों का क्या होगा"[8]। लेखक इस बात से भयभीत है कि उसकी सांस्कृतिक यादें भी न खत्म हो जाय। किसी भी समाज के लिए इससे ज्यादा चुनौतीपूर्ण स्थिति क्या होगी कि उसकी सांस्कृतिक अस्मिता तो खतरे में है ही, उस अस्मिता की 'स्मृति' का अस्तित्व भी खतरे में है। दोरजी की कविताओं में जब स्मृति इस रूप में प्रकट होती है तो वह एक सांस्कृतिक परंपरा का प्रतिनिधित्व करने लगती है और बेहद महत्वपूर्ण हो जाती है।

हालांकि दोरजी की सभी कविताओं में स्मृति इसी रूप में प्रकट नहीं हुई है। कुछ ऐसी कवितायें भी हैं जिनमें 'स्मृति' बहुत स्थूल रूप में प्रकट हुई है। इन कविताओं में स्मृति के प्रति व्यामोह दिखाई देता है। इसका

उदाहरण 'क्या' कविता है। यह कविता बचपन की यादों के बारे में हैं। इसमें स्मृतियों का व्यामोह दिखता है। हिन्दी साहित्य में इस तरह की बहुतेरी कवितायें लिखी गई हैं और वे बहुत प्रसिद्ध भी हुई हैं लेकिन इन कविताओं की एक बड़ी कमजोरी यह है कि वे यथार्थ से पलायन की भावना से भरी होती हैं। यदि मानव समाज की हर पीढ़ी यही सोचने लगे कि 'पुराना जमाना ही अच्छा था' तो पूरा मानव समाज ही नोस्टैलजिआ का शिकार हो जाएगा। यह प्रवृत्ति चाहे जितनी मोहक लगे लेकिन यह मानव-समाज के उत्तरोत्तर विकास में एक भावनात्मक बाधा है। कवि की ऐसी ढेरों कवितायें हैं जिनमें इस तरह का भाव दिखाई देता है।

गाँव के जीवन और लोगों के प्रति लेखक की कविताओं में अति आदर्शवाद दिखता है। यह अरुणाचल प्रदेश के अधिकांश कवियों की कविताओं में दिखता है। जमुना बीनी और तारो सिंदिक की कविताओं में भी हम इस बात को लक्षित कर सकते हैं। स्मृतियों के सहारे कविता तक पहुंचा यह गाँव इस कदर निर्दोष हो गया है कि यथार्थ से दूर हो गया है। 'गाँव' कविता में इस भाव को देखा जा सकता है, "दरअसल गाँव हमें जीवन के सही मार्ग पर चलना सिखाते हैं/ गाँव हमें पूर्ण श्रद्धा के साथ जीने की आजादी देते हैं"[9]। गाँव मनुष्य को पूर्ण श्रद्धा के साथ जीने की आजादी देते हैं, यह बात भारत के किसी गाँव पर लागू नहीं होती है। अरुणाचल प्रदेश के बौद्ध क्षेत्र में भी यह बात यथार्थ नहीं है। इन गांवों में भी एक 'तंत्र' है जो मनुष्य की आजादी को बाधित करता है। श्रद्धा बहुधा परिस्थितियों की दास होती है। वह स्वयं ही स्वतंत्र नहीं होती है तो उसके साथ मनुष्य ही कितना स्वतंत्र हो सकेगा। कवि ने गाँव और शहर के द्वंद्व को भी अपनी कविताओं के माध्यम से प्रकट करने की कोशिश की है। शहर का जीवन उसे अमानवीय और निष्ठुर लगता है जबकि गाँव का जीवन आत्मीयता से भरा हुआ। यह कहना ही होगा कि गांवों के प्रति इस तरह की छवि ने न सिर्फ गाँव के जीवन के प्रति बने हुए रोमांटिक भरम को बरकरार रखने में मदद की है बल्कि गांवों की समस्याओं और यथार्थ जीवन को अलक्षित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। दोरजी की एक कविता में गाँव की आमा (माँ) और शहर की आमा के जीवन और व्यवहार का फर्क दिखाया गया है। यह कविता अपनी वस्तुगत कमजोरी के कारण कृत्रिम लगने लगती है। इस कविता में कवि गाँव में रहने वाली 'माँ' को संबोधित करते हुए कहता है कि 'आमा आप नगर की/ आमा से बिलकुल अलग हो....आमा मैं आपको/ किस नाम से बुलाऊँ'। इसके बाद कवि गाँव में रहने वाली माँ के जीवन की चुनौतियों, दुखों और इन सबके बीच उसके स्नेहिल स्वभाव को याद करता है, उससे वादे करता है और बार-बार यह कहता है कि वह (गाँव में रहने वाली माँ), शहर में रहने वाली माँ से बिलकुल अलग है। यह कहते हुए भी कविता यह संप्रेषित करने में असफल रहती है कि आखिर इन दोनों माओं में क्या फर्क है। बस एक जगह कवि इत्र और श्रृंगार के मामले में कुछ फर्क इंगित करता है और यहीं पर कविता कमजोर हो जाती है। शहर में रहने वाली माँ की अपनी चुनौतियाँ, दुख और सपने हैं। कवि जिस फर्क को इंगित करता है वह वर्ग-विशेष का फर्क हो सकता है लेकिन वह माओं के स्वभाव में फर्क का कारण नहीं हो सकता।

दोरजी सामाजिक और राजनीतिक रूप से चैतन्य कवि हैं। वे इस बात को दर्ज करते हैं कि वे कविता क्यों लिखना चाहते हैं? वे कहते हैं मैं, "उन बेढब बदलावों को रोकना चाहता हूँ जो अरुणाचल प्रदेश के असल रंग को मलिन और धूमिल कर रहे हैं"[10]। इसीलिए, "मैं कई दफा सोचता था कि इस नियम और संस्कृति के ऊपर कुछ कहना चाहिए या फिर कुछ लिखना चाहिए...."[11]। उनकी राजनीतिक चैतन्यता इतनी प्रबल है कि वे भारत की आजादी के आंदोलन में सामान्य लोगों के योगदान को और फिर उनकी उपेक्षा को बहुत पीड़ा के साथ दर्ज करते हैं, "भारत की आजादी में/ सबका खून, पसीना, योगदान है/ पर विकास के बैनर में/ उनकी पहचान एक बदनुमा दाग है"[12]। दोरजी अन्य अरुणाचली कवियों की तरह अपनी आदिवासी पहचान को लेकर बहुत सजग हैं। अपनी बौद्ध पहचान के साथ ही वे अपनी आदिवासी पहचान को भी अपने अस्तित्व से जोड़कर

देखते हैं। वे पूंजीवाद के प्रभाव से विकसित उपभोक्तावादी संस्कृति की आलोचना करते हैं और इसे अपने समाज और संस्कृति के लिए खतरे की तरह देखते हैं। भूमंडलीकरण और उपभोक्तावादी संस्कृति केन्द्रित दुनिया में अपनी संस्कृति के खत्म हो जाने का डर कवि को लगता है। 'पुङ्गतेङ्ग' कविता में वे लिखते हैं, "सच कहूँ तो डर भी है/ नए बनते विश्व में/ यह पावन जगह और श्रद्धालु लोग/ अपनी मूल पहचान बनाए और बचाए रहेंगे/ हम बुद्ध के देश में/ क्या बुद्ध को सुरक्षित रख पाएंगे"[13]। इस नए बनते समाज और संस्कृति ने पारंपरिक आदिवासी गांवों के साथ क्या किया है, इसकी बानगी दोरजी की कविताओं में देखने को मिलती है। वे लिखते हैं, "जहां पहले किसानों का बीड़ होते थे/ अब वहाँ बीड़ का नामोनिशान नहीं/ केवल इमारतों का नजारा देखने को मिलता है...... पर नदी का रंग बदल गए हैं/ अब थोड़ी-सी बदबू आती है/ मैं बार-बार उस नदी और खेती को देखना चाहता हूँ/ जहां किसानों की खुशी/ और मछुआरों की प्रसन्नता एक जैसे थे"[14]। बेतरतीब तरीके से हो रहे शहरीकरण से परेशान कवि अपना दुख 'शिलोंग का प्रवास' कविता में भी व्यक्त करता है।

इन विपरीत परिस्थितियों में भी कवि के भीतर अपनी संस्कृति और परंपरा से जुड़े रहने और उसे बचाने की एक बेचैनी है। वे केवल अपने लिए नहीं सोचते हैं, बल्कि अपने समुदाय के साथ खुद को जोड़कर देखते हैं। 'बस्ती और किसान' कविता में वे लिखते हैं, "अपनी जो ख्वाब हैं/ केवल अपने जीने की नहीं है/ बल्कि यह उम्मीद है/ यह एक चेतना है/ अपनी परंपरा से जुड़े रहने का/ अपनी आदिवासियत को/ जिंदा रखने का/ खुद जिंदा रहने की शर्त पर।[15] आदिवासी संस्कृति के मूल में पारस्परिक सहयोग की भावना है और यह सहयोग केवल मनुष्य समाज के दायरे में ही नहीं है बल्कि यह प्रकृति के अन्यान्य हिस्सों से भी जुड़ा हुआ है। येङ्ग (भेड़) कविता में दोरजी लिखते हैं, "येङ्ग, लुकपोन और गाँव एक दूसरे पर निर्भर हैं"[16]। इसी निर्भरता की बात वे 'याह' कविता में भी करते हैं। याह यानी कि याक पर मोन्पा समाज की निर्भरता को बहुत ही अपनत्व के साथ कवि ने इस कविता में चित्रित किया है।

वर्तमान आर्थिक व्यवस्था के कारण आदिवासी समाजों का पारंपरिक अर्थ-तंत्र नष्ट हो गया है जिसके कारण इन समाजों में भी अमीरी-गरीबी की व्यवस्था बन गई है। यहाँ इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि अरुणाचल प्रदेश के अन्य आदिवासी समाजों की तुलना में मोन्पा समाज के लोगों के लिए वर्तमान अर्थ-तंत्र बहुत ज्यादा अपरिचित नहीं है। तिब्बत के धार्मिक और प्रशासनिक व्यवस्था का एक प्रमुख पहलू अर्थ-तंत्र भी था। टैक्स इकट्ठा करने की व्यवस्था तिब्बत के प्रभाव वाले क्षेत्रों में पहले से ही लागू थी। इसके अतिरिक्त ल्हासा ने कई व्यापारिक मार्गों के माध्यम से व्यापार को भी बढ़ावा दिया था। यही कारण है कि इन चीजों से मोन्पा लोग पूरी तरह से अनजान नहीं हैं। हालांकि इस व्यवस्था की तुलना वर्तमान की पूंजीवादी व्यवस्था से करना न सिर्फ असंगत होगा बल्कि मूर्खतापूर्ण भी होगा। वर्तमान की पूंजीवादी व्यवस्था संसाधनों के अकूत संग्रहण और मुनाफे तथा व्यापार की गलाकाट प्रतिस्पर्धा के सिद्धान्त पर चलने वाली व्यवस्था है जबकि तिब्बत की व्यापारिक व्यवस्था एक सामंती-धार्मिक तंत्र के संचालन की प्रक्रिया में विकसित व्यवस्था थी।

गरीबी का बहुत मार्मिक चित्रण दोरजी की कविताओं में देखने को मिलता है। वे गरीबी को तीन रूपों में प्रकट करते हैं, गरीबी का स्वाभिमान, गरीबी का आनंद तथा गरीबी का कष्ट। उनकी कविता 'अभाव में पलते लोग' में वे लिखते हैं, "अभाव में रहने वाले/ जिंदा रहने के लिए/ पेट की पूजा करते हैं/ किसी से नहीं पूछते/ खाने का क्या धर्म है?"[17]। इसी कविता में वे यह भी लिखते हैं कि, "भूख के साथ शांतिपूर्वक जीना/ जिसने सीख लिया/ समझो सब सुख पा लिया"[18]। इस कविता की मुश्किल यही है कि यह वस्तुगत सत्य के साथ तादात्म्य नहीं बिठा पाती है। गरीबी एक पूरा अर्थशास्त्र होता है। उसकी सभी आध्यात्मिक व्याख्याएँ नितांत अमानवीय हैं। यह एक ऐसा मकड़जाल है जिसका निर्माण खुद व्यवस्था द्वारा किया जाता है।

कवि का व्यक्तिगत जीवन बहुत बार उसकी कविताओं पर हावी हो गया है। यह कवि का पहला कविता-संग्रह है और इसलिए यह थोड़ा सहज ही लगता है। उसके व्यक्तिगत दुख और निराशा और फिर उन दुखों से निकलने के लिए 'मोटिवेशनल स्पीच' जैसी कई कविताएं इस संग्रह में शामिल हैं। 'मेरी हंसी', 'संभावना' 'क्या', 'हर दिन' ऐसी ही कविताएं हैं। कवि अपनी निराशा में कई बार पलायनवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए दिखता है। वह इस कदर निराशा में है कि वह इसे अपनी नियति के रूप में स्वीकार कर लेता है। यह अभाव बहुआयामी है। "परंतु दुख से मेरा गहरा नाता है/ इसीलिए मुझसे भुला नहीं गया"[19]। 'हर दिन' कविता में भी वह अपने को दुख से भरा हुआ बताता है। "कहीं दूर चला जाऊँ/ ताकि जिंदगी में/ दुख कम हो/ और शांति हो ज्यादा"[20]। लेकिन उसे उम्मीद भी है कि कठिन दौर कभी खत्म होगा, "हर रात के बाद सुबह होना/ यह प्रकृति का अटल नियम है"[21]। बकौल मिर्जा जौक 'अब तो घबरा के ये कहते हैं कि मर जाएंगे', वहीं बकौल साहिर, 'रात भर का है मेहमां अंधेरा, किसके रोके रुका है सवेरा'।

संदर्भ :

1. William Montgomery McGovern, An Introduction To Mahayana Buddhism- With especial Reference to Chinese and Japanese Phase, Routledge Library Edition, Frist published in English in 1922, This edition published in 2011, New York-10016, Pg. 199
2. दोरजी लोन्पु अरुणाचल प्रदेश के हिन्दी के युवा कवि हैं। उनका पहला कविता-संग्रह 'मोनयुल के पेङदाङ में खिले फूल' 2023 में अनिरुद्ध बुक्स, दिल्ली से प्रकाशित हुआ है। दोरजी अरुणाचल प्रदेश की मोन्पा जनजाति से संबंध रखते हैं। वे पश्चिमी अरुणाचल के जिले तावांग के रहने वाले हैं।
3. दोरजी लोन्पु, मोनयुल के पेङदाङ में खिले फूल, 2023, अनिरुद्ध बुक्स, दिल्ली, पृ. 19
4. दोरजी लोन्पु, मोनयुल के पेङदाङ में खिले फूल, 2023, अनिरुद्ध बुक्स, दिल्ली, पृ. 11
5. दोरजी लोन्पु, मोनयुल के पेङदाङ में खिले फूल, 2023, अनिरुद्ध बुक्स, दिल्ली, पृ. 31
6. दोरजी लोन्पु, मोनयुल के पेङदाङ में खिले फूल, 2023, अनिरुद्ध बुक्स, दिल्ली, पृ. 8
7. दोरजी लोन्पु, मोनयुल के पेङदाङ में खिले फूल, 2023, अनिरुद्ध बुक्स, दिल्ली, पृ. 37
8. दोरजी लोन्पु, मोनयुल के पेङदाङ में खिले फूल, 2023, अनिरुद्ध बुक्स, दिल्ली, पृ. 37
9. दोरजी लोन्पु, मोनयुल के पेङदाङ में खिले फूल, 2023, अनिरुद्ध बुक्स, दिल्ली, पृ. 55
10. दोरजी लोन्पु, मोनयुल के पेङदाङ में खिले फूल, 2023, अनिरुद्ध बुक्स, दिल्ली, पृ.13
11. दोरजी लोन्पु, मोनयुल के पेङदाङ में खिले फूल, 2023, अनिरुद्ध बुक्स, दिल्ली, पृ. 11
12. दोरजी लोन्पु, मोनयुल के पेङदाङ में खिले फूल, 2023, अनिरुद्ध बुक्स, दिल्ली, पृ. 47
13. दोरजी लोन्पु, मोनयुल के पेङदाङ में खिले फूल, 2023, अनिरुद्ध बुक्स, दिल्ली, पृ. 20
14. दोरजी लोन्पु, मोनयुल के पेङदाङ में खिले फूल, 2023, अनिरुद्ध बुक्स, दिल्ली, पृ. 34
15. दोरजी लोन्पु, मोनयुल के पेङदाङ में खिले फूल, 2023, अनिरुद्ध बुक्स, दिल्ली, पृ. 38
16. दोरजी लोन्पु, मोनयुल के पेङदाङ में खिले फूल, 2023, अनिरुद्ध बुक्स, दिल्ली, पृ. 22
17. दोरजी लोन्पु, मोनयुल के पेङदाङ में खिले फूल, 2023, अनिरुद्ध बुक्स, दिल्ली, पृ. 49
18. दोरजी लोन्पु, मोनयुल के पेङदाङ में खिले फूल, 2023, अनिरुद्ध बुक्स, दिल्ली, पृ. 49
19. दोरजी लोन्पु, मोनयुल के पेङदाङ में खिले फूल, 2023, अनिरुद्ध बुक्स, दिल्ली, पृ. 61
20. दोरजी लोन्पु, मोनयुल के पेङदाङ में खिले फूल, 2023, अनिरुद्ध बुक्स, दिल्ली, पृ. 40
21. दोरजी लोन्पु, मोनयुल के पेङदाङ में खिले फूल, 2023, अनिरुद्ध बुक्स, दिल्ली, पृ. 43

❖❖❖

आलेख

मुजफ्फरपुर प्रसंग(विरासत)

बिहार के गाँधी : लक्ष्मीनारायण

❍ वीरेन नंदा[✡]

नाथूराम को पूजने वाले भी महात्मा गाँधी को नमन किए बिना सत्ता चलाने में असमर्थ दिखें। गाँधी की हत्या किए 75 वर्ष से अधिक बीत गए तब भी उनकी हत्या की कोशिश जारी है। नश्वर शरीर तो उन्होंने मार दिया किन्तु विचार नहीं मार पा रहे ! उन्हें यह कुंठा रह-रह कर कुलबुलाती रहती है। कभी मूर्तियाँ तोड़ते हैं, पुतला बना गोलियाँ दागते हैं, किन्तु विदेशी दौरों पर उनका नाम लिए बिना प्रधान का सिर उठाना तक संभव नहीं हो पाता। बेमन से ही सही, विदेशी नेतृत्व को दिखाने फूल चढ़ाना पड़ता है। बताइए तो ! दुनिया के दिलों पे 75 वर्षों से राज करने वाले ऐसे महात्मा को मिटाना किसी के वश में है क्या ?

ऐसे ही एक महात्मा थे अपने शहर मुजफ्फरपुर के ! जिनको उनके अनन्य सहयोगियों ने भी भुला-मिटा देने की कुटिलता की। लेकिन उनका किया आविस्मरणीय काम भला कैसे मिट पाता !

शहर के जुम्मा मस्जिद से सटे पूरब कुछ अग्रवाल परिवार का मकान है। उन्हीं के बीच स्थित एक मकान के बाहर लिखा है- 'लक्ष्मीनारायण निवास', जो मुंगेर के उलाव स्टेट के जमींदार घराने से आने वाले लक्ष्मीनारायण का घर है। इस परिसर में अभी अजय कुमार अपनी मां शशिप्रभा देवी और परिवार के साथ रहते हैं। उन्हीं के दादा का नाम रहा- लक्ष्मीनारायण।

लक्ष्मीनारायण के बारे में मुझे भी कुछ पता न था। नौकरी की तलाश में पूर्व पत्रकार और सामाजिक कार्यकर्ता कुंदन कुमार जब मुजफ्फरपुर खादी ग्रामोद्योग संघ के ठिकाने लगा तो उस परिसर में वर्षों से बंद पुस्तकालय में धूल खाती बहुमूल्य पुस्तकों को बचाने का बीड़ा उठाया। इस काम में कई लोग उसके सहयोगी बने। परिसर में जब हमलोग दाखिल हुए तो धूल की मोटी परत पर हमारे जूतों की निशानियाँ उगने लगी। चारो तरफ बिखरी पड़ी किताबें और औंधी पड़ी तस्वीरों से सामना हुआ। उन्हीं औंधी तस्वीरों में से एक बड़ी सी फ्रेम जड़ित तस्वीर को झाड़-पोंछ सीधा किया तो उसके नीचे लिखा मिला- लक्ष्मीनारायण। परिसर के बगल में ही सिनेमा हॉल की तरह बना एक भव्य भवन भी है - 'लक्ष्मीनारायण भवन'। जिज्ञासा जगी कि आखिर कौन थे लक्ष्मीनारायण ? जिनके नाम पर अब भी दमक रहा विशाल भव्य हॉल ! और आश्चर्य यह भी कि इसका उद्घाटन् देश के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने किया था ! कुछ तो रही होगी बात जिसे हम और हमारी पीढ़ी नहीं जान रही ! खादी से जुड़े व्यक्ति ने बताया कि उन्हें 'बिहार का गाँधी' कहा जाता था। खुद पर खीझा कि यह नाम पहले क्यों न सुना ! केवल एक ही नाम की ध्वजा फहरती रही क्यों इस परिसर में।

✡ *कवि, लेखक एवं शोधकर्ता, मुजफ्फरपुर, बिहार।*

दूसरा आश्चर्य तब हुआ जब यह पता चला कि वे हर्षु बाबू के पिता थे! हर्षु बाबू उर्फ हर्षवर्धन जी का न केवल मेरे मुहल्ले से सटे मकान था बल्कि उनके घर से आना जाना भी था। अपनी बुआ, जो फ्रीडम फाइटर रहीं, के साथ उनके घर कितनी ही बार गया किन्तु यह न जानता था कि हर्षु बाबू के ही पिता थे लक्ष्मीनारायण। आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री के शब्दों में कहूं तो अपनी अज्ञानता पर यही कह सकता हूं – 'बहुत पास मैं रहा तुम्हारे/ इसीलिए पहचान सके ना !' जब उन्हें सही से पहचाना तो आ गया उनकी पहचान बताने।

बिहार खादी आंदोलन को अपने अविस्मरणीय योगदान से ऊंचाई पर पहुँचाने वाले लक्ष्मीनारायण को लोग आज भूल चुके हैं। खादी आंदोलन में उनके साथ जुड़े सहयोगियों ने भी उन्हें भुला देने की कुटिल कोशिश की, जिस कारण "त्याग' और 'जन्मसिद्ध निरहंकारिता' की सजीव मूर्ति" को उनका शहर भी नहीं जानता-पहचानता ! जबकि बिहार में खादी आंदोलन के जनक माने जाने वाले लक्ष्मी नारायण का जीवन चरित्र ही दरअसल बिहार खादी आंदोलन का जीवंत दस्तावेज है। तभी जय प्रकाश नारायण ने कहा था कि "बिहार के खादी आंदोलन का इतिहास एक बहुत बड़े अंश में स्व.लक्ष्मी बाबू के जीवन-चरित्र का इतिहास है।"

'लक्ष्मीनारायण स्मृति-ग्रंथ' ने उन्हें 'मृत्युंजयी साधक' कहते लिखा कि- 'सन् 20 से प्रारम्भ कर सन् 58 तक का लक्ष्मी बाबू का जीवन बिहार के खादी-कार्य और उसके विकास का अभिलेख है जिसके कण कण पर उनकी तपस्या के क्षण अंकित हैं।' शायद इसी कारण आचार्य कृपलानी ने उन्हें 'आजातशत्रु' कहा।

'बिहार का गाँधी' कहे जाने वाले लक्ष्मीनारायण बिहार खादी आंदोलन, खादी ग्रामोद्योग तथा भूदान आंदोलन से जुड़ कर आदर्शवादिता, मृदुभाषिता, सहृदयता, संवेदनशीलता, कर्तव्यनिष्ठता, आचरणशीलता और सादगी की ऐसी मिसाल पेश की, जिसे व्यक्त करते आचार्य जे.बी.कृपलानी ने उनके बारे में कहा कि "जिस बिहार में दलबन्दियों और जातीय प्रतिद्वंद्विताओं का ऐसा संघर्ष रहा हो, वहाँ भी मुझे सार्वजनिक क्षेत्र में कोई ऐसा व्यक्ति न मिला जिसने लक्ष्मी बाबू की प्रशंसा न की हो।"

आखिर उन्हें ऐसी प्रशंसा क्यों मिली ? किस भट्टी में तप कर कुंदन बने थे श्री लक्ष्मी नारायण ! उसकी मिसाल 1934 की प्रलयंकारी भूकंप से मापा जा सकता है। 8.4 रिएक्टर स्केल की तीव्रता से आयी इस भूकंप में उनकी पत्नी, पुत्र, पुत्री समेत घर के आठ सदस्यों की मौत मुजफ्फरपुर स्थित कोठी धँस जाने से हो गई थी। उस समय वे बेगूसराय में थे। यह दु:खद समाचार जब उन्हें भेजा गया तो उन्होंने कहा- "वहाँ और लोग हैं वे देख लेंगे, किन्तु मुंगेर में बहुत तबाही हुई है! बहुत लोग मरे हैं, उन्हें कौन देखेगा!" और 'परदु:ख-कातरता' स्वभाववश वे घर न आकर मुंगेर चले गए जहाँ पूरा इलाका मलवे में तब्दील हो चुका था। तबाही का ऐसा मंजर था कि गाँधी, नेहरू, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, डॉ. सम्पूर्णानन्द, मदनमोहन मालवीय, सरोजनी नायडू, यमुना लाल बजाज, अब्दुल गफ्फार खां, कृपलानी को भी वहाँ पहुँच कर मलवा साफ करना पड़ा था। लेकिन वहाँ सबसे पहले पहुँचने वालों में लक्ष्मीनारायण ही थे। भूकंप पीड़ितों को देखने जब महात्मा गाँधी मुजफ्फरपुर आए तो सीधे लक्ष्मीनारायण के घर पहुँच उनकी माँ से मिले। घर का हाल जान उन्होंने तुरंत लक्ष्मीनारायण को लौटने का आदेश भेजा। तब वे मुजफ्फरपुर आये लेकिन सीधे घर नहीं जाकर पहले शहर के पीड़ितों का हाल लेते रहे, उसके पश्चात घर की ओर रुख किया। ऐसे निर्मोही थे लक्ष्मीनारायण।

लक्ष्मीनारायण का जन्म सन् 1898 में बेगूसराय के उलाव स्टेट के धनाढ्य जमींदार अग्रवाल परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम ईश्वरी प्रसाद था। ईश्वरी प्रसाद के परदादा बाबू मनसाराम अग्रवाल की जमींदारी मुजफ्फरपुर के साथ कई अन्य जिलों में फैली थी। महाजनी और जमींदारी को सुचारू रूप से चलाने के लिए लक्ष्मीनारायण के दादा श्री लालजी ने मुजफ्फरपुर के नई बाजार में एक हवेली बनवायी और 1903 में स्थायी रूप से यहीं बस गए।। श्री लालजी को विद्रोहियों की मदद करने के कारण 1857 के गदर में भूमिगत होना

पड़ा था।

बचपन से ही अपनी तेजस्विता के बल पर लक्ष्मीनारायण 1914 में मैट्रिक में सर्वप्रथम आए और एम. एस-सी. तक की पढ़ाई मेधा-छात्रवृत्ति के बल पर की। पटना से 1918 में बी.एस-सी केमेस्ट्री ऑनर्स में सर्वप्रथम आए। एम.एस-सी. की पढ़ाई करते समय उन्हें 'इंडिपेंडेंट' पत्रिका पढ़ते देख अंग्रेज प्राध्यापक कॉडवेल ने नाराजगी व्यक्त करते कहा- "या तो यह 'इंडिपेंडेंट' पत्रिका पढ़ो, या इस कॉलेज में रहो। दो में से जो अच्छा लगे, चुन लो। दोनों साथ नहीं चल सकते।" तो उन्होंने 'इंडिपेंडेंट' चुना और पढ़ाई छोड़ वापस मुजफ्फरपुर लौट पड़े। घर वालों की दविश से वे पुनः एम.एस-सी. करने कलकत्ता गए, जहाँ अपनी मेधा के बल पर वहाँ के विभागाध्यक्ष और वैज्ञानिक डॉ. पी.सी. रॉय के प्रियपात्र बन गए। किन्तु 1919 में जब गाँधी जी ने 'असहयोग आंदोलन' का बिगुल फूँका और अविलंब स्कूल-कॉलेज छोड़ने की अपील की तो वे सिक्स्थ ईयर की पढ़ाई छोड़ वापस लौट पड़े जबकि कुछ माह बाद ही फाइनल की परीक्षा थी। इस बात से घर वाले दुखी हो जब बिगड़े कि एम.एस-सी कर के भी यह कर सकते हो तो उन्होंने कहा- "जब एम.एस-सी पास कर ही लिया, तो फिर त्याग की मात्रा ही कहाँ बचेगी ?" इक्कीस वर्षीय इस युवा ने फिर कभी मुड़ कर नहीं देखा और आजीवन देशप्रेम में डूब गाँधी-मार्ग पर चल पड़े।

कांग्रेस में सक्रियता के कारण 1919 में वे जिला कांग्रेस कार्य समिति के सदस्य चुने गए और उन्हें कोष सम्भालने का कार्य सौंपा गया। 1921 में जब 'तिलक स्वराज्य कोष' की स्थापना हुई तब उनकी ईमानदारी देख उन्हें मुजफ्फरपुर जिले का कोषाध्यक्ष बनाया गया। 1922 में बिहार प्रान्तीय कांग्रेस समिति ने खादी विभाग का गठन किया तो इसके संचालन के लिए पाँच सदस्यीय संचालन समिति बनी, जिनमें निम्नांकित व्यक्तियों साथ लक्ष्मीनारायण भी थे -

1. ब्रजकिशोर प्रसाद
2. अनुग्रह नारायण सिंह
3. विपिन बिहारी वर्मा
4. लक्ष्मीनारायण
5. बनारसी प्रसाद झुनझुनवाला

इसी वर्ष, दक्षिण-भारत के बेजवाडा में कांग्रेस ने बीस लाख चरखा-निर्माण और एक करोड़ रुपये एकत्र करने का जब निर्णय लिया तब मुजफ्फरपुर का प्रभारी इन्हीं को बनाया गया। एक बार गाँधी कुटीर में तीव्र मतभेद होने लगा तो महात्मा गाँधी को हस्तक्षेप करना पड़ा और 'गाँधी कुटीर का समस्त कार्य-भार श्री लक्ष्मी बाबू को ले लेने का आदेश दिया'। 1923 में काकीनाड़ा (कांग्रेस) में 'अखिल भारत खादी मंडल' का जब गठन हुआ तब मंडल के प्रभारी इन्हीं को बनाया गया। वे 'अखिल भारत खद्दर बोर्ड' के भी 'अलिखित और अनिवार्य मंत्री' रहे। 1925 में कांग्रेस-अधिवेशन में जिस अखिल भारतीय चरखा-संघ की नींव पड़ी उसके प्रथम प्रान्तीय प्रधान-मंत्री लक्ष्मीनारायण को बनाया गया, जिसके प्रतिनिधि थे- डॉ. राजेन्द्र प्रसाद।

1925 से 1955 तक वे लगातार अखिल भारतीय चरखा संघ के मंत्री पद पर कार्यरत रहे। वे खादी के प्रसार के लिए पूरे राज्य की यात्रा कर लोगों को खादी से जोड़ा और सूत कातने वालों की न केवल अच्छी खासी संख्या बढ़ाई बल्कि आजादी की प्यास भी जगाई। यह बात सन् 1946 में 'चरखा संघ का नव संस्करण और कार्यकर्ताओं का दृष्टिकोण' शीर्षक से लिखे उनके एक निबन्ध के अंश से समझ सकते हैं- "गत पचीस वर्षों से सारे हिन्दुस्तान में जो खादी-काम चल रहा है उसका अटूट सम्बन्ध स्वराज की लड़ाई के साथ चल रहा है। सन् 1925 में चरखा संघ की स्थापना हुई और उसकी आन्तरिक व्यवस्था का कॉन्ग्रेस से सम्बन्ध न

रहते हुए भी स्वराज्य की लड़ाई की गर्मी को नापने के यंत्र का काम खादी ने किया है।"

चरखा-संघ के विकेंद्रीकरण की बात जब अक्टूबर 1946 में गाँधी जी ने दिल्ली के अखिल भारत संघ में रखी तब लक्ष्मीनारायण के नेतृत्व में बिहार में विकेंद्रीकरण की बात लिखित तौर पर गाँधी जी को सौंपने वाले वे पहले व्यक्ति थे, जिसके फलस्वरूप 'बिहार खादी समिति' नामक संस्था के रूप में बिहार में खादी के विकेंद्रीकरण को स्वतंत्रता मिली। इसकी शुरुआत 1947 से शुरू हुई जिसके प्रथम मंत्री लक्ष्मीनारायण को बनाया गया। बाद में ग्रामोद्योग का इसमें विलय हुआ तो इसका नाम 'बिहार खादी ग्रामोद्योग संघ' पड़ा, जिसका प्रधान कार्यालय आज भी मुजफ्फरपुर में स्थित है। भारत सरकार द्वारा 1956-57 में खादी और ग्रामोद्योग आयोग का गठन किया गया तो कुल पाँच सदस्यों में लक्ष्मी नारायण भी थे। वे आजीवन खादी को प्रतिष्ठित करने और उसके उत्थान के लिए रचनात्मक कार्य करते रहे।

बिनोवा भावे ने 1952 में भूदान-आंदोलन शुरू किया तो खादी समिति के मंत्री पद से इस्तीफा देकर लक्ष्मीनारायण भूदान-आंदोलन में कूद पड़े। अभिजात्य कुल में जन्म होने के कारण स्कूल भी घोड़ागाड़ी से जाने वाले इस सख्स ने पद-यात्रा का व्रत ले भूदान-यज्ञ की ऐसी मशाल जलायी कि देश भर में जितनी जमीन भूदान में एकत्रित हुई उसकी आधी जमीन, करीब 23 लाख एकड़ लक्ष्मीनारायण के पद-यात्रा प्रयास से 'बिहार भूदान यज्ञ समिति' को मिली। ऐसे ही धुन के मतवाले के लिए दिनकर ने कहा होगा -

'नींद कहां उनकी आँखों में,
जो धुन के मतवाले हैं।
गति की तृषा और बढ़ती,
पड़ते पग में जब छाले हैं।'

बिनोवा भावे ने लोगों से जब अपनी दस प्रतिशत जमीन भूदान में देने की अपील की तब बिना देरी किए लक्ष्मीनारायण ने अपनी जमीन दान में दे दी। कुछ जमीन उन्होंने खरीदकर भी दान की।

अखिल भारतीय सर्व सेवा संघ, वाराणसी ने 1960 में लिखा कि "खादी के इतिहास में बिहार का अपना स्थान है। स्व. लक्ष्मी बाबू की जीवन साधना के कारण यहाँ खादी-ग्रामोद्योग का काम सर्वोदय आंदोलन से जुड़कर नव-समाज रचना की बुनियाद बनता जा रहा है।"

मैला ढोने की प्रथा के उन्मूलन की जब शुरुआत गाँधी जी ने की तो लक्ष्मीनारायण ने अपने घर में सेप्टिक-टैंक वाला शौचालय बनवाया। इस बात की चर्चा करते हुए उनके प्रपौत्र स्व. अशोक कुमार लिखते हैं कि "एक बार घर की पैखाना टँकी वे खुद और पिता जी मिलकर साफ कर रहे थे, तब मेरा कौतूहल देख कर मुझे भी मिट्टी के छोटे बर्तन में टँकी का एकत्रित मल फेंकने को दिया। उस दिन से किसी भी गंदगी को खुद साफ करने की झिझक जो टूटी, वह अभी भी मेरे अंदर कायम है।" उन्होंने न केवल गाँधी जी के सिद्धांत को अपने जीवन में आत्मसात किया बल्कि उन्हीं की तरह जीवन भी जिया। गाँधी की तरह आजीवन ठेहुने तक धोती और चादर में जीवन गुजारने वाले लक्ष्मीनारायण स्वदेशी के हिमायती रहे। वे चिकनी मिट्टी से बनाया साबुन ही उपयोग करते रहे। कभी भी बाजार का साबुन, तेल, कंघी या तौलिया का उपयोग नहीं किया। खादी ग्रामोद्योग के पद पर रहते हुए उन्हें जो भी वेतन मिलता रहा, उसे परिवार वाले कभी नहीं जान पाए क्योंकि उस वेतन को वे खादी ग्रामोद्योग या भूदान कार्यों में खर्च कर देते थे। घर-परिवार का खर्च उनके पुस्तैनी आय से चलती, किन्तु ढहती जमींदारी और भूदान में दी गई एक तिहाई जमीन से सिकुड़ती पुस्तैनी आय से जब घर चलाना मुश्किल होता, तब जमीन बेच उसका तीन भाग करते। एक बेटे के लिए, दूसरा भाग बेटी को और तीसरा हिस्सा जरूरतमंदों, भूदान या खादी पर खर्च करते। ऐसे विरल संत थे लक्ष्मीनारायण।

लक्ष्मीनारायण के निर्मल स्वभाव का किस्सा है कि आजादी के बाद किसी काम से वे डॉ. राजेन्द्र प्रसाद से मिलने उनके शिमला स्थित राष्ट्रपति निवास गए। वहाँ के अर्दली को कहा कि 'जरा राजेन्द्र के कहअ कि लक्ष्मी आयल हए।' अर्दली उनकी वेशभूषा और संवाद सुन न जाने क्या समझा, उन्हें ख़बर न दी। काफी देर बाद जब राजेन्द्र प्रसाद अंदर से बाहर आए तो उन्हें जमीन पर बैठा देख चौंकते हुए पूछा– 'अरे, तुम कब आए लक्ष्मी ?' और उनका हाथ पकड़ अंदर ले गए। उन्होंने सारी बात बताई। बाद में वह अर्दली निलंबित हुआ तो विलाप करता मुजफ्फरपुर आया और लक्ष्मी बाबू से माफी मांगते गिड़गिड़ाया कि मेरी नौकरी बचा दीजिए। राजेन्द्र बाबू को पत्र भेजकर उन्होंने उसे पुनः बहाल करवाया। ऐसे निष्कलुष मन के धनी थे वे।

'विशुद्ध सनातन हिन्दू धर्म परिवार में जन्में' और 'छुआछूत' मानने वाले परिवार से आने वाले लक्ष्मीनारायण ने इसे भी गाँधी की तरह तोड़ते हुए हरिजनों के साथ बैठकर भात खायी, जिस कारण उनके सगे-संबंधियों ने उनसे संबंध तोड़ लिया, बिरादरी ने भात काट दिया लेकिन वे अविचल रह बोले– "मानव मानव एक समान। एक हरि की सब संतान।" इस घटना ने उन्हें 'आजीवन रूढ़िवाद, जातिवाद, छुआछूत विषमता का कट्टर शत्रु बना दिया।'

उनकी सादगी और आदर्शवादिता की मिसाल यह भी रही कि जब उनके एक मात्र पुत्र की शादी के लिए लोग आने लगे तो उन्होंने शर्त रखी कि पुत्र की शादी उसी लड़की से करेंगे जो चरखा से सूत कात सके। उसके काते सूत के कपड़े मैं पहनूँगा और मेरे काते सूत की वो। इस तरह शादी जब तय हुई तो कन्यापक्ष को बुलवाकर उन्होंने घर के पास ही एक मुस्लिम परिवार में ठहराया और अपने काते सूत के वस्त्र पहना कर अत्यंत सादगी से विवाह संपन्न किया। इस शादी में उन्हीं के काते सूत से बनी वरमाला वर-वधु ने एक दूसरे को पहनायी। विवाहोपरांत गरीबों और हरिजनों को भोज करा कर इस विवाह का समापन किया। महात्मा गाँधी की 'नई तालीम' और 'बुनियादी तालीम' शिक्षा-नीति के वे पक्षधर ही नहीं थे बल्कि स्वयं पर भी लागू किया। उन्होंने अपनी पुत्री 'शशिमुखी' को गाँधीजी द्वारा स्थापित मोतिहारी के ढाका स्थित मधुबनी कलाशाला के "बाल-बाड़ी" में शिक्षा दिलवायी। ऐसे अनुनायी रहे गाँधी जी के।

इस स्वावलम्बी महापुरुष ने भूदान से जुड़ने के बाद पद-यात्रा कर भूदान के लिए जमीन एकत्रित की और उसी कार्य को करते हुए दरभंगा में पद-यात्रा के दौरान 'अमर-यात्री' बने। उनकी मृत्यु 09 मई 1958 को हुई। उनका पार्थिव शरीर खादी ग्रामोद्योग की उसी गाड़ी से लाया गया जिस गाड़ी के खरीद का विरोध करते हुए उन्होंने कहा था कि इसमें मेरी लाश बैठेगी। यह बात उन्होंने तब कही थी जब उनके अनन्य सहयोगी ने खादी ग्रामोद्योग के लिए एंबेसडर कार उनके मना करने के बावजूद खरीदी थी और उनसे उस पर बैठकर घर जाने के लिए कहा था। इस समाचार को सुन खादी ग्रामोद्योग संघ और भूदान से जुड़े लोग रो पड़े। लक्ष्मीनारायण के परम मित्र राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने राष्ट्रपति निवास, शिमला से उनके पुत्र हर्षवर्धन के नाम शोक-संदेश में लिखा -"...अकस्मात यह समाचार पाकर मैं स्वयं स्तब्ध सा रह गया। मैं कल्पना भी नहीं कर सकता हूँ कि वे हमें छोड़ कर चले गये। अभी दो दिन ही हुए उनका पत्र आया था और उनकी बीमारी इत्यादि का कोई समाचार मुझे नहीं मिला था, इससे मालूम होता है कि अचानक ही उनका देहान्त हो गया है। जब मैं स्वयं ही इतना धीरज नहीं रख पा रहा हूँ तो समझ में नहीं आता कि तुम बच्चों को किस तरह से धैर्य बंधाऊँ।"

मृत्यु पश्चात लक्ष्मीनारायण के अनन्य सहयोगी स्व. ध्वजा प्रसाद साहू लक्ष्मी बाबू के पुत्र हर्षवर्धन से घर जाकर बोलें - "हर्षु, लक्ष्मी बाबू की सभी चीजें मुझे दे दो। उनकी वो सभी वस्तुएं निर्माणाधीन 'लक्ष्मीनारायण भवन' में रखी जायेगी ताकि उस पुण्यात्मा की चीजें लोगबाग देख सकें। वह सब तुम्हारे काम की तो है नहीं, पड़े पड़े नष्ट हो जायेगी।" वर्षों पिता के सहयोगी और मित्र रहे ध्वजा बाबू पर अविश्वास का कोई कारण न

था। हर्षु (स्व. हर्षवर्धन) ने अपने पिता के नाम डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, लालबहादुर शास्त्री, विनोबा भावे, आचार्य कृपलानी आदि सभी महत्वपूर्ण लोगों की चिट्ठियां, कागजात, उनके द्वारा काते हुए सूत, दस-बारह अम्बर चरखा, चश्मा, कपड़े, साबुन (जो वे प्रयोग करते थे) इत्यादि सामान अपने विश्वस्त चचा ध्वजा प्रसाद साहू को सौंप दिया। कुछ समय बाद जब हर्षवर्धन जी की बहन आई तो निर्मित लक्ष्मी भवन देखने गई, लेकिन वहाँ अपने पिता का कोई सामान न देख दुखी हो ध्वजा बाबू से पूछी तो वे कोई उत्तर न दे सके। ऐसा विश्वासघात ! खादी आंदोलन की उनकी निशानी को ही नष्ट कर दिया। ऐसी कुटिलता ! हालांकि ध्वजा बाबू अपने अंतिम समय में रो रोकर स्वीकार किया कि लक्ष्मी बाबू पुण्यात्मा थे। उन्हीं के शब्द हैं- "वे अपनी आँखों अपनी संस्था का विघटन देख नहीं पाये। यह मेरे पूर्व पापों का परिणाम है।"

आश्चर्य कि, लंबी उम्र पाने वाले ध्वजा बाबू ने अपने जीवन काल में खादी प्रसंग में बहुतेरे लेख लिखे किन्तु एक भी स्वतंत्र आलेख लक्ष्मी बाबू पर उन्होंने कहीं लिखा हो, ज्ञात नहीं। उनके प्रपौत्र संजीव साहू ध्वजा प्रसाद साहू के नाम पर शायद कोई एनजीओ चलाते हैं। उन्हीं के द्वारा सन् 2012 ई. में छपी "निष्काम कर्मयोगी, ध्वजा प्रसाद साहू, खादी आंदोलन पर केन्द्रित संकलन" नामक पुस्तक देखने को मिली, किंतु उसमें भी कहीं कोई लेख लक्ष्मी बाबू पर लिखा न दिखा। जबकि सन् 1971 ई. में छपी 'लक्ष्मीनारायण स्मृति ग्रंथ' में ध्वजा बाबू अपना उद्गार प्रकट कर लिखते हैं कि "स्व. लक्ष्मीनारायण हमारे बाल सखा थे। विद्यालय में आठ वर्षों तक एक बेंच पर बैठकर पढ़ा। वे मेधावी छात्र थे और मैं था खिलाड़ी और हंसोड़ फिर भी वे मुझे सहृदय और आत्मीय मानते थे। इस कारण उनके बड़े भाई लोग भी मुझे अपने परिवार का ही एक सदस्य समझते थे। .... खादी के काम को साधना समझ कर मरते दम तक करते रहे। मैं इस काम में उनका साथी बना। ..... मेरा साथी, मेरा मित्र, मेरा आत्मीय और बाल-सखा...... उस ऊंचाई पर पहुंचा कि विनोबा ने उनको 'महात्मा' कहकर संबोधित किया। मैंने साथी के नाते कितनी बार 'रे तू' करता था। आज मैं.....अपने साथी से, जो सचमुच में 'महात्मा' था, क्षमा की याचना करता हूं।"

हालांकि मैं अपनी बुआ स्व. भवानी देवी मेहरोत्रा, जो कांग्रेसी होने के साथ-साथ कस्तूरबा गाँधी ट्रस्ट, पूसा में प्रेमदानंद कुरियार के साथ वर्षों वहाँ रहीं, के साथ बचपन में कई बार ध्वजा बाबू के घर गया था। पूर्व एमएलसी और खादी ग्रामोद्योग बोर्ड के दो बार सचिव रह चुके और मुजफ्फरपुर म्युनिसिपैलिटी के पूर्व चेयरपर्सन स्व. ब्रज बिहारी प्रसाद के साथ भी उनके यहाँ कई बार गया था और उनके प्रति मेरी भी आस्था अन्य लोगों की तरह ही रही, किन्तु इस सत्य के बाद हिल गई।

स्वतंत्रता प्राप्ति पश्चात बहुत से लोग शासन के उच्च्च पदों पर विराजमान हुए किन्तु लक्ष्मीनारायण पद-प्राप्ति के मोह से परे रचनात्मक कार्यों को वरीयता दी और कभी विचले नहीं। श्मरते-मरते करोश के अपने कथन पर अमल करते हुए दिवंगत हुए ! मुजफ्फरपुर के ऐसे विरल व्यक्तित्व पर शहर को नाज होना चाहिए। किन्तु अफसोस कि आज उस सन्त को स्मरण करने में खादी ग्रामोद्योग दलबंदी का शिकार हो चला है।

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद द्वारा शिलान्यास किए गए मुजफ्फरपुर के खादी भंडार परिसर में निर्मित 'लक्ष्मीनारायण भवन' में बिहार के इस महात्मा स्व. लक्ष्मीनारायण की 60वीं पुण्यतिथि वर्षों बाद मनायी गई, वह भी उनके पौत्र श्री अजय कुमार की अपनी जेब और प्रयास से ! जबकि "सन् 1925 से सन् 1955 - निरंतर तीस वर्षों तक वे अखिल भारत चरखा संघ की बिहार शाखा और 'बिहार खादी समिति' के मंत्री रहे"। 1942 के स्वतंत्रता आंदोलन में ढाई साल की सजा काटने वाले देशभक्त, गांधी-राजेन्द्र-बिनोवा के परम प्रिय लक्ष्मीनारायण लोभ-लालच से दूर रहे। अपने किए कार्यों के प्रचार-प्रसार की लालसा नहीं की, जिस कारण वे गुमनामी के अंधेरे में खो गए।

लक्ष्मीनारायण नाम की चर्चा करीब दो दशक पूर्व 'हिन्दी-साहित्य और बिहार' नामक पुस्तक पढ़ने के दौरान मिली थी, किन्तु मुंगेर निवासी समझ उन पर ज्यादा खो़ज- ख़बर न की। कुंदन कुमार के साथ खादी भण्डार की लाइब्रेरी न गया होता तो न मैं जान पाता उनके बारे और न यह किस्सा बताने आपको, आ पाता।

इस आलेख का मुकम्मल आधार 'हिन्दी-साहित्य और बिहार', 'लक्ष्मी नारायण स्मृति ग्रंथ', तथा 'निष्काम कर्मयोगी' नामक पुस्तकें; स्व. रमेश पंकज, रामचन्द्र चौधरी तथा लक्ष्मीनारायण के वंशज अजय कुमार और उनकी माँ शशि प्रभा जी से की गई बातचीत है।

❖❖❖

संस्कृति संवाद

(आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी जी के साक्षात्कारों का संपादन)

❍ समीक्षा : सर्वेश मिश्र[1]

॥ तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ॥

पुस्तक : संस्कृति संवाद
संपादन : प्रो. विजय बहादुर सिंह

आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी जी की उपस्थिति हमारे बीच एक जन बौद्धिक के रूप में है। वे भारतीय साहित्य के वैचारिक और सृजनात्मक लेखन में समाभ्यस्त हैं। संस्कृत, हिंदी और अंग्रेजी भाषा तथा साहित्य में समान अधिकार रखते हैं। आचार्य और कवि की जिम्मेदारी का एक साथ निर्वहन करते हैं। वे 'गच्छत्येकेन पादेन तिष्ठत्येकेन बुद्धिमान्' जैसी सूक्ति के साक्षात् प्रमाण हैं। आचार्य त्रिपाठी जी अपनी प्रतिभा और विवेक के आधार पर एक तरफ भारतीय ज्ञानपरंपरा की व्याख्या करते हैं, वहीं परंपरा का विस्तार और परिष्कार करते हुए आधुनिकता से संवाद भी करते हैं। आचार्य त्रिपाठी जी के अध्ययन और लेखन की रेंज बहुत व्यापक है। वेद-वेदांग, नाट्यशास्त्र, काव्यशास्त्र आदि शास्त्रीय और पारंपरिक विषयों पर लिखते तथा व्याख्यान करते हैं तो दूसरी तरफ संस्कृत साहित्य की लोकधर्मी परंपरा और नया साहित्य नया साहित्यशास्त्र लिखकर आधुनिक साहित्य में हस्तक्षेप करते हैं। आचार्य त्रिपाठी जी की उपस्थिति साहित्य में अंबिकादत्त व्यास जी के समान है, जिनके लिए भाषा किसी तरह के बैरियर का कार्य नहीं करती और न ही साहित्य की सीमाएं निर्धारित करती है। संस्कृत से हिंदी में तथा हिंदी से संस्कृत में आवाजाही चलती रहती है। वे हिंदी में कविताएँ, कहानियाँ तथा उपन्यास लिखते हैं तो संस्कृत में महाकाव्य भी। हिंदी के महत्वपूर्ण आलोचक प्रो. विजय बहादुर सिंह जी ने आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी जी के समग्र व्यक्तित्व को ध्यान में रखते हुए उन्हें 'संवादधर्मी संस्कृति चिंतक और उत्तरदायी लोक बौद्धिक' कहा है।

आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी जी साहित्य सृजन में जितने सिद्ध हैं, दर्शन में उतने ही दक्ष। उनकी भाषा-संस्कृति तथा सर्जन-सह-दर्शन संबंधी ज्ञान का निदर्शन कराने वाली पुस्तक 'संस्कृति-संवाद' है। यह पुस्तक आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी और कुछ जाने माने लेखकों (बलराम शुक्ल, कौशल तिवारी, भारतेंदु मिश्र, प्रवीण

1. *शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी। मो. 8601333487*

पंड्या, हुमा अंसारी, अजय कुमार मिश्र, मंजरी श्रीवास्तव, बनमाली बिश्वाल और विजय बहादुर सिंह) के संवादों का संकलन है। इसमें राधावल्लभ त्रिपाठी जी के नौ साक्षात्कार शामिल हैं। इस पुस्तक का संपादन आचार्य विजय बहादुर सिंह जी ने किया है।

पहले साक्षात्कार में आचार्य त्रिपाठी भारतीय काव्यशास्त्र की प्रासंगिकता पर पूछे गए सवाल पर अपनी बात रखते हैं। वे बताते हैं कि भारतीय काव्यशास्त्र के कुछ सिद्धांत जैसे– रीति और अलंकार इतने समर्थ हैं कि इनका आधार लेकर नयी कविता का भी मूल्यांकन किया जा सकता है। 'नया साहित्य और नया साहित्यशास्त्र' में आचार्य त्रिपाठी ने यही दिखाने का प्रयास भी किया है। आगे भारतीय काव्यशास्त्र के स्थिर हो जाने के कारणों पर बातचीत करते हैं। रस तथा अलंकार की व्यापकता को भी स्पष्ट करते हैं। उपमा, रूपक आदि बता देना मात्र अलंकार नहीं है, अपितु अलंकार तो संरचना के स्तर पर सम्पूर्ण एस्थेटिक्स को द्योतित करता है। वे बताते हैं कि सारे रस चुक जाने पर भी रस बचा रहता है। वे तो विमनस्कता व विरसावसान में भी शांत रस की ही झलक देखते हैं। दार्शनिक दयाकृष्ण के आरोपों का खंडन भी करते हैं जो उन्होंने संस्कृत के संबंध में लगाए थे। संस्कृत की वैज्ञानिकता, संस्कृत और हिंदी के लेखकों के बीच बढ़ती दूरी, साहित्यिक अबोलापन, संस्कृत के प्रति उपयोगितावादी दृष्टि आदि के संबंध में त्रिपाठी जी अपनी बात रखते हैं। वे शेल्डन पोलक के इस कथन 'क्षेत्रीय भाषाओं के आते ही संस्कृत का वैभव विस्थापित हो जाता है' पर आपत्ति दर्ज करते हैं और बताते हैं कि क्षेत्रीय भाषाओं तथा संस्कृत में हमेशा ही शब्दों और मुहावरों की आवाजही होती रहती है और इससे संस्कृत समृद्ध भी हुई है और हो भी रही है। संस्कृत ने बहुत कुछ दुनिया से लिया भी है। 1905 में रामावतार शर्मा ने जब 'परमार्थदर्शनम्' लिखा तो उसमें मार्क्स के दर्शन को जगह दी। संस्कृत ने तमिल, तेलुगु, ग्रीक तथा मुण्डा भाषाओं से अनेक शब्द लिए। हिंदी व भोजपुरी के मुहावरे भी संस्कृत में घुल मिल गये। इसी चर्चा में अपूर्वानंद जी द्वारा संस्कृत के संबंध में उठाए गए प्रश्नों का जवाब भी दिया और NCERT के पाठ्यक्रम निर्माण के दौरान 'परमिन्दर' शब्द को शामिल करने की कहानी का भी विस्तार से उल्लेख किया। संस्कृत को लेकर भविष्य की चुनौतियों और संभावनाओं पर भी बातचीत हुई।

दूसरे साक्षात्कार में आचार्य त्रिपाठी जी ने संस्कृत के साथ अन्य बोलियों और तमिल भाषा के संबंध और परस्पर अनुवाद की प्रक्रिया पर बात रखी है। ऐसे आचार्यों की चर्चा भी की जो संस्कृत और तमिल दोनों भाषाओं में लिखते थे। वेकटाध्वरि (17वीं शताब्दी) ने तो षठकोपाचार्य के तमिल वेद का संस्कृत में अनुवाद किया है। आज तो संस्कृत में गुजराती, उड़िया, मराठी के शब्द खूब आ रहे हैं। संस्कृत में रेडियो प्ले, ललित निबंध , कहानी तथा उपन्यास आदि लिखे जा रहे हैं। फारसी कविता की बानगी भी संस्कृत में आ रही है। संस्कृत में पत्र पत्रिकाओं के साथ विभिन्न विमर्शों की आहटें आ रही हैं। उमाशंकर त्रिपाठी जैसे संस्कृत रचनाकार इस दिशा में अग्रसर हैं। हाँ, संस्कृत में समीक्षा क्षेत्र बहुत विकसित नहीं है। अच्छी समीक्षक और समीक्षाएँ अभी संस्कृत में आनी बाकी हैं।

तीसरे साक्षात्कार में आचार्य त्रिपाठी ने यूनानी और पारंपरिक संस्कृत रंगमंच के बीच समानताओं और असमानताओं पर बातचीत करते हुए भारतीय रंगमंच की प्राचीनता स्वीकार की। उन्होंने ग्रीक और भारतीय रंगमंच में एक बड़ा अंतर बताया कि, "संस्कृत रंगमंच में देवताओं आदि की उपासना की कल्पना है। देवताओं में लोकमंगल की भावना है। ग्रीक थियेटर में मनुष्य और देवताओं के बीच द्वन्द्व है।" भारतीय रंगमंच की प्रसिद्धि का परिणाम यह रहा कि उसने दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों को भी प्रभावित किया। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र पर पूछे गए प्रश्न का जवाब देते हुए आचार्य त्रिपाठी कहते हैं कि भरत का रंगमंच सभी के लिए है, किसी खास वर्ग या वर्ण के लिए नहीं अर्थात् – सर्वोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति/ दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां

तपस्विनाम्।। आगे आचार्य त्रिपाठी ने अरस्तू के विरेचन तथा रसानंद अनुभूति में तात्विक अंतर स्पष्ट किया है।

चौथे साक्षात्कार में जन्म और बंधन संबंधी (जन्म बंधन की दृष्टि वैदिक है या नहीं का जवाब देते हुए) दार्शनिक प्रश्न पर विचार करते हुए आचार्य त्रिपाठी ने बताया कि 'जन्म बंधन है' यह वैदिक मत तो नहीं है। जीवन बंधन नहीं बल्कि मृत्यु का डर बंधन है। जीवन तो अमृतमय है, यही ऋषियों का आशय भी है। संन्यास आश्रम की व्यवस्था तो बहुत बाद की देन है। वैदिक ऋषि तो संन्यासी ही नहीं होते थे। वैदिक संस्कृति की किसी समकालीन संस्कृति से संभव है यह विचार आया हो। जैसे- व्रात्य संस्कृति आदि। इस प्रकार आगे संस्कृताश्रित संस्कृतियों और भारतीय संस्कृति के अंतर्संबंधों पर बातचीत केंद्रित रही। अंत में निष्कर्ष देते हुए आचार्य त्रिपाठी जी ने कहा, "भारतीय संस्कृतियाँ संस्कृताश्रित संस्कृतियों के अतिरिक्त भी हैं।" संस्कृत से जुड़ी नाना परंपराओं की चर्चा करते हुए वे शुक्रस्मृति की 32 विद्याओं में शामिल 'यवनदर्शन' का भी उल्लेख करते हैं। हिन्दुत्व के साथ संस्कृत की अन्विति पर बात करते हुए उसमें व्याप्त अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असंभव दोष का आरोप करते हैं। उनका कहना है कि वेदों से लेकर व्यास वाल्मीकि, पुराण, कालिदास, भवभूति और आज के संस्कृत साहित्य में तथाकथित हिंदुत्व भावना से हिन्दू शब्द का प्रयोग नहीं है। वे बताते हैं कि विदेशियों ने अनादर भाव, दुरभिसंधि या मूर्खता वश 'हिन्दू' संज्ञा का प्रयोग हम भारतीयों के लिए किया। वे कालिदास का श्लोक- "उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चौव दक्षिणम् / वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः" पढ़ते हुए अपने को भारतीय कहना बेहतर समझते हैं। अंत में इस आरोप का भी खंडन किया है कि संस्कृत सवर्णों की भाषा है।

पांचवें साक्षात्कार में त्रिपाठी जी ने 'उपाध्याय' और आचार्य में अंतर स्पष्ट करते हुए उनके कार्य को बताया है। उपाध्याय शिक्षा देता है तो बदले में कुछ लेता भी है। आचार्य दीक्षा देता है, उसके लिए ऐसी कोई विवशता नहीं। पुरानी शिक्षा प्रणाली में दीक्षा एक बड़ी अवधारणा है। दीक्षांत के बाद बालक का नया जन्म माना है जिसका श्रेय आचार्य को है। शिक्षा में प्रवेश के पहले उपनयन संस्कार होता है। आचार्य त्रिपाठी प्राचीन शिक्षा पद्धति और आज की शिक्षा पद्धति में अंतर बताते हैं, "प्राचीन शिक्षा पद्धति में संस्कार की बात पहले होती है शिक्षा की बाद में। वेदांगों की शिक्षा प्रणाली में भाषा पर जोर ज्यादा था। आज की शिक्षा पद्धति में भाषा पर कोई खास दिलचस्पी नहीं है। आगे त्रिपाठी जी ने शिक्षा, कला, विद्या तथा ज्ञान को परिभाषित किया है। जो हमारे व्यक्तित्व की संकीर्णता को तोड़ दे, मुक्ति की ओर ले जाए वह ज्ञान है- "मोक्षे धीर्ज्ञानम्"। कला, शिल्प या हुनर को विद्या कहते हैं। जब किसी कला को हम शब्दों से समझाते हैं तो वह विद्या हो जाती है। विद्या में उसकी सैद्धान्तिकी है। इसी विद्या का व्यावहारिक रूप कला है। जैसे-संगीत विद्या व संगीत कला। ज्ञान के लिए कोई देवी या देवता नहीं होते क्योंकि मनुष्य ज्ञान को अपने भीतर खोजता है और पाता है। विद्या की देवी होती है। अतः सरस्वती को विद्या की देवी कहा जाता है। संगीत, नाटक, व्याकरण व भाषा आदि ये सभी विद्याएँ हैं।

छठे साक्षात्कार में आचार्य त्रिपाठी अपनी रचनात्मकता के बारे में बताते हैं। रचना के मूल, भाषा और रचना के अंतर्संबंध पर बात करते हुए - परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी तक आते हैं। रचनाकार के स्वप्नलोक और व्यवहारलोक के तनाव, अनुवाद की भूमिका तथा 'अपारे काव्यसंसारे कविरेवः प्रजापति' उद्धृत करते हुए कहते हैं कि साहित्य का लोकतंत्र उसका अपना लोकतंत्र होता है। कुछ विद्वानों का मानना है कि 10वीं शताब्दी के बाद संस्कृत में निरंतर ह्रास हुआ है। आचार्य त्रिपाठी जी इससे सहमत नहीं हैं। वे बताते हैं कि ऐसा कहने वाले दो तरह के लोग हैं- पहले प्राच्यविद्याविदों से प्रभावित तथा दूसरे आधुनिकतावादी, जो संस्कृत को उपयोगितावादी दृष्टि से देखते हैं। संस्कृत में इतना सामर्थ्य है कि वह हर बार अपने ध्वंसावशेषों से उठकर अपने

को ज्यादा सुंदर व भव्य बना लेती है।

सातवें साक्षात्कार में आचार्य त्रिपाठी कामसूत्र और कामशास्त्र के हवाले से काम पुरुषार्थ पर बातचीत करते हैं। वे बताते हैं कि काम की चर्चा ऋग्वेद के दसवें मंडल से ही शुरू हो जाती है। सृष्टि में उत्पन्न होने वाला पहला तत्व ही काम है। संस्कृत में काम को लेकर हमारी सोच वर्जनामुक्त रही है। वृहदारण्यक में कहा गया है- काममय एवायं पुरुषं। मोक्ष तक का रास्ता काम से होकर ही जाता है। हमारा समाज काम को सेलिब्रेट करता है इसलिए कामशास्त्र में -चौंसठ आसन, सोलह हाव, बारह प्रकार के आलिंगन, तीस प्रकार के चुंबन, आठ प्रकार के नखक्षत, आठ प्रकार के दंतशन तथा आठ तरह के सीत्कार की चर्चा है। हमारी परंपरा में काम के लिए वसंत का महीना उपयुक्त माना जाता है। इसलिए परंपरा में वसंतोत्सव या मदनोत्सव मनाया जाता है।

आठवें साक्षात्कार में आचार्य त्रिपाठी ने अपने व्यक्तिगत जीवन के बारे में बताया है। जन्मस्थान, माता पिता (गोकुल प्रसाद त्रिपाठी)और प्रारंभिक शिक्षा के बारे में बातचीत करते हुए कहते हैं कि सर्वाधिक छात्र जीवन बुंदेलखंड की धरती पर छतरपुर में बीता। यहीं पर पांचवीं से बी.ए. तक की पढ़ाई हुई। एम.ए. के लिए सागर चले गए। 1970 से विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य शुरू कर दिया। कविता, नाटक, अनुवाद और इतिहास लेखन में महत्वपूर्ण कार्य किया।

नवें साक्षात्कार में आचार्य त्रिपाठी प्रो. विजय बहादुर सिंह से बातचीत करते हुए संस्कृति विमर्श प्रस्तुत करते हैं। संस्कृति, सभ्यता, परंपरा और रूढ़ि में अंतर और अंतर्संबंध बताते हुए कहते हैं, "संस्कृति गंगोत्री है, परंपरा उससे निकलने वाली धारा। संस्कृति किसी भी देश या समाज की जीवनशैली निर्धारित करती है, वहीं सभ्यता संस्कृति की अभिव्यक्ति है। संस्कृति आत्मा या प्राण है, सभ्यता शरीर है। संस्कृति व परंपरा में व्यापक-व्याप्य संबंध होता है। संस्कृति व्यापक व परंपरा व्याप्य होती है। संस्कृति परंपराओं की प्रवर्तक है। यही बात संस्कृति व सभ्यता को लेकर कही जा सकती है।" परंपरा एक अटूट सिलसिला है। परंपरा का संबंध अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों से है। जब परंपरा भी बंधे बंधाये ढांचे में हर बार उसी तरह निभाई भर जाती है तो वह रूढ़ि बन जाती है। वे बताते हैं कि संस्कृति और धर्म में भी धर्म तो संस्कृति का मूल है। धर्म सदा साथ है, संस्कृति तो हम बनाते हैं। जब कुछ भी नहीं था तब भी धर्म था। वह सारी सभ्यताओं और संस्कृतियों के पहले मौजूद था। आगे वर्णव्यवस्था पर बात करते हुए वे बताते हैं कि किस तरह रंगभेद के विचार को वर्णव्यवस्था पर पश्चिमी अध्येताओं ने थोप दिया इत्यादि।

वस्तुत: इन साक्षात्कारों में चर्चित भिन्न भिन्न साहित्यिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विषयों से गुजरते हुए एक विराट अनुभव जगत से सामना होता है, जिसके आधार हैं आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी जो अपने को निरंतर 'पुनर्नवा' करते रहते हैं। यह अनुभव जगत् सभ्यता और संस्कृति के सभी सवालों से दो चार होता नजर आता है। इन भिन्न भिन्न सुगंधों वाले साक्षात्कार रूपी पुष्पों को एक सुगंधित माला में पिरोकर उसे 'संस्कृति-संवाद' में तब्दील करने वाले आचार्य विजय बहादुर सिंह को भी हार्दिक बधाई और धन्यवाद!

❑❑❑

शोधालेख

भूमंडलीकरण और समकालीन कविता

❍ नितेश उपाध्याय✡

संक्षिप्ति :

वर्तमान समय में पूरा विश्व भूमंडलीकरण की जद में है। वस्तुतः भूमंडलीकरण आर्थिक संसार में पनपने वाला जंगलराज है। यह समाज में आर्थिक स्वरूप के अनुरूप वर्गभेद, विषमता, वर्गसंघर्ष, कटुता, शत्रुता पैदा कर रहा है। इसने हमारी प्रकृति, भाषा, संस्कृति एवं अस्मिता में व्यापक परिवर्तन किया है। यह हमारे जीवन-मूल्यों को लगातार प्रभावित कर रही है। इसने हमारे आत्मीय संबंधों को लगभग क्षत-विक्षत कर दिया है। भूमंडलीकरण की प्रभामंडल से मनुष्य अपने ग्राम-परिवेश तथा संस्कृति से विमुख हो रहा है। सर्वत्र बाजारीकरण का माहौल व्याप्त है। वर्तमान समय में बाजारवाद मानवता के जमीर एवं संवेदना को नष्ट करने पर आमादा है। समकालीन कवियों ने अपनी कविताओं में इस संक्रामक रोग से निजात पाने वाले कारणों की तरफ हमारा ध्यान आकर्षित किया है। समकालीन हिंदी कविता की संवेदना को समझने के लिए हमें तत्कालीन परिवेश, विचार, भावबोध आदि को जानना होगा। इस दौर को जब हम ध्यान से देखते हैं तो हमें पूंजीवाद का फैलाव बढ़ता दिखाई देता है। भारतीय राजनीति में विभिन्न परिवर्तन जिसमें उदारीकरण की नीतियाँ, निजीकरण, सत्ता गठबंधन आदि का बोलबाला नजर आता है। इसके साथ ही आतंकवाद का बढ़ता प्रभाव, भ्रष्टाचार के मामले, साम्प्रदायिकता का माहौल भी इस दौर में कुछ अधिक ही दिखाई पड़ता है। इन सब की छत्रछाया में हमारे समाज के मानवीय मूल्यों में गिरावट इस दौर की प्रमुख स्थितियाँ रही हैं। व्यक्ति किस तरह से एक मशीन में तब्दील होता जा रहा था तथा उसकी जिन्दगी उत्तर-आधुनिकता की दौड़ में किसी अंतहीन दिशा में भागी जा रही थी, यही इस दौर में प्रबल रूप में दिखाई देता है। इस प्रकार इस दौर में जीवन दृष्टि, मूल्य बोध, राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक क्षेत्रों में जो अभूतपूर्व परिवर्तन आए हैं, उन्हीं पर एक दृष्टि, भूमंडलीकरण के विशेष प्रभाव में, डाली जा सकती है। समकालीन हिंदी कविता के कवियों ने भूमंडलीकरण के इस दौर की विडम्बनाओं को गहराई से पकड़ने का प्रयास किया है।

भूमंडलीकरण का शाब्दिक अर्थ है– 'स्थानीय या क्षेत्रीय वस्तुओं या घटनाओं का वैश्विक प्रसार'। इसे हम 'विश्व ग्राम' की संकल्पना के रूप में समझ सकते हैं। भूमंडलीकरण का संबंध विभिन्न देशों के बाजारों से है, उसमें विक्रय होने वाली वस्तुओं के एकीकरण से है। यह सम्पूर्ण विश्व को एक सहयोगी तथा

✡ *शोधार्थी, भारतीय भाषा केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110067, मो. नं.-7991568239; ईमेल : nupadhyay200@gmail.com*

समन्वयशील बाजार के रूप में कार्य करने के लिए प्रेरित करता है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में एक देश से दूसरे देश में वस्तुओं एवं सेवाओं के आने-जाने में जो प्रतिबंध होता है, उसे समाप्त कर दिया जाता है। भूमंडलीकरण की अवधारणा बीसवीं सदी के अंतिम दशक में प्रचलित हुई। 1991ई. में सोवियत संघ का विघटन हुआ। इसके पश्चात अमेरिका ने बाजार का नेतृत्व किया। अमेरिकी प्रभाव में आकर बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने तीसरी दुनिया के बाजार पर आधिपत्य जमाना शुरू कर दिया। सन् 1990 के बाद आर्थिक उदारीकरण की वैश्विक नीति ने भारतीय बाजार की संरचना को परिवर्तित कर दिया। परिणाम यह हुआ कि मानव जीवन की हर जरूरी वस्तु, यहाँ तक कि रोटी, कपड़ा, मकान, स्वास्थ्य, शिक्षा इत्यादि सब कुछ बाजार की वस्तु बन गयी। भारत न तो आर्थिक उदारीकरण को ही ठीक से समझ सका न भूमंडलीकरण को। वस्तुतः इस आर्थिक एवं तकनीकी उदारीकरण व भूमंडलीकरण का सर्वाधिक लाभ विकसित देशों को ही होता है। ये विकसित देश अपनी नीतियों को विकासशील देशों पर थोपते हैं। व्यापार की शर्तें उनके अनुकूल होती हैं और वे मनमानी शर्तों पर समझौता करते हैं। विकसित देशों के आर्थिक षड्यंत्र को विकासशील देश समझ नहीं पाते हैं और उनके कर्ज के चंगुल में फँस जाते हैं। दरअसल यह बाजारवाद का बाजारू चेहरा है जिसके पीछे अमेरिका जैसा सशक्त देश है। अमेरिकी उदारवाद के बाजारू चेहरे को अनावृत्त करते हुए मनोहर श्याम जोशी लिखते हैं- "बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ जिनमें से अधिकतर अमेरिकी हैं, अमेरिकी ढंग की सड़क छाप संस्कृति के भूमंडलीकरण में जुट गयी हैं। पहले स्वयं अमेरिका में हर तरह की क्षेत्रीय विविधता समाप्त की गयी और फिर विज्ञापन विशेषज्ञों के गढ़ मैडिसन एवेन्यू, न्यूयार्क द्वारा तैयार की गयी समेकित अमेरिकी युवा-संस्कृति को सारे संसार में फैलाने का अभियान छेड़ दिया गया।"[1]

समकालीन कवि अपने समय की मूल संवेदना को पकड़ने की कोशिश करता है। नवें दशक में देश की राजनीति में नाना प्रकार के परिवर्तन हुए। भारतीय शासन व्यवस्था ने उदारीकरण, निजीकरण जैसे नीतियों को अस्वीकार किया। इन दोनों नीतियों ने भारत को भूमंडलीकरण की ओर मोड़ा। इस भूमंडलीकरण ने हमारे रीति-नीति, प्रकृति-संस्कृति, अस्मिता, भाषा, जीवन शैली आदि सभी को प्रभावित किया। भूमंडलीकरण ने हमारे जीवन के मूल्यों को निरर्थक घोषित कर दिया। इसने हमारे आत्मीय संबंधों को नष्ट कर दिया। सर्वत्र बाजारीकरण व्याप्त हो गया और देश, समाज व संस्कृति क्रय-विक्रय की वस्तु बनकर रह गयी। हिंदी की समकालीन कविता ऐसे बाजारू भूमंडलीकरण का विरोध करती है। आज समाज में जब सबकुछ की मार्केटिंग हो रही है, ऐसे में समकालीन कवि कविता को मार्केटिंग की वस्तु बनने से बचा लेना चाहता है। अशोक वाजपेयी, कुमार अंबुज, मंगलेश डबराल, लीलाधर जगूड़ी, वीरेन्द्र डंगवाल, राजेश जोशी, ब्रदीनारायण, स्वप्निल श्रीवास्तव, एकांत श्रीवास्तव, अष्टभुजा शुक्ल, उदय प्रकाश, चन्द्रकान्त देवताले, विनोद कुमार शुक्ल, बोधिसत्व, अरुण कमल, ज्ञानेन्द्रपति आदि कवियों ने भारतीय संस्कृति पर भूमंडलीकरण के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक दबाव को विश्लेषित किया है। 1990 के बाद का समय राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय घटनाक्रमों की दृष्टि से उथल-पुथल से युक्त था। इसी दौरान देश में धार्मिक साम्प्रदायिकता एवं आतंकवाद का प्रसार हुआ। सूचना, तकनीकी एवं मीडिया आदि क्षेत्रों में विस्फोटक विकास हुआ। भ्रष्टाचार के कारण मानवीय मूल्य क्षरित हुए। इसी दौरान समकालीन कवियों ने मानव जीवन के विविध परिस्थितियों का अंकन अपनी कविताओं में किया। इस दौर की कविता में ग्राम्य एवं नागर जीवन का बोध, आम आदमी की समस्या, अस्मितामूलक विमर्श, राजनैतिक अस्थिरता, नव साम्राज्यवाद, पूँजीवाद का विस्तार, भूमंडलीकरण एवं बाजारवाद का दुष्प्रभाव, छद्म आधुनिकता एवं उत्तर आधुनिकता का बढ़ता वैचारिक वर्चस्व आदि सबकुछ विद्यमान है। समकालीन कवि भूमंडलीकरण के प्रभाव का चित्रण करते हुए लिखता है कि-

"जगह-जगह पर

मदारी बैठा दिये गये हैं
जहाँ बिकती हैं खुद की परछाइयां।"[2]

भूमंडलीकरण ने हमारे पारंपरिक मूल्यों को ध्वस्त कर दिया है। इसने हमें अपने परिवेश से विस्थापित कर दिया है। इसकी अंधी आँधी में मनुष्य अपनी आंतरिक अस्मिता को भूलकर यंत्रवत हो गया है। उसके जीवन की स्वाभाविक नैसर्गिकता खत्म हो चुकी है। वह एक अनावश्यक कृत्रिमता का भार ढो रहा है। वह रोजी-रोजगार की तलाश में भटक रहा है क्योंकि खेती तथा लघु उद्योगों का स्थान अब बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने ले लिया है। इन कंपनियों ने रोजी-रोजगार के तमाम पारंपरिक साधनों को नष्ट कर दिया है और मनुष्य को एक 'औजार' बना दिया है। इस दृष्टि से अरुण कमल की कविता 'यात्रा' उल्लेखनीय है। इस कविता में एक रेल यात्रा का वर्णन है जिसमें एक पंजाबी युवक के पश्चिम बंगाल जाने की पीड़ा उभरकर आयी है-

"पंजाब तो बहुत खुशहाल है, निहाल सिंह?
सुनते हैं लोग वहाँ दूध और मट्ठे से तर हैं,
निहाल सिंह?
फिर तुम क्यों जाते हो पश्चिम बंगाल,
बोलो, निहाल सिंह?
कौन नहीं चाहता जहाँ जिस जमीन उगे
मिट्टी बन जाय वहीं,
पर दोमट नहीं, तपता हुआ रेत ही है घर
तरबूज का,
जहाँ निभे जिन्दगी वही घर वही गाँव।"[3]

भूमंडलीकरण एवं आर्थिक उदारीकरण की नीतियाँ कृषि सभ्यता के लिए सबसे घातक सिद्ध हुई हैं। इसने भारतीय कृषि व्यवस्था की संरचना को पूरी तरह ध्वस्त कर दिया है। कृषक, कृषक जीवन तथा कृषि उत्पादों को लेकर ऐसी भयावह स्थिति इससे पहले कभी नहीं हुई थी। यह कृषक जीवन, ग्रामीण जीवन एवं लोक जीवन पर इस तरह हमलावर है कि लगभग-लगभग इनके अस्तित्व को मिटा चुकी है। आर्थिक उदारीकरण और बाजारवाद ने घर को 'बाजार' और व्यक्ति को 'वस्तु' में बदल दिया है। आज व्यक्ति के ऊपर बाजार का जादू छाया हुआ है जिसे राजेश जोशी ने अपनी कविता में 'बाजारों का समय' कहा है-

"सूखते जा रहे हैं तुम्हारे घर, तुम कहाँ जाओगी?
यह शेयर बाजार के दलालों का समय है!
धुएँ को चाहिये आग का घर, मछलियों को पानी
किसी न किसी के आश्रय में ही रह सकती हैं छायाएँ
नदियों का नहीं समुद्रों का नहीं पेड़ पहाड़ों का नहीं
बाजारों का है यह समय !"[4]

भूमंडलीकरण के प्रभाव ने हमें परतंत्र बना दिया है। हम आज प्रत्यक्ष रूप से स्वतंत्र होते हुए भी बाजारवाद के व्यापारिक मायाजाल के गुलाम हैं। आज बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ व्यापार के लिए नाना प्रकार के विज्ञापनों का सहारा ले रही हैं। ये विज्ञापन हमें उपभोक्ता बना रहे हैं। उपभोक्तावादी मानसिकता का परिणाम यह हुआ कि अब हम अपनी आवश्यकता के अनुरूप वस्तुओं को नहीं खरीदते हैं बल्कि यह व्यापारिक लोकतंत्र की संस्कृति बाजार के अनुसार हमारी जरूरतों को निर्मित करता है और हम विज्ञापन से प्रभावित होकर खरीददारी करते हैं-

"जिसके पदार्थों का पहले ही भूमंडलीकरण किया जा चुका हो,
उसके आलू-कचालू का बारहमासी स्वाद
उसे ही बेचते हुए;
शिकंजी और जलजीरे को अपने शिकंजे में लेते हुए,
हल्दी और अदरक की गांठ मुंह में दबाए हुए
वह पूरे वातावरण के मुंह से बोलता दिखता है। वायुमंडल उसी के संदेश से लदा है
उसके व्यापारिक लोकतंत्र में जो न खाए-पिए
ताज्जुब नहीं वह कहलाए अस्तरीय असभ्य और हेय।"[5]

भूमंडलीकरण ने मुक्त बाजार और उदार अर्थनीति की एक नयी सभ्यता प्रसूत की। इस सभ्यता की शक्ति बाजार है। इस बाजार ने व्यक्ति के स्वत्व पर अपना अधिकार कर लिया है। इसने व्यक्ति के भीतर से संवेदनाओं को नष्ट करके उसे कृत्रिम वस्तु बना दिया। मानव का संवेदनाविहिन हो जाना सभ्यता के लिए सबसे खतरनाक होता है क्योंकि ऐसी स्थिति में व्यक्ति अपने नियंत्रण में नहीं होता। इंसान की इस गुलामी की ओर संकेत करते हुए ज्ञानेन्द्रपति अपनी कविता 'आजादी उर्फ गुलामी' में लिखते हैं-

"आजादी के गोल्डन जुबली साल में
बाजार से अपनी चीज चुरा चुनने की आजादी
और आपकी पसंद
वे तय करते हैं जिनके पास है उपकरणों का काया बल
विज्ञापनों का माया बल
आपको आजादी पसंद है
उन्हें चीजों का गुलाम बनाने की आजादी।"[6]

यद्यपि भूमंडलीकरण का प्रभाव भारत और उसकी संस्कृति पर नकारात्मक ही पड़ा है, तथापि समकालीन कवियों इसके कुछ सकारात्मक पहलुओं की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है। विदित है कि भूमंडलीकरण ने विश्व बाजार की संकल्पना प्रस्तुत की। इस संकल्पना में राष्ट्र के प्रति, राष्ट्र की आपसी निर्भरता की भावना में वृद्धि की है। इसके परिणामस्वरूप विपरीत से विपरीत ध्रुव के देश आपस में संवाद स्थापित कर रहे हैं। व्यापार, निवेशीकरण की प्रक्रिया में भाग ले रहे हैं और एक खुली दुनिया का निर्माण कर रहे हैं। यह खुली दुनिया व्यापार व वाणिज्य के लिए वरदान साबित हो रही है जिसकी ओर लक्ष्य करते हुए कवि नीरज ने अपनी कविता 'परिवर्तन' में लिखा है-

"सुंदर है ख्वाब, पलने दीजिए
नई चली है हवा, बहने दीजिए
जमाना बदल रहा है, आप भी बदलिए
पुराने ख्यालों को रहने दीजिए"[7]

भूमंडलीकरण की अवधारणा के आने के पूर्व अनेक देशों के आयात, निर्यात एवं टैक्स संबंधी नियम अलग-अलग थे। लेकिन इस अवधारणा ने इन मतभेदों को कम किया। निवेशक विकसित देशों को यह स्वतंत्रता दी कि वह विकासशील देशों में अपने पैसे एवं व्यापार का निवेश कर सकें। इससे कई पिछड़े देशों का संरचनात्मक विकास हुआ। विश्व व्यापार संघटन जैसे अंतर्राष्ट्रीय संघटनों ने विश्व व्यापार नीति का निर्धारण किया। भूमंडलीकरण ने तकनीकी, प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन किए। टेलीफोन, मोबाइल, इंटरनेट

आदि ने दुनिया को एक-दूसरे के समीप लाकर रख दिया है। यह भूमंडलीकरण का सकारात्मक प्रभाव है। इस प्रगति की नयी धारा ने विश्व को 'ग्राम' रूप में परिवर्तित किया। इसे लक्ष्य करते हुए रामदरश मिश्र अपनी कविता 'विश्व ग्राम' में लिखते हैं-

"विश्व ग्राम
कितना अच्छा लगा था यह शब्द
एक संगीत-सा गूँज उठा था मन में
वाह, कितनी सदियों के बाद
हमारा श्वसुधैव कुटुंबकमश रूप ले रहा है
अब देश तो क्या
पूरा विश्व एक गांव में परिणत हो रहा है।"[8]

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि समकालीन कवियों ने भूमंडलीकरण की अवधारणा पर अपने-अपने स्तर से विचार किया है। कुछ कवियों ने इसके सकारात्मक पक्ष पर विचार किया है तो कुछ कवियों ने इसकी नकारात्मकता को। इक्कीसवीं सदी के इस विकासशील समय में हम सभी भूमंडलीकरण के गिरफ्त में हैं। यह सत्य है कि संतुलित रूप में सभी सिद्धांत, अवधारणा, व्यापार आदि हितकारी सिद्ध होते हैं किंतु संतुलन के अभाव में सबकुछ नष्ट हो जाता है। 1990 के बाद जैसे-जैसे वैश्विक धरातल पर परिवर्तन हुए, वैसे-वैसे समकालीन कवियों की दृष्टि परिवर्तित हुई। समकालीन कविता भूमंडलीकरण, उपभोक्तावाद, बाजारवाद आदि के वर्चस्वशाली राजनीति के प्रति जनता को सचेत करती है। इस नयी धारणा ने भारतीय चिंताधारा को अंतर्राष्ट्रीय चिंताधारा को चिंतन के धरातल पर समीपता प्रदान की है। इसने भारतीय सोच को आधुनिक दृष्टि प्रदान की है। यदि भारतीय इस आधुनिक दृष्टि के साथ संतुलन बना पायें तो वे विकास की प्रतिस्पर्धा में जीत जायेंगे।

संदर्भ :

1. प्रसाद, भरत, कविता की समकालीन संस्कृति, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2017, पृ. 252
2. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, विचारधारा, नए विमर्श और समकालीन कविता, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2013, पृ. 157
3. कमल, अरुण, अपनी केवल धार, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण, 2006, पृ. 12-13
4. जोशी, राजेश, नेपथ्य में हँसी, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, तीसरा संस्करण, 2021, पृ. 77
5. जगूड़ी, लीलाधर, खबर का मुँह विज्ञापन से ढका है, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-2014, पृ. 103
6. ज्ञानेन्द्रपति, संशयात्मा, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-2004, पृ. 123
7. नवीन, देवशंकर, मिश्र, सुशांत कुमार संपा., उत्तर- आधुनिकता : कुछ विचार, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2000, पृ. 48
8. तिवारी, विश्वनाथ प्रसाद संपा., समकालीन भारतीय साहित्य, साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली, अंक-35, जुलाई-अगस्त,2011, पृ. 156

❑❑❑

शोधालेख

समकालीन हिंदी ग़ज़ल के सामाजिक सरोकार

❍ विजय कुमार[1]
❍ डॉ. माधवी[2]

संक्षिप्ति :
हिन्दी गजल परम्परा की शुरुआत कुछ विद्वान अमीर खुसरो से मानते हैं। कुछ विद्वान भारतेंदु से तो कुछ दुष्यंत कुमार को सबसे पहले हिन्दी गजलकार के रूप में स्वीकार करते हैं। शुरुआत में हिन्दी गजल लिखने वाले गजलकार गजल के मूल स्वरूप प्रेम और प्रकृति को अपने गजल का विषय बनाते थे। इससे गजल आम लोगों में बहुत प्रचलित हो गयी। दुष्यंत ने उन समस्याओं को गजल का विषय बनाया जिससे आम लोग सीधे जुड़े हुए थे। हिन्दी गजल ने हिन्दी कविता की तरह ही आम जन-जीवन की समस्या को रेखांकित किया है। समसामयिक मुद्दे को कभी हिन्दी के गजलकारों ने नजरअंदाज नहीं किया है। समकालीन हिन्दी गजल अपनी प्रगतिशीलता के कारण आज अपने उत्कर्ष पर है। समकालीन हिन्दी गजल आज सबसे लोकप्रिय विधा के रूप में जानी जाती है। समकालीन हिन्दी गजल में समाज के विभिन्न रूप खुलकर सामने आये हैं।

बीज-शब्द : विमर्श, हिन्दी गजल, परम्परा, सामाजिक विसंगति, सामाजिक सरोकार।

हिन्दी गजल आज काव्य की सबसे लोकप्रिय विधा है। हिन्दी गजल लिखने वाले रचनाकारों की लम्बी फेहरिस्त है। अमीर खुसरो से शुरू हुई यह यात्रा मीरा और कबीर के माध्यम से आधुनिक काल में भारतेंदु, निराला और प्रसाद तक आई। हिन्दी में भारतेंदु के आने तक गजल की कोई व्यवस्थित परम्परा नहीं थी। भारतेंदु के इस क्षेत्र में आने के बाद एक सुव्यवस्थित परम्परा की शुरुआत होती है। आज तो हिन्दी गजल अपने स्वर्णिम काल में है। हिन्दी गजल को इस मुकाम पर पहुंचने में समय जरूर लग गया लेकिन जब ये आयी तो अपनी भाषा, अपने व्याकरण, अपने बिम्ब और अपने मुहावरे के दम पर आई। हिन्दी गजल की कोई लोकप्रिय परिभाषा नहीं है। वरिष्ठ गजलकार और गजल आलोचक अनिरुद्ध सिन्हा इसको रेखांकित करते हुए लिखते हैं,

"उर्दू-फारसी की कसौटी पर गजल की ढेर सारी परिभाषाएँ गढ़ीं गई। मगर हिन्दी गजल संसार में इसकी कोई सर्वमान्य और विकसित परिभाषा नहीं है। इसका प्रमुख कारण हिन्दी गजल का कविता के समक्ष खड़ा

---

1. शोधार्थी, हिंदी विभाग, जयप्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा।
ई-मेल: 03vijaynkc@gmail.com, Mob.7631605510
2. शोध पर्यवेक्षक, हिन्दी विभाग, जयप्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा, बिहार

होना है। पर इतना तो कहा ही जा सकता है इसके भीतर एक आत्मा भी है जो मानवीय भावों, विचारों, स्वप्नों और उद्‌गारों के मधुरतम रूपों की साँसें ले रही है। गजल और कविता के बीच यही एक बुनियादी अंतर है। गजल में अन्तर्भूत सौंदर्य का महत्व है कविता में बाहरी सौंदर्य का महत्व है।"[1]

गजल का मूल विषय प्रेम रहा है। शुरू में हिन्दी के गजलकारों ने अपनी गजलों में भी प्रेम को ही मुख्य विषय बनाया। जब हिन्दी गजल के क्षेत्र में दुष्यंत आये तब उन्होंने इस परिपाटी को ध्वस्त किया। बाद के सभी गजलकार उनसे प्रभावित होकर प्रेमी और प्रेमिका की बात छोड़कर समाज की ओर उन्मुख होते हैं। समाज की विसंगतियों, राजनीति से मोह भंग, प्रकृति की चिंता और विश्वबंधुत्व जैसे मुद्दे को अपनी गजलों का विषय बनाते हैं। हिन्दी गजल के प्रसिद्ध आलोचक ज्ञानप्रकाश विवेक लिखते हैं,

"हिन्दी गजल का परिसर निरंतर विकसित हो रहा है। हिन्दी गजल में समाज अपने विभिन्न चेहरों के साथ खड़ा दिखाई देता है। दुष्यंत से लेकर युवा हिन्दी गजलकार, सभी अपने-अपने अंदाज में समय और समाज को असआर के जरिए व्यक्त कर रहे हैं।"[2]

समकालीन का अर्थ वर्तमान समय से है। साहित्य में जो भी समीचीन है वो समकालीन है। वैसे 90 के दशक के बाद की कविता को समकालीन कहा गया है। ये समय साहित्य की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। इस समय दुनिया तेजी से बदल रही थी। भारतीय समाज में आधुनिकता की रेस का दौर था। अपने अधिकारों की आवाज तेज कर रहा था। महिलाएं अपने हक के लिए सड़कों पर आ रही थीं। दलित समुदाय आन्दोलन कर रहे थे। लोग तेजी से शहर की तरफ भाग रहे थे। परिवार सीमित होने शुरू हो गए थे। ऐसे में गजल के क्षेत्र में भी बदलाव नजर आने लगे थे। कोई भी रचनाकार अपने समय का सबसे बड़ा प्रहरी होता है। वह इन सब बदलावों को महसूस करने के साथ ही अपनी गजलों में व्यक्त भी करता है। ज्ञानप्रकाश विवेक लिखते हैं,

"प्रत्येक रचनाकार का समय जटिल समय होता है। इसलिए प्रत्येक रचनाकार, अपने समय का सबसे बड़ा आलोचक होता है। वह अपनी रचना के माध्यम से समाज से संवाद करता है और तंत्र की विडंबनाओं पर हस्तक्षेप करता है। हिन्दी की गजलों में रिएक्ट करने की शक्ति है। हिन्दी की गजलों में जीवंतता का एक कारण यह भी है कि वह उस समाज की बात करती हैं जो खुद हलचल से भरा, जीवंत और जिजीविषा से भरा समाज है। करोड़ों लोगों के इस देश को हिन्दी गजल में करोड़ों तरह से न सही, लाखों तरह से न सही, हजारों तरह से तो व्यक्त किया ही जा सकता है। हिन्दी गजल के विविध रूप, रंग इसी विशाल समाज से छन कर आए हैं।"[3]

समाज में जो कुरीतियां फैल रही थीं उसको अपने काव्य का विषय समकालीन हिन्दी गजलकारों ने बनाया। कभी भाई के प्रेम की मिसाल दी जाती थी। आज स्थिति बिलकुल विपरीत है। आज घर टूट रहे हैं। भाई-भाई में प्रेम नहीं है। एक भाई दूसरे की जान का दुश्मन बना हुआ है। इस अति संवेदनशील मुद्दे को अनिरुद्ध सिन्हा ने अपने शेर में कुछ इस तरह से व्यक्त किया है,

हम अपनी जान भले क्यों न कर दें न्योछावर,
हमारे भाई की छाती पिघल नहीं सकती।[4]

हमारा घर और परिवार कितने हिस्से में बंट गया है ये देखने के लिए आज बहुत मेहनत करने की जरूरत नहीं है। आप कोई भी समाचार पत्र उठाकर पढ़ लीजिये आपको बहुत आसानी से ये दिख जायेगा कि अपने लोगों ने ही किसी अपने को जान से मरने के लिए पैसे दिए हैं। आज कोई भी रिश्ता अपराध से अछूता नहीं है। अविनाश भारती का ये शेर देखिये,

रोने लगे थे बोल के कातिल भी ये मेरे,

तेरा पता ये हमको तेरे घर से मिला है।[5]

समय ऐसा बदल गया है कि कोई भी गाँव में नहीं रहना चाहता है। सब लोग शहर की तरफ तेजी से भाग रहे हैं। शहरों में किसी तरह का कोई आपसी सम्बन्ध नहीं है। किसी तरह का अपनापन नहीं मिलता। ऐसे समय में अपना घर, अपना गाँव और अपने लोग ही याद आते हैं। भले गाँव का घर, जो बाबूजी ने बनाया है वो कच्चा है लेकिन प्रेम, स्नेह और सुकून तो उसी घर में था। आज समाज की ये सबसे बड़ी समस्या ये है कि संतान अपने परिवार को लेकर शहर में जाकर बस जाते हैं लेकिन माता-पिता गाँव में अकेले रह जाते हैं। अनिरुद्ध सिन्हा का एक शेर देखिये,

नगर में आये हैं तो खानदान है गायब,
पिता की याद का कच्चा मकान है गायब।[6]

हमारे देश को आजाद हुए लम्बा अरसा हो गया है। आज भी हम भूख से लड़ रहे हैं। हर व्यक्ति को दो वक्त का भोजन तक नसीब नहीं है। आज भी हमारे देश की कूल जनसंख्या के लगभग तीन हिस्से को मुफ्त में राशन दिया जा रहा है। इसके बावजूद बहुत से लोग भूखे रात गुजारने को अभिशप्त हैं। इस समस्या को रेखांकित करते हुए क्रमश: अनिरुद्ध सिन्हा और अभिषेक कुमार सिंह का शेर देखिये,

भूख ने खिंच लीं सब्र की सब नसें,
वक्त को उनका कातिल बनाना पड़ा।[7]

भुखमरी का दैत्य जब विकराल होता जायेगा,
देश का सारा बदन कंकाल होता जायेगा।[8]

हमारे समाज में तेजी से सांस्कृतिक पतन हो रहा है। हम जिन आदर्शों के लिए पूरी दुनिया में जाने जाते थे वो आदर्श आज खत्म होता हुआ नजर आ रहा है। आज बच्चे ही अपने माता-पिता को नसीहतें देते हुए नजर आते हैं। इस संवेदना को गहराई से छूते हुए अविनाश भारती के शेर देखें,

नजर जिनको मिली हमसे वही आँखें दिखाते हैं,
कदम कैसे कहाँ रक्खें हमें बच्चे बताते हैं।[9]

घर के बच्चों को क्या हो गया दोस्तों,
आज सबको ये आँखें दिखाने लगे।[10]

हिन्दी गजल के रचनाकार समाज में हो रहे बदलाव को बहुत सूक्ष्मता से परखते हैं फिर उन भावनाओं को शब्दों में पिरोते हैं। हिन्दी के गजलकार शहरों में तेजी से हो रहे बदलाव और खत्म होती मनुष्यता, मरती संवेदना, बढ़ते हुए भवन निर्माण को अपने शेर में व्यक्त करते हैं। अंजू केशव का ये शेर देखिए,

कंक्रीटों का जंगल है जो,
ये तो आदमखोर बहुत हैं।[11]

नाम पे घर के हैं दीवारें बचीं,
वक्त पर जा के घर क्या करते।[12]

अभिषेक कुमार सिंह का ये शेर देखिये-

सभी मशगूल हैं अपनी उड़ानों में,
बदलते जा रहे हैं घर मकानों में।[13]

टूटते हुए घर की त्रासदी हर एक रचनाकार की चिंता में शामिल है। आज घर-घर नहीं रह गया है। वो एक मात्र कंक्रीट का जंगल बन कर रह गया है। आदमी में संवेदनाएं नहीं बची हैं। कोई किसी से बात करने के लिए तैयार नहीं है। घर लोगों से बनता है, कंक्रीटों और दीवारों से नहीं। वहीं इन तैयार हो रहे कंक्रीटों के जंगल के कारण आज पेड़-पौधे, नदी-तालाब और खेल के मैदान आदि खत्म होते जा रहे हैं। प्रकृति से हम लगातार दूर होते जा रहे हैं। पूरी दुनिया जल के संकट से जूझ रही है। अभिषेक कुमार सिंह के एक शेर में ये चिंता झलकती है। उदाहरण देखिए,

रोज ही कंक्रीट के जंगल अगर उगते रहे,
रेत में तब्दील प्यासा ताल हो जायेगा।[14]

समकालीन होने का अर्थ है अपने समय के प्रति सचेत होना। कोई भी रचनाकार या कोई भी विधा तभी समकालीनता के धरातल पर टिक पायेगी जब वह अपने समय के सच का बयान करे। इस सम्बन्ध में ज्ञान प्रकाश विवेक लिखते हैं-

"कोई भी गजलकार अपने समय से पिछड़ना नहीं चाहता। अपने समय और समाज से संवाद बनाए रखने के लिए जरूरी है कि समय के साथ चला जाए। उन सच्चाइयों को व्यक्त किया जाए, व्यवस्था जिन्हें छुपाने की भरसक कोशिश कर रही है।"[15]

हमारे समय की सबसे बड़ी समस्या भ्रष्टाचार है। इस भ्रष्टाचार में सत्ता और व्यवस्था दोनों शामिल है। ओमप्रकाश यति एक बेहद जागरूक गजलकार हैं। उनका शेर देखिए,

करे इक जुर्म तो इक रोकने वाला है उसको,
मगर सच है कि दोनों की कमाई चल रही है।[16]

वो रिश्वतखोर बैठे हैं उन्हीं सीटों पे अब भी,
हुकूमत रोज कहती है, सफाई चल रही है।[17]

हम आज एक मनुष्य के तौर पर नहीं जाने जाते हैं। आज या तो हम उपभोक्ता हैं या वस्तु। हर चीज का मोल लगाया जा रहा है। आज बाजार सब कुछ तय कर रहा है। हम बाजार के गुलाम बनकर रह गए हैं। वरिष्ठ गजलकार रामदरश मिश्र के शेर देखिये-

बाजार को निकले हैं लोग बेच के घर को,
क्या हो गया है जाने आज मेरे शहर को।[18]

घर, घर न रहा बन गया दुकान किसी की,
बाजार के सामान-सी इक्कीसवीं सदी।[19]

आज समस्या इतनी जटिल हो गयी है कि हर हाथ में मोबाइल है और हर हाथ में बाजार है। आज घर में बैठे-बैठे पूरी दुनिया भर के बाजार से सामान खरीदने की सुविधा बाजार ही हमें उपलब्ध करवा रही है। इस संदर्भ में वशिष्ठ अनूप जी का शेर देखिए,

चलो बाजार से घर आ गए पर,
ये घर बाजार होता जा रहा है।[20]

भारतीय समाज में एक विसंगति बहुत तेजी से फैल रही है और वो है धार्मिक। आज हमारा भारतीय समाज अराजक होता जा रहा है। मंदिर और मस्जिद के नाम पर लोग मारे जा रहे हैं। कोई भी समझने के लिए तैयार नहीं है। सत्ता और व्यवस्था मूक दर्शक की भूमिका में है। रामदरश मिश्र जी के शेर देखिए,

इन्सान के सिर पर मजहब की दूकान सजाये बैठे हो,
सच के शव पर अपने-अपने भगवान सजाये बैठे हो।[21]

हिन्दू का है न मुसलमाँ का, जो खून बहा इंसा का है,
तुम कितने-कितने रंगों के इन्सान सजाये बैठे हो।[22]

लाशों के बीच नाचती, मजहब के नाम पर,
सनके हुए शैतान-सी इक्कीसवीं सदी।[23]

इस संदर्भ में डॉ. पंकज कर्ण का एक शेर देखिए

उसे तालीम है उल्फत की 'पंकज',
उसे नफरत सिखाकर क्या करोगे।[24]

समकालीन हिन्दी गजल की भाव भूमि बहुत समृद्ध है। इसमें समाज के ज्वलंत मुद्दे को स्थान दिया गया है। धार्मिक उन्माद, कट्टरता, वैमनष्यता, विज्ञान, पर्यावरण की समस्या हो या गरीबी भुखमरी बात हो यहाँ सब है। ज्ञानप्रकाश विवेक लिखते हैं,

"विधाओं में न सरहदें होती हैं न चारदीवारियां। लेकिन समाज की विडम्बनाओं को दरकिनार करते हुए मैं और तू के बीच की कशमकश को ही गजल का केंद्र बना लेना, गजल के विशाल परिसर को सीमित करने जैसा है।"[25]

90 के बाद का दशक विमर्श का दौर है। इसमें एक वृद्ध विमर्श है। आज किसी के पास समय नहीं है। बच्चे अपने माता-पिता से बात तक नहीं करते हैं। कई बार तो यह देखा गया कि लोग अपने आसक्त और बीमार माता-पिता को सड़क, बाजार, स्टेशन पर छोड़ कर चले गए। कई बार उन्हें वृद्धाश्रम में छोड़ देते हैं और मरने के बाद भी उन्हें देखने तक नहीं जाते हैं। इसको डॉ. पंकज कर्ण महसूस करते हैं। एक शेर देखिए,

बुजुर्ग घर के उपेक्षित न हों कोई 'पंकज',
ऐसे हालात पर भी मशविरा किया जाए।[26]

सत्यम भारती का एक शेर देखिए,

बहू रोज डिस्को जाती है,
वृद्धाश्रम में सास आजकल।[27]

राहुल शिवाय का एक शेर देखिए,

जाते ही त्यौहार, सब नजरों से बाहर हो गए,
नूर बूढ़ी आँखों के बस वालपेपर हो गए।[28]

साहित्य की सभी विधाओं में स्त्रियों पर खूब लिखा गया है। उनके उत्थान की बातें होती हैं। लेकिन न ही स्त्रियों को बराबरी का हक मिलता है न ही उनके खिलाफ हो रही हिंसा समाप्त हो रही है। आज भी दहेज के लिए महिलाओं की हत्या की जा रही है। रास्ते चलते किसी बहसी का शिकार बन जाती हैं। ये चिंता हिन्दी के गजलकारों में खूब नजर आती है। डॉ. भवना के कुछ शेर देखिए,

छुपा जाती सारे गम, नहीं कुछ भी बताती है,
जो औरत अपने ही घर में सताई रोज जाती है।[29]
हैं दरीचे न खिड़कियाँ घर में,

क्यों भला खुश हों बेटियां घर में।[30]
लाडली जब गयी है अपने घर,
बेसबब क्यों हैं सिसकियाँ घर में।[31]

नज्म सुभाष का शेर देखिये–

सामने ही ख़ूँ से लथपथ रेशमी सलवार है,
हद है इसपर भी सभी को रेप इनकार है।[32]

सत्यम भारती का शेर देखिए,

आजकल महफूज दिखती हैं कहाँ,
रक्स करती शाख की वो तितलियाँ।[33]

पर्यावरण हमारे समाज की सबसे पहली प्राथमिकता है। अगर पर्यावरण साफ और सुन्दर नहीं होगा तब हम स्वस्थ्य और दीर्घायु नहीं हो सकते। लगातार पेड़ काटे जा रहे हैं। पहाड़ों को काटकर रास्ता बनाया जा रहा है। आज पशु पक्षियों की कई प्रजातियाँ विलुप्त हो रही हैं। कभी बाढ़ से हम परेशान हो जाते हैं तो कभी सूखे की चपेट में आ जाते हैं। आज दिल्ली जैसे शहरों में लोगों का साँस लेना मुश्किल हो गया है। संजीव प्रभाकर के शेर में दिल्ली की हवा की चिंता सामने आती है। शेर देखिए,

न मिले जहर हवा में, न हो बंद-बंद दिल्ली,
कोई रास्ता निकालो, मेरी अक्लमंद दिल्ली।[34]

पर्यावरण की चिंता पर विकास का एक शेर देखिये–

सूरज, सितारे, चाँद फिजा के मिजाज को,
छेड़ा न कीजियेगा खुदा के मिजाज को।[35]

इन सन्दर्भों के अध्ययन से पता चलता है कि समकालीन हिन्दी गजलकार अपने समय को लेकर बहुत सचेत हैं। वे जीवन के विभिन्न पहलुओं को विस्तार से अपनी रचना में उतार रहे हैं; और, जनता के हक की लड़ाई लड़ रहे हैं, जनता का पक्ष रख रहे हैं। आज समकालीन हिन्दी गजलकारों की पहली प्राथमिकता जन पक्षधरता है।

निष्कर्ष

अस्तु, हम कह सकते हैं कि समकालीन हिन्दी गजल अपने समय को जी रही है। आज रचनाकार बेखौफ होकर जनता की आवाज बने हुए हैं। और जब भी कोई उम्मीद भरी नजरें इस ओर उठती हैं तो निराशा हाथ नहीं लगती। हिन्दी के रचनाकार जिस तेवर के लिए जाने जाते हैं, वह आज भी बरकरार है। ये तभी संभव है जब आप अपने कार्यों के प्रति सचेत और ईमानदार होंगे। हिन्दी के गजलकार व्यवस्था की आँखों में आँखें डालकर सच कह रहे हैं। वे सिर्फ जनता की आवाज बने रहना जानते हैं। स्त्रियों पर अत्याचार, वृद्ध लोगों के दुःख-दर्द, गरीबी, भ्रष्टाचार, विमर्श, पर्यावरण, अंधाधुंध शहरीकरण, आपसी सम्बन्ध जैसे सामाजिक सरोकारों को आज गजलकार रेखांकित कर रहे हैं। आगे जब कोई भी व्यक्ति आज के साहित्य को पढ़ेगा तब वह अपना इतिहास भी पढ़ रहा होगा।

संदर्भ :

1. अनिरुद्ध सिन्हा, हिन्दी गजल के युवा चेहरे, श्वेतवर्णा प्रकाशन, 2024, पृ. 83

2. ज्ञानप्रकाश विवेक, हिन्दी गजल की नयी चेतना, प्रकाशन संस्थान, 2021.
3. ज्ञानप्रकाश विवेक, हिन्दी गजल की शक्ति और संचेतना, श्वेतवर्णा प्रकाशन, 2023, पृ. 90
4. अनिरुद्ध सिन्हा, तुम भी नहीं, भारतीय ज्ञानपीठ, 2021, पृ. 104
5. अनिरुद्ध सिन्हा, हिन्दी गजल के युवा चेहरे, श्वेतवर्णा प्रकाशन, 2024, पृ. 36
6. अनिरुद्ध सिन्हा, तुम भी नहीं, भारतीय ज्ञानपीठ, 2021, पृ. 101
7. वही, पृ. 100
8. अभिषेक कुमार सिंह, वीथियों के बीच, लिटिल बर्ड पब्लिकेशंस, 2022, पृ. 23
9. सं. रविनंदन सिंह, सरस्वती, इन्डियन प्रेस पब्लिकेशंस, अप्रैल-जून, 2024, पृ. 126
10. वही, पृ. 126
11. अंजू, केशव, सन्नाटे में शोर बहुत है, लिटिल बर्ड पब्लिकेशंस, 2024, पृ. 21
12. वही, पृ. 105
13. अभिषेक कुमार सिंह, वीथियों के बीच, लिटिल बर्ड पब्लिकेशंस, 2022, पृ. 128
14. वही, पृ. 23
15. ज्ञानप्रकाश विवेक, हिन्दी गजल की नयी चेतना, प्रकाशन संस्थान, 2021, पृ. 23
16. ओमप्रकाश, यती, हाँ नहीं तो, श्वेतवर्णा प्रकाशन, 2024, पृ. 56
17. वही, पृ. 56
18. सं. ओम निश्छल, खुले मेरे ख्वाबों के पर धीरे-धीरे (रामदरश मिश्र की गजलें), सर्वभाषा प्रकाशन, 2023, पृ. 29
19. वही, पृ. 97
20. वशिष्ठ अनूप, प्रतिनिधि गजलें छंद तेरी हंसी का, वाणी प्रकाशन, 2023, पृ. 90
21. सं. ओम निश्छल, खुले मेरे ख्वाबों के पर धीरे-धीरे (रामदरश मिश्र की गजलें), सर्वभाषा प्रकाशन, 2023, पृ. 87
22. वही, पृ. 87
23. वही, पृ. 97
24. डॉ. पंकज कर्ण, आसमां एक नया चाहिए, श्वेतवर्णा प्रकाशन, 2023, पृ. 82
25. ज्ञानप्रकाश विवेक, हिन्दी गजल की नयी चेतना, प्रकाशन संस्थान, 2021, पृ. 221
26. डॉ. पंकज कर्ण, आसमां एक नया चाहिए, श्वेतवर्णा प्रकाशन, 2023, पृ. 83
27. डॉ. पंकज कर्ण, आसमां एक नया चाहिए, श्वेतवर्णा प्रकाशन, 2023, पृ. 129
28. राहुल शिवाय, रास्ता बनकर रहा, श्वेतवर्णा प्रकाशन, 2024, पृ. 35
29. डॉ. भावना, मेरी माँ में बसी है, श्वेतवर्णा प्रकाशन, 2022, पृ. 50
30. डॉ. भावना, धुंध में धूप, बोधि प्रकाशन, 2023, पृ. 50
31. वही, पृ. 50
32. डॉ. पंकज कर्ण, आसमां एक नया चाहिए, श्वेतवर्णा प्रकाशन, 2023, पृ. 73
33. वही, पृ. 130
34. संजीव प्रभाकर, ये और बात है, श्वेतवर्णा प्रकाशन, 2023, पृ. 157
35. विकास, अभी दीवार गिरने दो, श्वेतवर्णा प्रकाशन, 2022, 79

❖❖❖

शोधालेख

उत्तर छायावादी हिंदी कविता की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

❍ आभा गुप्ता✡

संक्षिप्ति :

उत्तर छायावाद का समय सन् 1936 से मानकर हिन्दी पृष्ठभूमि का विश्लेषण करेंगे। सन् 1924-25 के बाद का दौर स्वतन्त्रता प्राप्ति के संघर्ष का दौर था। भारतीय जनता ब्रिटिश शासकों के मनमाने अत्याचार को चुपचाप सह रही थी। वे भारतीयों के साथ अमानवीय व्यवहार करते थे, जिससे भारतीय जनता त्रस्त हो गयी थी। उस समय की पूर्ण राजनीतिक स्थितियों में बंगाल विभाजन, प्रथम विश्व युद्ध, बंगाल का अकाल एवं द्वितीय विश्वयुद्ध आदि की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इन आन्दोलनों एवं युद्धों से गुजरने के बाद भारत की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्थिति अत्यन्त ही प्रभावित हुई है।

बीज शब्द : सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक, पलायन, निराशा, हतोत्साह, सोसाइटी, परिस्थिति।

छायावाद में जिस जीवन-दर्शन का विकास हुआ है, उससे तत्कालीन पराधीन हिन्दी समाज को स्पष्ट चिन्तन धारा नहीं मिल सकी। अद्वैतवादी दार्शनिक के समान छायावादी कवि वस्तु स्थिति से इतना दूर गया कि आकाश, नक्षत्र लोक, नन्दनवन, चाँदनी तक पहुँचने के रंगीन सपने संजोने लगा। गीतों में निराशा एवं वेदना प्रभावित होने लगी। अतः जीवन के प्रति इस पलायनवादी दृष्टिकोण के कारण छायावादी कविता को ह्रास का मुख देखना पड़ा। उत्तर छायावाद हिन्दी कविता की नींव छायावाद की वायवीयता से दूर यथार्थ की कठोर धरती पर रखी गयी, परन्तु निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि इसका विकास छायावाद के तुरन्त बाद हुआ। साधारणतः "नये युग के हिन्दी काव्य का इतिहास कविता के क्षेत्र में होने वाली छायावादोत्तर प्रगति का इतिहास है। सन् 1936 ई. नव्यतर काव्य-प्रगति का वह प्रारम्भिक बिन्दु है, जब 'कामायनी' के रूप अपनी अव्यतम सिद्धि देकर तथा 'युगान्त' के रूप में एक नए युग के प्रवर्तन की घोषणा कर छायावादी कविता मूल प्रवृत्ति के रूप में एक नये प्रकार के काव्य को स्थान देकर अपनी ऐतिहासिक भूमिका पूर्ण करती है और राजनीति-दर्शन तथा सामाजिक वास्तविकताओं के विषम व्यूहों को चीरता हुआ नया काव्य हिन्दी के रंगमंच पर उपस्थित होता है।[1]

✡ *असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी, राजकीय महाविद्यालय, जक्खिनी, वाराणसी।*

समाज की संरचना में व्यक्ति, कला, संस्कृति एवं साहित्य का महत्वपूर्ण योगदान होता है। सभी कलाएँ समाज का आधार पाकर ही किसी भी देश में विकास पाती हैं। कला, संस्कृति एवं साहित्य के उत्थान-पतन पर सामाजिक सुधार की भूमिकाएँ निर्भर करती है। सामाजिक उत्थान के प्रयास की ओर जब हम देखते हैं तो उसके विकास के कई सोपान दिखाई पड़ते हैं। प्रथम, वह प्रयास जो बौद्धिक व्याख्या को छोड़कर सामाजिक जीवन में जागृति का आह्वान करता है। इस कार्य में सर्वप्रथम राजाराम मोहनराय, केशवचन्द्र सेन, महादेव गोविन्द रानाडे, गोखले आदि अग्रसर होते है। ब्रह्मसमाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, भारत सेवक समाज, सोशल कान्फ्रेन्स, श्री शारदा सदन और सेवा सदन जैसी संस्थाओं का योगदान इस क्षेत्र में सराहनीय रहा। दूसरे सोपान में गाँधी जी नायक के रूप में उभर कर सामने आये और उन्होंने अछूतोद्धार, नारी शिक्षा, शिक्षा-प्रसार आदि पर विशेष बल दिया। इस युग में साम्राज्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत राजा, जमींदार और बड़े-बड़े पूंजीपतियों को रखा जा सकता है, जो निम्नवर्ग के व्यक्तियों का शोषण करता है और स्वयं विलासिता का जीवन व्यतीत करता है। दुधमुँहे शिशुओं को दूध नहीं मिलता था, युवतियों के लज्जा-वसन बेचकर ब्याज चुकाये जाते थे, ऐसे समाज में यदि जनता व्यापक परिवर्तनों की मांग करे और उसका कवि उसकी इस मांग को वाणी दे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। "यही कारण है कि सामयिक हिन्दी कवियों ने समाज की इस सड़ी-गली व्यवस्था के ध्वंस तथा वर्गहीन समाज की स्थापना हेतु क्रांति का ही आश्रय ग्रहण किया।"[2]

भारतीय समाज में जाति-व्यवस्था, वर्ग वैषम्य, ऊँच-नीच के भेदभाव, अस्पृश्यता, रूढ़िवादिता, साम्प्रदायिकता आदि बातें प्रचलित थीं। सामाजिक क्षेत्र में सुधार के लिए अनेक कदम उठाये गये, सामाजिक रूढ़ियों को दूर करने का प्रयास किया गया किन्तु कोई ठोस निष्कर्ष नहीं निकल पाया। इसका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय परतंत्रता के साथ-साथ मानसिक गुलामी भी भारतीयों को मिली, जिसे आज तक भी महसूस किया जा सकता है।

बीसवीं शताब्दी के दूसरे -तीसरे दौर में भारतीय राजनीति में विविध घटनाओं और जटिल स्थितियों का जन्म हुआ। भारतीय जनता जहाँ स्वंतंत्रता प्राप्ति के लिए अपना सब कुछ न्यौछावर करने को तत्पर हुई वहीं ब्रिटिश शासकों का दमन चक्र तीव्र होता गया। प्रथम विश्व युद्ध के बाद भारतीय जनता जागरूक हुई और अहिंसक प्रयासों के साथ ही वह देश की स्वतंत्रता के लिए हिंसात्मक तथा क्रांतिकारी कदम उठाने की दिशा में भी सक्रिय होने लगी। सन् 1920 में गाँधी जी ने असहयोग आन्दोलन, सत्याग्रह और सविनय अवज्ञा आन्दोलनों के माध्यम से देश में एक नई राष्ट्रीय चेतना जागृत की। सन् 1930 में नमक कानून तोड़ने के लिए गाँधी जी ने डांडी यात्रा की। उसी समय सन् 1930 में प्रथम गोलमेज सम्मेलन और सन् 1931 में द्वितीय गोलमेज सम्मेलन हुआ। सन् 1935-38 के बीच कई क्रांतिकारी फाँसी के तख्ते पर लटकाये गए। जनता अभी तात्कालिक समस्याओं से जूझ ही रही थी कि सन् 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध की विपत्ति उन पर आन पड़ी। इस घटना से चारों तरफ निराशा, हतोत्साह, किंकर्तव्य विमूढ़ता के बादल छा गए। उनकी रचनाओं में समाजवादी भावनाओं का उदय होने लगा। डॉ. धर्मवीर भारती ने अनुभव किया कि "साहित्य में भी एकाएक बिल्कुल नया दृष्टिकोण आया है जो बेहद तीखा है और वह न जाने कहाँ से आकर पुराने युगबोध, पुरानी चेतना, पुराने दृष्टिकोण के सामने खड़ा हो गया है जो हमने अकस्मात पाया कि दोनों में पारस्परिक अविश्वास है, तनाव है, क्षोभ है।"[3]

भारतीय राजनीति में सन् 1942-43 का अधिक महत्व रहा है। गाँधी जी ने 'भारत छोड़ो आन्दोलन' व 'करो या मरो' का नारा दिया और भारतीयों से आग्रह किया कि वे इस आन्दोलन में अहिंसात्मक रहकर प्राण न्यौछावर कर दें। सन् 1942 में ही बंगाल में भीषण अकाल पड़ा एवं सन् 1947 में लार्ड माउन्टबेटन के एक समझौते से भारत और पाकिस्तान का विभाजन हो गया। इन सारी स्थितियों का सामना करने में जनता की बहुत

दुर्दशा हुयी। इस युग के कवियों पर इन सबका प्रभाव पड़ा। वे कल्पना लोक से निकल कर युग के यथार्थ से प्रभावित होकर रचनाएं करने लगे जिनमें कुण्ठा, हताशा, क्षोभ आदि के स्वर उभरने लगे थे। "सन् 40 के आस-पास राष्ट्रीय जीवन में संघर्ष दमन, भ्रष्टाचार, महंगाई आदि और गांधीवादी नीतियों की असफलता को देखकर समाज में घोर निराशा का परिवेश निर्मित हुआ। ऐसे में कवियों का एक बड़ा वर्ग गहन पराजय वृत्ति से आक्रान्त होकर अपने को त्रिशंकु की स्थिति में फंसा मान बैठा और दूसरा वर्ग समाजवादी संघर्ष के रास्ते पर चल पड़ा।"[4]

देश की सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति का मूलाधार आर्थिक स्थिति ही होती है। देश की आर्थिक स्थिति के आधार पर उनका मूल्यांकन किया जा सकता है। ब्रिटिश शासकों ने भारत देश को बिल्कुल अपने शिकंजे में ले लिया था। वे पूरी तरह से उसका शोषण कर रहे थे और अपना हित चाहते थे। रजनी पामदत्त ने लिखा है कि इस समय (1931 के आस-पास) "गाँव के हर व्यक्ति की वार्षिक आय औसतन 38 रुपये या 2 पौ0 16 शि 0 है। जमींदार टैक्स कलेक्टर और महाजन के भाग को देकर उसके पास वर्ष भर के लिए केवल 13 रुपये या 17 शिलिंग बच जाते थे।[5]

अंग्रेजों ने भारत के औद्योगिक क्षेत्र एवं कृषि क्षेत्र को पूरी तरह नष्ट करने का प्रयास किया। व्यापार से जो भी पूँजी प्राप्त होती थी, वह प्रतिवर्ष इग्लैण्ड भेज दी जाती थी। बड़े-बड़े पूँजीपतियों तथा उद्योगपतियों ने भी ब्रिटिश शासकों से मिलकर उनके साथ व्यापार करना शुरु कर दिया। "भारतीय जन-जीवन की दरिद्रता का वास्तविक कारण निरन्तर दो सौ वर्ष तक होने वाला साम्राज्यवादी शोषण ही है। साम्राज्यवादी शासकों ने भारत के विशाल प्राकृतिक साधनों व जनशक्ति का अपने व्यक्तिगत स्वार्थो के हेतु प्रयोग कर जहाँ एक ओर अपने देश की पूँजी और सभ्यता में वृद्धि की, वहीं भारतीय जनता को सदैव के लिए विषमता की आग में सुलगने को छोड़ दिया। अपने यहाँ तैयार किये गए माल की खपत के हेतु उन्होने यहाँ के उद्योग-धन्धों को बिल्कुल ही नष्ट कर दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि गाँवों के कारीगर एवं कलाकार अपनी उदर पूर्ति के लिए या तो किसान अथवा खेतिहर मजदूरों में परिणत हो गए या नगरों की ओर चल पड़े। जहाँ उन्हें ग्रसने के लिए एक व्यापक पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था पहले से मुँह फैलाए खड़ी थी।"[6]

देश की जनता को शोषण भुखमरी अकाल आदि का लगभग सन् 1947 तक सामना करना पड़ा था। उस समय के कवियों ने भी अपनी रचनाओं में इस व्यवस्था के खिलाफ आवाज उठाई और जनता को इन परिस्थितियों के विरुद्ध खड़े होने का बल दिया। नरेन्द्र शर्मा की इन पंक्तियों से जनता की स्थिति का अंदाजा लगाया जा सकता है -

"भूख-भूख सब ओर भूख की लपटें ईधन तक दुर्लभ,
किसे आज कहने की क्षमता और किसे सुनने का बल।
हाथ बंधे मुँह बन्द और सिर पर विनाश बादल छाया।
क्षुब्ध तरंगों पर उतराया कंकालों का दल आया।"[7]

भारतीय संस्कृति विश्व मानव इतिहास की एक अमूल्य निधि है। विश्व का कोई भी भाग, कोई भी जाति या सम्प्रदाय इसके प्रभाव से अछूता नहीं रहा है। संस्कृति किसी देश या समाज की आत्मा होती है, जिसका अर्थ होता है- "मन की, हृदय की वृत्तियों को संस्कार के द्वारा सुधारना तथा उदात्त बनाना। वस्तुतः संस्कृति आंतरिक गुणों का समूह है। वह एक प्रेरक शक्ति है।"[8]

भारतीय संस्कृति के लिए यह युग संकट का था। इसका प्रछन्न रूप भारत में आये हुए विदेशियों के कुटिल नीत के कारण तिरोहित होने लगा था, परन्तु प्रतिक्रिया स्वरूप भारतीय मनीषियों ने उसे पुनर्जीवित करने का

दृढ़ संकल्प ले लिया। ब्रह्म समाज की स्थापना, आर्य समाज का उदय, थियोसॉफिकल सोसाइटी का जन्म और श्री रामकृष्ण परमहंस के आवागमन से इस संस्कृति का मौलिक रूप फिर से उभर कर सामने आने लगा। स्वामी विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी, भगत सिंह जैसे कर्मवीरों का योगदान हमारे पुनर्जागरण में सहायक हुआ। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात जनता के महान उद्देश्य और जीवन मूल्यों की व्यावहारिक परिणति कांग्रेसी शासन में न हो सकी जिसके कारण निराशा और कुण्ठा की प्रवृत्ति पनपने लगी। फलस्वरुप समाज में सांस्कृतिक संकट के बादल मंडराने लगे। "फलतः देश में बेइमानी, घूसखोरी, चोरबाजारी और इसी प्रकार के अन्य भ्रष्टाचारों का जोर बढ़ गया। साहित्यकार के लिए यह परिस्थिति बड़ी खतरनाक थी। विकृत आचरणों के बीच नए तथा स्वस्थ नैतिक मूल्यों का निर्माण उसे करना था। समाज के पतन के सम्पर्क में रहकर और किसी हद तक उससे प्रभावित भी होकर उसे नवीन आदर्श गढ़ने थे और सच तो यह है कि बिना इन विकृतियों के संघर्ष उदार मानवतावाद का विकास होना कठिन था।"[9]

एक साहित्कार ही ऐसा है जो समाज की विसंगतियों, सामाजिक और राजनीतिक आदि परिस्थितियों से घबड़ाकर पीछा नहीं छुड़ाता है, बल्कि अपनी रचनाओं में युग की स्थितियों का खुलासा करता है।

छायावादोत्तर काल की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि बहुत महत्वपूर्ण है। इस युग का काव्य राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आधारों पर विश्वास के साथ खड़ा है। कोई भी साहित्य युगीन परिस्थितियों या प्रवृत्तियों से अछूता नहीं रह सकता है। यह युग मूल्यों की संक्रांति एवं संक्रमण का युग है।[6] इस संक्रांति युग में निर्माण के अदृश्य अंकुरों से अधिक ध्वंस के अवशेष दिखाई पड़ते हो तो आश्चर्य क्या ?

समस्त युग-चेतना को संवेदित करके उसको अभिव्यक्ति का रूप देने वाले कवि का दायित्व इस युग में सबसे अधिक जटिल और असाध्य हो गया है। उसको इस युग के समस्त संघर्ष, विषमता, विश्रृंखलता को झेलना ही होगा। यदि वह झेल नहीं सकेगा, तो उसमें संवेदित नहीं हो सकेगा।[10]

संदर्भ :

1. डॉ. शिवकुमार मिश्र, आधुनिक कविता और युगदृष्टि, पृ. 119
2. डॉ. टी.एन. मुरली, छायावादोत्तर काव्य प्रवृत्तियाँ, पृ. 26-27
3. भारती : मानव मूल्य और साहित्य, पृ. 91
4. अवधेश नारायण मिश्र, सभाजीत पाण्डेय 'अश्रु : एक मूल्यांकन, पृ. 12
5. इण्डिया टूडे, अध्याय 8, पृ. 211-212
6. डा. टी. एन. मुरली कृष्णम्मा, छायावादोत्तर काव्य प्रवृत्तियाँ, पृ. 25
7. नरेन्द्र शर्मा, क्षुधा सिन्धु, हंस नवम्बर 1947, पृ. 141
8. श्री सावरिया बिहारी लाल वर्मा, विश्वधर्म दर्शन, पृ. 363
9. डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी नवलेखन, पृ. 37
10. डॉ. रघुवंश, साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य, पृ. 214

❑❑❑

शोधालेख

पाणिनिकालीन भारत की अवधारणा एवं समसामयिकता

❍ रंजन कुमार त्रिपाठी✡

संक्षिप्ति :

भारतीय ज्ञान-विज्ञान की समृद्ध परम्परा में वैदिक संहिताएँ, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक और उपनिषद् के पश्चात् षड्-वेदाङ्गों का अध्ययन महत्त्वपूर्ण माना गया हैं। इनमें परिगणित 'व्याकरणशास्त्र' का अध्ययन सबसे महत्त्वपूर्ण है; यथा- मुखं व्याकरणं स्मृतम्। संस्कृत भाषा में पाणिनि का व्याकरण सबसे प्रामाणिक एवं व्यवस्थित माना जाता है। इनके द्वारा रचित 'अष्टाध्यायी' के सूत्रों से अन्य भारतीय भाषाएँ भी समृद्ध हुई हैं। अष्टाध्यायी न केवल व्याकरणशास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ है अपितु इसमें तत्कालीन भारतीय समाज और संस्कृति का सम्पूर्ण चित्रण प्राप्त होता है। उस काल के भौगोलिक विस्तार, तत्कालीन सामाजिक परिवेश के विवेचन में विविध प्रकार के अन्न, वेशभूषा और रहन-सहन के अतिरिक्त नगर-जनपदों का भी उल्लेख हुआ हैं। आर्थिक संसाधनों में विभिन्न प्रकार के वृक्ष-वनस्पति, पशु-पक्षी तथा व्यापार-वाणिज्य में विभिन्न वस्तुओं का विनिमय एवं आहत सिक्कों में निष्क, सुवर्ण, विंशतिक, शाण, शतमान आदि की जानकारी प्राप्त होती है। पुरातात्विक स्थलों से जितने प्राचीन सिक्कें और मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं उनकी पहचान अष्टाध्यायी के सूत्रों से ही संभव हुई है। पाणिनि ने तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रमुख महामार्ग 'उत्तर पथ' का भी अष्टाध्यायी में उल्लेख किया है। उस समय कृषि कार्यों में बैल और गाय को महत्त्वपूर्ण घरेलू पशु के रूप में माना गया। वैदिककालीन शिक्षा संस्थाओं के नाम, शिक्षा-गुरु की परम्परा में आचार्य, प्रवक्ता, आख्याता, श्रोत्रिय और उपाध्याय आदि की विभिन्न श्रेणीयाँ विद्यमान थी। वेदादि अध्ययन करने वाले शिष्यों में माणव और अन्तेवासी संज्ञक विद्यार्थी होते थे। तत्कालीन समय में दार्शनिक चिन्तन की विभिन्न परिषदों का भी उल्लेख मिलता है। उनमें विषय अनुसन्धान के विविध व्याख्यान और शास्त्रार्थों का भी समय-समय पर आयोजन होता था। पाणिनि ने तत्कालीन भारतवर्ष के राजनैतिक जीवन और भारतीय इतिहास को समझने के लिए विभिन्न शिलालेख और मुद्राओं का वर्णन अष्टाध्यायी सूत्रों में हुआ हैं। तत्कालीन धार्मिक परिवेश का निरूपण करते हुए यज्ञीय कर्मकाण्ड तथा विभिन्न देवपूजन पद्धतियों का भी उल्लेख किया है। उसी दौरान प्राचीन यज्ञ-विधियों और नवीन भक्ति-प्रधान पूजा-पद्धतियों का प्रचार-प्रसार के साथ-साथ संस्कृत शब्दों के सस्वर पाठ भी यज्ञों में प्रचलित थे। वस्तुतः पाणिनिकालीन समय भारतवर्ष के लिए विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोण से संक्रान्ति का युग था। इसका प्रमाण अष्टाध्यायी के सूत्र 'अस्ति

✡ *प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली। ईमेल :* drrktripathi09@gmail.com

नास्ति दिष्टं मतिः' से प्राप्त होता है। तत्कालीन भारतवर्ष की शासन व्यवस्था में एकराज, जनपद और संघ राज्य के बारे में भी जानकारी प्राप्त होती है। उस समय की शासन व्यवस्था में संघ का आदर्श सर्वोपरि माना जाता था। जनपद युग में ही कृषि और आर्थिक क्षेत्र में अभूतपूर्व वृद्धि हुई थी। अष्टाध्यायी में 50 से अधिक तत्कालीन संघों के नाम प्राप्त होते हैं। पाणिनि ने उनका प्रशासनिक वर्गीकरण करते हुए गण, आयुधजीवी संघ, पर्वताश्रयी संघ, श्रेणी, पूग, व्रात और ग्रामणीय संघों के रूप में प्रस्तुत किया हैं। उस काल में इन राजनैतिक संघों के साथ-साथ जनपद राज्यों का देशकाल से भी व्यापक अर्थ में प्रयोग माना गया था। क्योंकि इनमें भारतीय संस्कृति की मूल प्रतिष्ठा और राष्ट्रीय एकता का विकास अविरल रूप से होता आया है। अष्टाध्यायी में संस्कृत भाषा के व्याकरण के साथ ही तत्कालीन सामाजिक शिष्टाचार एवं लोक-व्यवहार का भी विशद् विवेचन प्राप्त होता है। वस्तुतः संस्कृत भाषा अपनी प्रभावशीलता के कारण ही उस समय सम्पूर्ण राष्ट्र को एक सांस्कृतिक सूत्र में आबद्ध किये हुए थी। तत्कालीन समय में संस्कृत की प्राच्य और उदीच्य नामक दो बोलियाँ समाज में बहुत प्रचलित थी। पाणिनि से पूर्व ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद् साहित्य, श्रोतसूत्र, गृह्यसूत्र, षड्वेदांग, प्रातिशाख्य ग्रन्थ, रामायण और महाभारत आदि काव्यों की रचनाएँ हो चुकी थी। कालान्तर में संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत, पालि और अन्य लोक भाषाओं में कला एवं साहित्य का व्यापक विस्तार हुआ था। वर्तमान में भारतवर्ष की जिन सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों के दर्शन होते हैं; इसमें रहन-सहन, व्यापार के आर्थिक साधन एवं शिक्षा व्यवस्था तथा खान-पान की विभिन्न स्थितियों का विवेचन पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी प्राप्त होता है।

प्रस्तुत शोधपत्र का उद्देश्य पाणिनिकालीन भारतीय संस्कृति के विविध पहलूओं एवं उनकी वर्तमान समसामयिकता पर प्रकाश डालते हुए प्राचीन गौरवशाली परम्परा का संरक्षण एवं संवर्धन के बारे में जनमानस को अवगत कराना है।

बीज शब्द : अष्टाध्यायी, सामाजिक परिवेश, आर्थिक परिदृश्य, शिक्षा एवं साहित्य, धार्मिक स्थिति और शासन प्रणाली।

शोधोद्देश्य : इस शोध-पत्र का मुख्य उद्देश्य पाणिनिकालीन भारतवर्ष की सामाजिक स्थिति, अर्थव्यवस्था, शिक्षा, साहित्य एवं कला, धार्मिक परिवेश और राजनैतिक अवधारणाओं का समकालीन दृष्टिकोण से विवेचन करना है। इसके अतिरिक्त तत्कालीन समय के उपलब्ध ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर आधुनिक युग की विभिन्न चुनौतियों का समाधान करके राष्ट्र को विकसित बनाना हैं।

शोध प्रविधि : प्रस्तुत शोध-पत्र में तुलनात्मक पद्धति को आधार बनाकर पाणिनिकालीन भारतवर्ष का ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करना है।

प्राचीनकाल से भारतीय संस्कृति में वेदों को सर्वोच्च माना गया है। क्योंकि वेद समस्त ज्ञान-विज्ञान के आदिस्रोत माने गये हैं। महर्षि पाणिनि ने वेद का अर्थ 'विद्-ज्ञाने' धातु से ज्ञानार्थक रूप में प्रयुक्त किया है। इस पर स्मृतिकार ने भी कहा- *भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिद्धयति।*[1] वस्तुतः वैदिक शब्दों का विश्लेषण (व्युत्पत्ति) तथा समीक्षा करने के लिए ही व्याकरण का उद्‌भव हुआ है। इसलिए गुरुकुलों में वेदाध्ययन के लिए सर्वाधिक उपादेय वेदाङ्गों में व्याकरणशास्त्र को प्रमुख स्थान मिला था; यथा- *मुखं व्याकरणं स्मृतम्।*[2] व्याकरण में पाणिनि का पद-विज्ञान ही मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। पद वस्तुतः दो प्रकार के माने गये हैं- सुबन्त और तिङन्त। इनमें प्रातिपदिकों से सुबन्त और धातुओं से तिङन्त पद निष्पन्न होते हैं। इन सभी की प्रक्रिया अष्टाध्यायी में विस्तार से वर्णित है।[3] पदच्छेद के पश्चात् ही प्रातिशाख्य ग्रन्थों की रचना हुई। इनमें अधिकांश विद्वान् 'ऋक् प्रातिशाख्य' को सबसे प्राचीन मानते है। क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग

इसमें सर्वाधिक हुआ है। इसके अतिरिक्त कुछ प्रातिशाख्यों में संशोधन का क्रम पाणिनि के बाद भी चलता रहा। कुछ प्रामाणिक साक्ष्यों के अनुसार अष्टाध्यायी के प्रणेता पाणिनि का समय पाँचवी शताब्दी ई.पू. माना गया है।[4] उस समय भारत पर हूण, कुषाण के आक्रमण हो रहे थे। इसके फलस्वरूप भारतीय राजनीति के साथ-साथ सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्था में भी परिवर्तन होने आरम्भ हो गये थे। पाणिनि ने अष्टाध्यायी को कुल आठ अध्यायों में तथा उनके भी चार-चार पाद किये हैं। इनमें 3981 सूत्र हैं तथा 14 प्रत्याहार सूत्र भी शामिल कर लिया जाए तो इनकी कुल सूत्रों की संख्या 3995 हो जाती हैं।[5] इन सूत्रों पर प्रामाणिक 'काशिका वृत्ति' उपलब्ध है। इसके माध्यम से ही पाणिनि-सूत्रों के अर्थ, उदाहरण और प्रत्युदाहरणों को आसानी से समझा जा सकता हैं। वाल्मीकि रामायण के अनुसार प्राचीन व्याकरणशास्त्र की नौ शाखाएँ विद्यमान थी, उनमें एक पाणिनि शाखा भी थी। महर्षि वाल्मीकि वस्तुतः पाणिनि के पूर्ववर्ती थे। अतः रामायण में अपाणिनीय प्रयोगों की प्रचुरता दिखाई देती है। महर्षि पाणिनि के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' के सूत्रों का अध्ययन करने पर तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिदृश्य का आकलन सम्भव होता है। आचार्यों ने सूत्र का लक्षण इस प्रकार किया है-

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतो मुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ।।[6]

अर्थात् जिस ग्रन्थ में कम से कम अक्षर हों तथा उनका अर्थ पूर्णतः स्पष्ट हों और जिसमें केवल सारतत्त्व का ही विवेचन किया गया हो तथा उन्हें सर्वत्र उदाहरण के तौर पर उपयोग किया जाता हो, उसे सूत्रविदों ने 'सूत्र' कहा है। कालान्तर में इन सूत्रों पर भाष्य, टीका एवं प्रकरण इत्यादि ग्रन्थ लिखे गये हैं। इस शास्त्र के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य वेदों के मूल पाठ को समझना और उन्हें संरक्षित करना रहा था। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में लौकिक शब्दों के साथ-साथ वैदिक शब्दों का भी सम्यक् अनुशासन किया है।

पाणिनिकालीन भूगोल एवं सामाजिक परिवेश :

पाणिनि की अष्टाध्यायी में वर्णित भौगोलिक सामग्री तत्कालीन भारतवर्ष के इतिहास को समझने के लिए बहुत उपयोगी है। उस समय के भारतवर्ष के भौगोलिक विवेचन में पाणिनि ने अष्टाध्यायी में देश, पर्वत, समुद्र, वन, नदियों, प्रदेश, जनपदों, नगर और ग्राम आदि से सम्बन्धित विभिन्न नामों का उल्लेख किया है। एक प्राचीन नगरी कापिशी[7] का उल्लेख हुआ है जो काबुल के उत्तर-पश्चिम विद्यमान थी। इसके भी उत्तर दिशा में कम्बोज जनपद था। तत्कालीन भारतवर्ष में तक्षशिला के दक्षिण-पूर्व में मद्र जनपद था जिसकी राजधानी शाकल थी जो वर्तमान का स्यालकोट है। तक्षशिला से काबुल तक का भूभाग गन्धार कहलाता था। तत्कालीन भारतवर्ष में सिन्धु नदी से शतद्रु नदी के बीच का भूभाग 'वाहिक' प्रदेश कहलाता था। यें गन्धार और वाहिक प्रदेश मिलकर ही उदीच्य कहलाते थे।[8] मद्र जनपद के दक्षिण में उशीनगर[9] और शिबि जनपद विद्यमान थे। वर्तमान पंजाब के दक्षिण-पूर्व में थानेश्वर, कैथल, करनाल और पानीपत का भूभाग 'भरत' जनपद कहलाता था जहाँ वर्तमान कुरुक्षेत्र है। इसी जनपद का अन्य नाम प्राच्य भरत भी था। इसी भूभाग से तत्कालीन भारतवर्ष की उदीच्य और प्राच्य सीमाएँ मानी गई थी। इनके अतिरिक्त अष्टाध्यायी में कुरु जनपद, पञ्चाल जनपद, कोसल, काशी और पूर्व में मगध जनपद का भी उल्लेख किया हैं। भारतवर्ष के पश्चिम में समुद्र के तटवर्ती कच्छ जनपद के साथ-साथ दक्षिण में गोदावरी के तटवर्ती अश्मक जनपद का भी अष्टाध्यायी में उल्लेख हुआ है। इनके अलावा पाणिनि की अष्टाध्यायी में अनेक प्रकार के अन्न एवं विविध प्रकार की बोलियों के साथ-साथ तत्कालीन रहन-सहन की विशद् जानकारी प्राप्त होती है। किसी भी राष्ट्र की भाषा और लोक में सदैव घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। पाणिनि के काल में संस्कृत भाषा का व्यापक विस्तार हुआ था। पाणिनि भारत के भौगोलिक भू-भाग

से सम्यक् रूप से परिचित थे। इस आर्यावर्त भारतवर्ष की भौगोलिक अवस्थिति का वर्णन विष्णुपुराण में इस प्रकार हुआ है; यथा–

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चौव दक्षिणम् ।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः ।।[10]

अर्थात् जो विशाल जलराशि से युक्त समुद्र के उत्तर में और हिमालय पर्वत के दक्षिण में स्थित राष्ट्र है, उसका नाम 'भारत' है और उसमें निवास करने वाले लोग भारतीय हैं। पाणिनि ने भारतवर्ष की भौगोलिक अवस्थिति के विवेचन के साथ–साथ तत्कालीन सामाजिक परिवेश में प्रयुक्त लोक प्रचलित विभिन्न शब्दों का सूक्ष्मता से अध्ययन कर अष्टाध्यायी में उनका उल्लेख किया हैं।[11] जिसप्रकार प्राचीनकाल में बहुप्रचलित भाषा भी बाद में धीरे–धीरे एक स्मारिका के रूप में अंकित हो जाती है। जो पुरातात्त्विक अवशेषों के माध्यम से तत्कालीन संस्कृति पर प्रकाश डालती है। तत्कालीन समाज में वर्ण और आश्रम व्यवस्था विद्यमान थी। समाज में कहीं–कहीं गोत्र तथा चरणों का भी प्रचलन था जो वर्तमान में जाति शब्द से अभिप्रेत होता है; जैसे खत्री, अरोड़ा, हंस, अग्रवाल आदि हैं। इसीप्रकार पाणिनि ने अष्टाध्यायी में सावित्री पुत्रों का भी उल्लेख किया है; यथा, *दामन्यादित्रिगर्तषष्ठाच्छः*।[12] तत्कालीन भारत में सावित्री पुत्रों के सौ घराने विद्यमान थे, इसका महाभारत में भी उल्लेख हुआ है।[13] इसीप्रकार मद्रों के भी सौ घराने पृथक्–पृथक् होकर मालव पुत्र के नाम से विख्यात हुए। संभवतः यें मालव पुत्र ही वर्तमान में मल्होत्रा कहलाते हैं। चातुर्वण्य व्यवस्था में पाणिनि ने ब्रह्मन् शब्द तत्कालीन ब्रह्मणोचित आध्यात्मिक गुण विशेष के लिए और ब्राह्मण शब्द उस विद्या में पारंगत के लिए प्रयुक्त किया है। इसीप्रकार क्षत्रिय वर्ण का भी विवेचन किया है।

वैश्य वर्ण के लिए अष्टाध्यायी में 'अर्य' पद का उल्लेख किया है; यथा, *अर्यः स्वामिवैश्ययोः* ।[14] पाणिनि ने तत्कालीन भारतीय समाज में परम्परागत व्यवसाय करने वाले चतुर्थ वर्ण के विवेचन में बढ़ई, लोहार, बुनकर, धोबी, तक्षा, अयस्कर, तन्तुवाय, कुम्भकार और रजक आदि जातियों का अष्टाध्यायी में उल्लेख किया है। आश्रम व्यवस्था के विवेचन में ब्रह्मचर्य आश्रम का विस्तार से विवेचन किया है। तत्कालीन समय गुरुकुल में विद्याध्ययन करने वाले ब्रह्मचारी के लिए 'वर्णी' शब्द होता था; यथा, *वर्णाद्ब्रह्मचारिणि* ।[15] गुरुकुल में विद्या आरम्भ से पूर्व आचार्य ब्रह्मचारी का विधिवत् उपनयन करते थे। पाणिनि के समय ब्रह्मचारी के दो प्रकार थे – माणव और अन्तेवासी; यथा, *गोत्रान्तेवासिमाणवब्राह्मणेषु क्षेपे* ।[16] पाणिनि ने अष्टाध्यायी में विद्या प्राप्ति की प्राथमिक अवस्था को 'दण्ड–माणव' शब्द का उल्लेख किया है। तत्कालीन आश्रम व्यवस्था में विद्या समाप्ति के पश्चात् गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होने वाले व्यक्ति को 'गृहपति' कहा गया था। क्योंकि विवाह संस्कार में प्रज्ज्वलित होने वाली अग्नि 'गार्हपत्य' कहलाती है और गृहपति उसमें संयुक्त रहता है; यथा, *गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः*।[17] विवाह के समय यज्ञ में पति के साथ विधिपूर्वक शामिल होने के कारण ही स्त्री की पत्नि संज्ञा होती है; यथा, *पत्युर्नो यज्ञसंयोगे*।[18] प्राचीनकाल से ही स्त्रियाँ सदैव अपने पति की पद–प्रतिष्ठा की अधिकारिणी रही हैं। पाणिनि के समय में जनपदों का सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक दृष्टिकोण से बहुत महत्त्व था। भारतीय इतिहास में इसे महाजनपद युग भी कहा गया है, क्योंकि उस काल में प्रत्येक व्यक्ति के सामाजिक जीवन में गोत्र, शिक्षा के क्षेत्र में चरण और राजनैतिक जीवन में जनपदों का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। अष्टाध्यायी में इन तीनों सामाजिक संस्थाओं का विस्तार से उल्लेख प्राप्त होता है। अष्टाध्यायी में वर्णित विभिन्न गोत्रों का संग्रह तत्कालीन भारतीय समाज की वास्तविक अवस्था का द्योतक था। तत्कालीन सामाजिक संगठन में कौनसा व्यक्ति गार्ग्य और कौन गार्गायण होता था, इसका सामाजिक दृष्टिकोण से बहुत महत्त्व था। जैसे गर्ग गोत्र में उत्पन्न गार्ग्य कहलाता था और उस गार्ग्य के पुत्र, पौत्रादि गार्ग्यायण की संज्ञा धारण करते थे। इसीप्रकार तत्कालीन समाज में परिवार की एक संज्ञा 'कुल'

थी जिसे सर्वोच्च माना गया था । उस काल में प्रतिष्ठित और यशस्वी कुल 'महाकुल' कहलाते थे । महाभारत में महाकुल के विषय में संवाद करते हुए राजा धृतराष्ट्र ने विदुर से कहा की देवता भी महाकुल को चाहते हैं; यथा,

महाकुलानां स्पृहयन्ति देवा धर्मार्थवृद्धाश्च बहुश्रुताश्च ।
पृच्छामि त्वां विदुर प्रश्नमेतं भवन्ति वै कानि महाकुलानि ।।
तमो दमो ब्रह्मवित्त्वं वितानाः पुण्या विवाहाः सततान्नदानम् ।
येष्वेवैते सप्तगुणा भवन्ति सम्यग् वृत्तास्तानि महाकुलानि ।।[19]

अर्थात् जिनमें तप, दम, ब्रह्मज्ञान, यज्ञ, पुण्य विवाह, सदैव अन्नदान और सम्यक् आचार हों, वे महाकुल कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त तत्कालीन समय में वंश परम्परा भी बहुत प्रचलित थी। इनमें गुरु-शिष्य के रूप में विद्या वंश और रक्त सम्बन्ध में मातृवंश तथा पितृवंश का उल्लेख अष्टाध्यायी में हुआ है; यथा, *विद्यायोनिसंबन्धेभ्यो वुञ्* ।[20] पाणिनि ने खाद्यान्न के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सामग्रियों का उल्लेख किया हैं। उस समय चावल ही मुख्य अन्न था। तत्कालीन समय में दैनिक श्रम करने वाले मजदूरों को भी वेतन के रूप में भोजन दिया जाता था। इनके अतिरिक्त अष्टाध्यायी में कई प्रकार के धान्यों का भी उल्लेख हुआ हैं। जिसमें शालि, महाव्रीहि, यवक और निवार प्रमुख हैं।[21] दालों में मुद्ग, माष और कुलत्थ का उल्लेख किया हैं।

पाणिनि ने कई प्रकार के प्राकृतिक मिष्ठान्न का भी उल्लेख किया हैं। जिसमें छोटी मधुमक्खियों द्वारा संग्रहित किया हुआ मधु 'क्षौद्र' प्रमुख था जो शहद कहलाता है। इसके अतिरिक्त अष्टाध्यायी में गन्ने के बड़े-बड़े खेतों का भी उल्लेख हुआ हैं। जिन्हें इक्षुवण कहा गया हैं। इनके रस से ही गुड़ और शर्करा निर्मित होती है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में विभिन्न प्रकार के शाक और सूप का भी उल्लेख किया है।[22] तत्कालीन समय में फलों के रूप में आम्र और जम्बू प्रसिद्ध थे। अष्टाध्यायी में नाना प्रकार की ओषधियों और रोगों से सम्बन्धित शब्दों का उल्लेख हुआ हैं। प्राकृतिक जड़ी-बूटियों से निर्मित दवा 'औषध' कहलाती थी; यथा, *ओषधेरजातौ।*[23] पाणिनि ने अष्टाध्यायी में विभिन्न ऋतुओं में होने वाले त्रिदोष जनित रोगों का उल्लेख करते हुए उनकी चिकित्सा पद्धति का भी विस्तार से विवेचन किया है। पाणिनिकालीन भारत में रेशमी और ऊनी वस्त्रों का अधिक प्रचलन था। तत्कालीन भारत के नगरों में जनमानस के निवास स्थानों को राजसभा, शाला और कोष्ठागार कहा गया हैं। पाणिनि ने अध्ययन करने वाले छात्रों के निवास स्थान को 'छात्रिशाला' कहा है। कालान्तर में गौ आदि पशुओं को बाँधनें की जगह को भी शाला कहा जाने लगा; जैसे, गौशाला आदि। इसका अष्टाध्यायी में पाणिनि ने उल्लेख किया है।[24] तत्कालीन भारतवर्ष के प्रसिद्ध नगरों में तक्षशिला, शाकल, इंद्रप्रस्थ और हस्तिनापुर का भी अष्टाध्यायी में उल्लेख हुआ है। इन नगरों के निर्माण में नियत भूमि, परिखा, प्राकार, राजप्रासाद, गोपुर एवं वीथी इत्यादि का स्थान कहाँ होना चाहिए। इनका पहले सूत्र द्वारा मापन किया जाता था।[25]

तत्कालीन भारतवर्ष के प्रसिद्ध नगरों की सुरक्षा के लिए परिखा, प्राकार और द्वार होते थे। पाणिनि के समय प्रत्येक द्वार का नामकरण भी उसी आधार पर रखा जाता था जिस नगर की ओर वह मार्ग जाता था। जैसे माथुरं कान्यकुब्जद्वारम् अर्थात् कनौज नगर का वह द्वार जहाँ से मथुरा की ओर मार्ग जाता था। पाणिनि ने तत्कालीन यातायात के साधनों में शकट और रथ का उल्लेख किया है जो सवारी, कृषि उपज तथा माल ढोने में प्रयुक्त होते थे। रथ का उपयोग सेना में भी होता था; यथा, *द्वंद्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्* ।[26] इस पर काशिकाकार ने 'रथिकाश्वारोहम्' शब्द का प्रयोग किया है। अष्टाध्यायी में विविध क्रीड़ाओं का उल्लेख हुआ हैं, उनमें मल्लयुद्ध, प्रहरण क्रीड़ा, अक्षक्रीड़ा, उद्यान क्रीड़ा और समज्या या संगोष्ठी हैं। ये सभी तत्कालीन सामाजिक मनोविनोद के साधन थे। पाणिनिकाल में आयुध शास्त्रों को लेकर अखाड़े में कौशल प्रदर्शित किया जाता था।

क्रीड़ा का नामकरण आयुध के नाम से ही रखा जाता था जिसका कौशल प्रदर्शन वहाँ होता था; यथा, *तदस्यां प्रहरणमिति क्रीडायाम् णः*।[27] तत्कालीन भारतवर्ष में संगीत और वाद्यकर्म को 'शिल्प' माना जाता था। यह वर्तमान में ललित कला के नाम से सुप्रसिद्ध है। इसके पश्चात् पाणिनि ने अष्टाध्यायी में काल विभाग करते हुए उसे अहोरात्र, पक्ष, मास, षण्मास, वर्ष, अयन आदि का भी उल्लेख किया है। भारतवर्ष में दिन की शुरुआत सूर्योदय से मानी जाती है और इसमें दिन के बाद रात्रि की गणना की गई है। पाणिनि ने भारतीय काल गणना में वर्ष के अन्तिम दिवस के लिए 'संवत्सरतम' शब्द का प्रयोग किया है; यथा, *नित्यं शतादिमासार्धमाससंवत्सराच्च*।[28] पाणिनि के समय ज्योतिषीय नक्षत्र विशेष में जन्म लेने वाले मनुष्य का नाम रखने की परम्परा का उल्लेख भी हुआ है। जैसे रोहिणी नक्षत्र में जन्मा हुआ व्यक्ति रोहिण कहलाता था। इसप्रकार पाणिनि ने सामाजिक परिवेश के विवेचन में प्रयुक्त तत्कालीन लोक प्रचलित विभिन्न शब्दों का अष्टाध्यायी में उल्लेख किया है।

अष्टाध्यायी में वर्णित अर्थव्यवस्था :

पाणिनिकालीन भारतवर्ष की आर्थिक स्थितियों के विवेचन में कृषि, वाणिज्य और पशुपालन ही लोगों की जीविका के मुख्य साधन थे। उस समय कृषि योग्य भूमि विभिन्न क्षेत्रों में बटी हुई थी क्योंकि खेत अलग-अलग फसलें बोनें के काम आते थे। खेतों के निश्चित विभाजन से यह ज्ञात होता है की उस समय कृषि योग्य भूमि का नामजोख का प्रबन्ध प्रचलित था। इन खेतों के नामजोख करने वाले अधिकारी को 'क्षेत्रकर' अधिकारी कहा जाता था।[29] पाणिनि के समय खेती के उपकरण में हल शब्द बहुत प्रचलन में था। आकार में बड़ा हल 'हलि' कहलाता था जो जित्य भी कहा गया है; यथा, *विपूयविनीयजित्या मुञ्जकल्कहलिषु* ।[30] जित्य हल का उपयोग संभवतः प्राकृतिक भूमि को कृषि योग्य बनाने में किया जाता था। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में हल चलाने वाले बैलों को हालिक या सैरिक कहा हैं। तत्कालीन समय में कुओं से कृषि योग्य भूमि की सिंचाई बैलों द्वारा की जाती थी। इसके अतिरिक्त पाणिनि ने सिंचाई के लिए छोटी-बड़ी नदियों का भी उल्लेख किया हैं। पाणिनि के समय वर्ष में तीन फसलें बोई जाती थी। फसलें खाद्यान्न के साथ-साथ आय के स्रोत भी थी। तत्कालीन समय में धान्य में मुख्य रूप से व्रीही, शालि, महाव्रीही, जौ (यव), मूँग, माष, तिल, अणु और कुलत्थ का उल्लेख हुआ हैं।[31] इसके अलावा धान्य के प्रकरण में उमा (अलसी) और भंगा (भांग) के खेतों का भी उल्लेख प्राप्त होता हैं। उस समय ईख की नियमित खेती होती थी इसके लिए बड़े-बड़े खेतों का भी उल्लेख हुआ हैं। पशु-पक्षियों के लिए पाणिनि ने अष्टाध्यायी में हस्ती, उष्ट्र, खर, अज, मृग, सिंह, व्याघ्र, वृक, बिडाल और श्वान का उल्लेख हुआ हैं। तत्कालीन समय में गाय और बैल के लिए धेन्वनडुह शब्द प्रयुक्त होता था। बैल की आयु का अनुमान उसके दांत देखकर किया जाता था। पक्षियों के लिए उस समय चटका, मयूर, कुक्कुट, श्येन का वर्णन किया हैं। इसके अतिरिक्त क्षुद्र जन्तुओं में नकुल, गोधा, अहि, भ्रमर, चींटी के साथ-साथ जलचरों में नक्र और मत्स्य आदि का नामोल्लेख किया है।

पाणिनि ने तत्कालीन समय में हाथ से शिल्प या उद्योग करने वाले के लिए 'कारि' शब्द का उल्लेख किया है। काशिका में 'कारि' का अर्थ कारू किया है जो चारुशिल्पी और कारुशिल्पी इन दोनों के लिए प्रयुक्त होता था। अष्टाध्यायी में नर्तक, गायन और वादक की साधना करने वाले को भी शिल्प ही कहा जाता था; यथा, *पाणिघताडघौ शिल्पिनि*।[32] वर्तमान में यही ललित कला के रूप में प्रसिद्ध हैं। पाणिनि ने शिल्पियों के भेद के अनुसार ग्रामशिल्पी[33] एवं ग्रामतक्षा और कुलाल का उल्लेख किया हैं।[34] इनमें तन्तुवाय, कर्मार (लोहार), चर्मकार, सुवर्णकार और कुम्भकार आदि शिल्पी थे। क्योंकि शिल्प जानने वाले कारीगर ही शिल्पी या कारि कहलाते थे। पाणिनि ने तत्कालीन समय में कुशल शिल्पियों को राजशिल्पी कहा हैं । इन शिल्पियों के कार्य करने का मुख्य उद्देश्य जीविकोपार्जन करना रहा है। शिल्पियों को मिलने वाला द्रव्य विशेष वेतन कहलाता था। इसी प्रकार

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में कर्मकर शब्द का भी उल्लेख किया है जो किसी विशेष प्रकार का शिल्प तो नहीं जानते थे लेकिन शारीरिक मेहनत जरूर करते थे, उन्हें कर्मकर (मजदूर) कहा गया हैं। जैसे खेतिहर मजदूर आदि को उस समय दैनिक वेतन के रूप में भोजन और वस्त्र दिया जाता था। पाणिनि ने तत्कालीन भारतवर्ष में होने वाले वाले व्यापार-वाणिज्य का अनेक सूत्रों में उल्लेख किया है। सामान्यत: व्यापार-वाणिज्य के लिए 'व्यवहार' शब्द बहुत प्रचलित था। इसमें वस्तुओं का आयात-निर्यात सम्बन्धी व्यापक व्यापार और स्थानीय क्रय-विक्रय के लिए 'पण' शब्द प्रचलित था। वाणिज्य में व्यापारियों के माल के आयात-निर्यात पर चुंगी देनी पड़ती थी जिसे व्यापार शुल्क कहा जाता था।

उसमें जितना शुल्क जिस माल पर देना पड़ता था, उसी आधार पर व्यवहार में उस माल का नाम हो जाता था। जैसे पञ्चक, वह माल जिस पर पाँच कार्षापण (चाँदी का सिक्का) चुंगी लगी हो। ऐसे ही सप्तक, सहस्त्रक आदि माल के नाम होते थे। जिस प्रकार वर्तमान में केन्द्रीय आयकर विभाग है उसी प्रकार तत्कालीन समय में चुंगीघर को शुल्कशाला कहा जाता था। पाणिनिकाल में शुल्कशाला राज्य की आय का मुख्य स्थान थी।[35] तत्कालीन समय में व्यापार के विभिन्न मार्गो का उल्लेख हुआ है; जैसे- वारिपथ, स्थलपथ, रथपथ, करिपथ, अजपथ, मेण्ढपथ और शंकुपथ आदि। इनमें शंकुपथ सबसे कठिन मार्ग होता था जो पहाड़ी मार्ग से होकर जाता था। प्राचीनकाल में विभिन्न व्यापार के मार्ग पर पथिकों के लिए विश्राम स्थलों का भी निर्माण किया जाता था। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में तत्कालीन व्यापार के लिए प्रसिद्ध महामार्ग 'उत्तर पथ' का उल्लेख किया है; यथा, *उत्तरपथेनाहृतं च* ।[36] यह महामार्ग वस्तुत: भारतवर्ष के पाटलिपुत्र, वाराणसी, साकेत, कौशाम्बी, मथुरा, शाकल, कापिशी और तक्षशिला आदि नगरों को जोड़ता हुआ बाह्लिक तक जाता था। तक्षशिला उस समय भारतवर्ष की मुख्य व्यापारिक नगरी थी।[37] पाणिनि के समय व्यापारिक क्रय-विक्रय में विभिन्न मुद्राएँ प्रचलित थी। उनमें 'निष्क' सुवर्ण मुद्रा के रूप में बहुत प्रसिद्ध थी। इस मुद्रा का उल्लेख महाभारत, जातक कथाओं में भी प्राप्त होता है; यथा, *असमासे निष्कादिभ्य:*।[38] इस प्रकार पाणिनिकालीन भारतवर्ष में सुवर्ण के सिक्कों के अतिरिक्त अन्य आहत मुद्राएँ भी प्रचलित थी जिनमें चाँदी, माष और तांबे की मुद्राओं का अष्टाध्यायी में उल्लेख हुआ हैं जो वस्तुओं के लेन-देन के आलावा दक्षिणा आदि में भी दी जाती थी। उस समय कृषि, वाणिज्य और गोपालन के साथ-साथ ब्याज पर ऋण उधार देना भी लोगों की जीविका का अंग था।[39] पाणिनि ने अष्टाध्यायी में न्याय्य सूद को वृद्धि एवं ब्याज की कड़ी दर को कुसीद कहा है जो तत्कालीन समाज में निन्दित माना जाता था; यथा, *कुसीददशैकादशात् ष्ठन्ष्ठचौ*।[40] पाणिनि ने कुसीद दर में दशैकादश नामक ऋण का उल्लेख किया है जिसमें ऋण के लेन-देन पर दस प्रतिशत ब्याज प्रति महीने देना होता था जो गर्ह्य माना गया। जितने समय बाद ऋण चुकाया जाता था, उसके अनुसार ही ऋण की वृद्धि होने से उसका नाम हो जाता था। जैसे वर्ष के अन्त में चुकाया जाने वाला ऋण सांवत्सरिक कहलाता था; यथा, *संवत्सराग्रहायणीभ्यां ठञ् च*।[41] इस प्रकार पाणिनिकालीन भारतवर्ष में कृषि, पशुपालन और वाणिज्य-व्यापार मुख्य व्यवसाय के रूप में विद्यमान था।

पाणिनिकालीन शिक्षा प्रणाली :

पाणिनि के समय संस्कृत नित्य व्यवहार में आने वाली बोलचाल की भाषा थी। क्योंकि पाणिनि ने तत्कालीन बोलचाल की भाषा को ध्यान में रखकर ही अष्टाध्यायी सूत्रों की रचना की है। उसमें पाणिनि ने सम्पूर्ण शब्द सामग्री का संकलन लोक से ही किया है। पाणिनि की लोक के प्रति अगाध आस्था थी, इसलिए उन्होंने तत्कालीन लोक में जितने प्रकार की वृत्तियाँ थी उनका व्याकरण की दृष्टि से सूक्ष्म ईक्षण किया है। पाणिनि का यह दृष्टिकोण महाभारत में वर्णित वैयाकरण जैसा ही है।

सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते ।
प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नर: ।।[42]

अर्थात् मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जिन शब्दों का नित्य व्यवहार होता हैं, उन शब्दों के अर्थों पर वैयाकरण को अवश्य विचार करना चाहिए। इस कार्य को आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी में विद्वत्तापूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है। पाणिनि के समय भारतवर्ष में शिक्षा का मूल आधार ब्रह्मचर्य प्रणाली थी। इसलिए पाणिनि ने मानव जीवन के महत्त्वपूर्ण आश्रम 'ब्रह्मचर्य' का विस्तार से विवेचन किया गया है। उस समय की शिक्षा प्रणाली में आन्तरिक जीवन निर्माण पर अधिक बल दिया जाता था।

पाणिनि के समय भारतवर्ष में 'तक्षशिला' प्रमुख विद्या केन्द के रूप में प्रसिद्ध था। गुरुकुल में शिष्य अपने गुरु से विद्या सम्बन्ध के रूप में घनिष्ठता से जुड़े होते थे; यथा, *विद्यायोनिसंबन्धेभ्यो वुञ्* ।[43] तत्कालीन समय में विद्या प्राप्ति की दृष्टि से दो प्रकार के छात्र थे जो माणवक और अन्तेवासी कहलाते थे। आरंभिक शिक्षा प्राप्त करने वाले को दण्ड माणवक कहा जाता था। जिनका अभी उपनयन संस्कार भी सम्पन्न नहीं हुआ हो। इसी प्रकार गुरुकुल में जिन छात्रों का उपनयन हो जाता था वे सभी छात्र अपने गुरु से विद्या सम्बन्ध के रूप में एक-दूसरे के लिए उपस्थानीय बन जाते थे।[44] आचार्य द्वारा तत्कालीन समय में वेदविद्या आरम्भ की अवस्था को प्राप्त शिष्य का उपनयन करना आचार्यकरण कहा जाता था। गुरु से विधिवत् उपनीत होने के बाद ब्रह्मचारी अजिन और कमण्डल धारण करता था। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली में अध्यापन कर्म में नियुक्त व्यक्ति के लिए पाणिनि ने आचार्य के अतिरिक्त प्रवक्ता, श्रोत्रिय और अध्यापक शब्द का उल्लेख किया है। इनमें आचार्य का सर्वोच्च स्थान था। क्योंकि आचार्य को ही शिष्य के उपनयन करने का अधिकार प्राप्त था। इसके पश्चात् वेदारम्भ की प्रक्रिया में जो शिक्षक शाखा ग्रन्थ, ब्राह्मण ग्रन्थ और श्रोतसूत्र आदि का प्रवचन करते थे उन्हें 'प्रवक्ता' कहा गया । इनमें छात्रों को वेद के साथ-साथ वेदांगों का अर्थ सहित अध्यापन इनका मुख्य कार्य था। वेद की विभिन्न शाखाओं को कंठस्थ कराने वाले विद्वान् 'श्रोत्रिय' कहलाते थे; यथा, *श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते* ।[45]

ये सभी छात्रों को संहिता, पद, क्रम, दण्ड और जटा आदि प्रचलित पाठों को कंठस्थ कराते थे। इसके अतिरिक्त पाणिनि ने वैज्ञानिक या लौकिक साहित्य का अध्यापन कराने वाले को अध्यापक कहा है जो माणवक आदि छात्रों की आरम्भिक कक्षाओं में भी अध्यापन करने का कार्य करते थे। इन्हें ही कालान्तर में उपाध्याय भी कहा जाने लगा।[46] पाणिनि के समय भारतीय समाज में स्त्रियों की उच्चशिक्षा में भागीदारी करने की सामान्य प्रथा विद्यमान थी और उनका सम्मानित स्थान भी था। क्योंकि तत्कालीन समय में स्त्रियाँ प्राय: मीमांसा और व्याकरण जैसे जटिल शास्त्रों का भी अध्ययन करती थी। अष्टाध्यायी में विभिन्न शास्त्रों का स्वयं अध्यापन कराने वाली स्त्रियों के लिए आचार्या पद का उल्लेख हुआ है।[47] पाणिनि के समय अध्ययन के प्रत्येक दिवस को अध्याय कहा जाता था और जिस दिन कोई अध्ययन कार्य नहीं होता उस दिवस को अनध्याय कहा है। तत्कालीन गुरुकुल शिक्षा में विद्या अध्ययन की समाप्ति समापन कहलाती थी; यथा, *समापनात् सपूर्वपदात्* ।[48] पाणिनिकालीन भारतवर्ष में शब्दविद्या की बहुत उन्नति हुई। पाणिनि ने रचना की दृष्टि से तत्कालीन साहित्य को इष्ट, प्रोक्त, उपज्ञात, कृत और व्याख्यान के रूप में विभाजित किया हैं। इनमें उपज्ञात साहित्य पाणिनि के युग की मुख्य विशेषता थी। पाणिनि के समय ग्रन्थ विशेष का नामकरण अध्यायों के अनुसार रखने की परम्परा थी; जैसे- अष्टक, अष्टाध्यायी आदि। पाणिनि के समय शिक्षा प्रणाली में ग्रन्थों का मौखिक पारायण के साथ-साथ लिपि ज्ञान भी आरम्भ हो गया था। इसके लिए अष्टाध्यायी में पाणिनि ने यवनानी लिपि का उल्लेख किया है।[49] इसके अतिरिक्त तत्कालीन शिक्षा में ऋग्वेद, मैत्रायणी संहिता, काठक संहिता, तैत्तिरीय संहिता, सामवेद और अथर्ववेद का भी उल्लेख किया है।[50]

अष्टाध्यायी में वर्णित धार्मिक परिवेश :

तत्कालीन भारतवर्ष की धार्मिक संस्कृति की विवेचना करते हुए पाणिनि ने धर्म के दो अर्थ किये हैं- एक परम्परा से प्राप्त आचार एवं सामाजिक रिवाज जो धर्मसूत्रों में विस्तार से विवेचित हैं। सूत्रकार ने दूसरा अर्थ

नीति सम्बन्धी धर्म के लिए प्रयुक्त किया है; यथा- *धर्मं चरति* (= धार्मिक:)।[51]

इसी प्रकार तत्कालीन समय में यज्ञ और देवपूजा प्रधान होने के कारण इनकी प्रर्याप्त सामग्री भी पाणिनि सूत्रों में प्राप्त होती है । जैसे ख्र यज्ञ, ऋत्विक, दक्षिणा और देवता तथा उनकी भक्ति आदि। पाणिनि ने यज्ञों से सम्बन्धित अध्ययन करने वाले को याज्ञिक कहा हैं। उस समय यज्ञ अनुष्ठान करने वाले सभी पुरोहित 'ऋत्विज्' कहलाते थे; यथा, *ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च* ।[52] पाणिनिकालीन समय में यज्ञ कर्मों को सम्पन्न करने में कुशल ऋत्विजों की संख्या सोलह मानी गई थी और उनके चार वर्ग प्रचलित थे। यज्ञ अनुष्ठान करने वाले ऋत्विजों को अन्त में दक्षिणा दी जाती थी। सम्बन्धित यज्ञ के अनुसार ही दक्षिणा का नामकरण होता था; यथा, *तस्य च दक्षिणा यज्ञाख्येभ्य:*।[53] जैसे- राजसूय यज्ञ में प्राप्त होने वाली दक्षिणा को राजसूयिकी, वाजपेय में प्राप्त होने वाली दक्षिणा को वाजपेयिनी तथा अग्निष्टोम यज्ञों में प्राप्त होने वाली दक्षिणा को अग्निष्टोमिकी कहा गया हैं। इसप्रकार प्राचीनकाल से प्रत्येक यज्ञ की सम्पूर्ति पर न्यूनतम मात्रा में कुछ दक्षिणा देना सामान्य लोक व्यवहार आज भी प्रचलित है।

पाणिनिकालीन शासन व्यवस्था :

पाणिनिकालीन भारतवर्ष के शासन तन्त्र के रूप में राज्य और संघ मुख्य थे। पाणिनि ने जिस शासन में राजा ही अधिपति हो उसे राज्यतन्त्र कहा है। इसका क्षेत्र जनपद तक ही सीमित तथा वहाँ का राजा पार्थिव कहलाता था।[54] अष्टाध्यायी में राजा के लिए भूपति शब्द का भी उल्लेख किया है। अनेक गणों से युक्त जनपदों को संघ कहा गया है जिनमें तत्कालीन शासन के अनेक अवान्तर भेद भी विद्यमान थे। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में लगभग चालीस संघों का उल्लेख किया हैं; जैसे- आयुधजीवी संघ, वार्ताशस्त्रोपजीवी संघ, शब्दोपजीवी संघ आदि। जिसमें आयुध से ही जीविका निर्वाह करने वाला आयुधीय कहलाता था। इनमें सिन्ध से कापिशी तक, कम्बोज और सुराष्ट्र मुख्य थे। तत्कालीन शासन में विभिन्न संघों के नामोल्लेख में सूत्रकार का विशेष उद्देश्य था। क्योंकि संघ के निवासियों में भाषिक व्यवहार के लिए अलग-अलग शब्द प्रयुक्त होते थे उनका व्याकरणिक दृष्टि से विश्लेषण करना पाणिनि का मुख्य प्रयोजन था। तत्कालीन शासन में राजा के साथ-साथ मंत्रिपरिषद् का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। राजा वस्तुत: मंत्रिपरिषद् की सलाह एवं परामर्श के अनुसार ही निर्णय करता था। पाणिनि ने मंत्रिपरिषद् में निर्धारित मन्त्रियों की संख्या का उल्लेख तो अष्टाध्यायी में नहीं किया, लेकिन आर्यब्राह्मण या मुख्यमन्त्री, पुरोहित, आर्यकुमार और सेनापति का उल्लेख जरूर किया है। मंत्रिपरिषद् के अतिरिक्त राज्य की बड़ी सभा राजसभा कहलाती थी; यथा, *सभा राजाऽमनुष्यपूर्वा* ।[55] राज्य की सुरक्षा के लिए पाणिनि ने सेना के चार अंगों का उल्लेख किया है जो तत्कालीन समय में बहुत प्रसिद्ध थे।

निष्कर्ष :

इस प्रकार पाणिनि का अष्टाध्यायी भारतीय शब्दविद्या का सबसे प्राचीन और प्रामाणिक ग्रन्थ माना गया है। इसमें पाणिनि ने समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुए तत्कालीन भारतीय संस्कृति की भौगोलिक, सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक, धार्मिक और राजनैतिक परिस्थितियों का सर्वांगपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है। इन्होंने अष्टाध्यायी के गणपाठ में गोत्र, चरण, शाखा, जनपद, नगर और ग्राम की अनेक सूचियों का विस्तार से उल्लेख किया हैं। इस प्रकार यह ऐतिहासिक अध्ययन वर्तमान युवा पीढ़ी के लिए 'भारतबोध' के मन्तव्य को साकार करने में अत्यन्त सहायक सिद्ध होगा।

सन्दर्भ :

1. मनुस्मृति - 12/97
2. पाणिनीय शिक्षा - 42

3. संस्कृत साहित्य का इतिहास, उमाशंकर शर्मा 'ऋषि', पृ. 560
4. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ. 464
5. वही, पृ. 27
6. पाराशर उपपुराण – 18/13
7. अष्टाध्यायी – 4/2/99
8. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ. 41
9. अष्टाध्यायी – 4/2/118
10. विष्णुपुराण – 3/1
11. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ. 88
12. अष्टाध्यायी – 5/3/116
13. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ. 90
14. अष्टाध्यायी – 3/1/103
15. वही, 5/2/134
16. वही, 6/2/69
17. वही, 4/4/90
18. वही, 4/1/33
19. महाभारत, 5/36/22-23
20. अष्टाध्यायी, 4/3/77
21. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ. 118
22. वही, पृ. 125
23. अष्टाध्यायी, 5/4/37
24. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ. 138
25. वही, पृ. 141
26. अष्टाध्यायी – 2/4/2
27. वही – 4/2/57
28. वही – 5/2/57
29. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ. 197
30. अष्टाध्यायी – 3/1/117
31. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ. 205
32. अष्टाध्यायी – 3/2/55
33. वही – 6/2/62
34. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ. 220
35. वही, पृ. 231
36. अष्टाध्यायी – 5/1/77
37. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ. 85
38. अष्टाध्यायी – 5/1/20
39. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ. 266

40. अष्टाध्यायी - 4/4/31
41. वही - 4/3/50
42. महाभारत - 5/43/36
43. अष्टाध्यायी - 4/3/77
44. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ. 273
45. अष्टाध्यायी - 5/2/84
46. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ. 274
47. वही, पृ. 99
48. अष्टाध्यायी - 5/1/112
49. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ. 303
50. वही, पृ. 310
51. अष्टाध्यायी - 4/4/41
52. वही, 3/2/59
53. वही, 5/1/95
54. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ. 384
55. अष्टाध्यायी - 2/4/23

❑❑❑

सत्राची फाउंडेशन, पटना

शोध, शिक्षा एवं प्रकाशन की समाजसेवी संस्था

यह संस्था –

– साहित्यिक सम्मान देती है।

– शोध पत्रिकाएँ प्रकाशित करती है।

– पुस्तकें प्रकाशित करती है।

– सेमिनार आयोजित करती है।

– राजभाषा/राष्ट्रभाषा सेवियों को प्रोत्साहित करती है।

– शोधकर्ताओं को स्तरीय शोध के लिए प्रोत्साहित करती है।

– नेट/जे.आर.एफ. के अभ्यर्थियों को निःशुल्क मार्गदर्शन देती है।

– हिन्दी साहित्य के शिक्षार्थियों को प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए तैयार करती है।